महापंडित राहुल सांकृत्यायन

राष्ट्रीय जीवन चरित

महापंडित राहुल सांकृत्यायन

(जीवन और कृतित्व)

गुणाकर मुले

एकः सूते सकलम्

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-0495-1

पहला संस्करण : 1993
पहली आवृत्ति : 1998 (*शक 1920*)

Mahapandit Rahul Sankrityayan *(Hindi)*

रु. 40.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क,
नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

अनुक्रम

प्राक्कथन

राहुलजी जैसे विराट व्यक्तित्व को, उनके जीवन और कृतित्व को, सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करना एक सहज सरल कार्य नहीं है — उनके लिए भी, जो उनके अति निकट रहे हैं। मैं राहुलजी के निकट नहीं रहा; उन्हें नजदीक से देखने-जानने के मौके मुझे चार-पांच ही मिले। मगर यह बात मैं काफी यकीन के साथ कह सकता हूं कि राहुलजी को उनके समग्र रूप में समझने-पहचानने के जैसे अवसर और साधन मुझे उपलब्ध हुए, वैसे मेरी पीढ़ी के बहुत कम लोगों को हुए हैं।

सन् 1949 की गर्मियों का एक दिन : मैं, चौदह साल का किशोर; अपने गांव से वर्धा पहुंचा,तो पहले ही दिन मुझे एक साथ तीन विभूतियों के दर्शन हुए—दो के उनके फोटो के रूप में, और एक के साक्षात। मैं भदंत आनंद कौसल्यायन के सामने खड़ा था : उनकी बाईं ओर की दीवार पर आचार्य धर्मानंद कोसंबी के 'अंत्यदर्शन' का फोटो-चित्र टंगा हुआ था, तो दाईं ओर की दीवार पर महापंडित राहुल सांकृत्यायन का। प्रायोपवेशन करके काष्ठवत बनी कोसंबीजी की वह निर्जीव काया मन में भयप्रद 'मृत्यु-दर्शन' का संचार कराती थी, तो प्रसिद्ध फोटोग्राफर सुनील जाना के कैमरे से उतारी गयी राहुलजी की वह भव्य छवि उत्साहप्रद 'जीवन-दर्शन' का!

उसी दिन से राहुल-पंथ की मेरी शिक्षा की शुरुआत हुई। आगे करीब दो साल तक शायद ही ऐसा कोई दिन बीता होगा जब, उपदेश या शिक्षा के तौर पर, 'जातक' की कोई कहानी या राहुलजी के जीवन की कोई घटना सुनने को न मिली हो। उस समय तक छपी राहुलजी की प्राय: सभी पुस्तकें वहां मौजूद थीं। मैं उन्हें पढ़ता गया, हालांकि उन्हें भलीभांति समझने के लिए हिंदी भाषा और विविध विषयों की जैसी समझ चाहिए थी वह उस समय मुझमें नहीं थी। मगर राहुलजी की पुस्तकों के प्रति मेरा लगाव कितना गहरा था, इसका एक सबूत आज भी मेरे पास मौजूद है-'मानव-समाज' को गोद में लिए हुए उस समय उतारा गया मेरा एक फोटो।

उसी 1949 के दिसंबर महीने के अंतिम दिनों में राहुलजी को पहली बार प्रत्यक्ष देखने का भी अवसर मिला—पहले, हिंदी साहित्य सम्मेलन के हैदराबाद अधिवेशन में, और फिर वर्धा में। अंतिम बार मैं उनसे 1957 में मिला, जब वे इलाहाबाद आये थे और अपने गणितज्ञ मित्र डा. बदरीनाथ प्रसाद के घर ठहरे थे। उस समय मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में गणित का विद्यार्थी था। सन् 1951 में मैं अपनी आगे

की पढ़ाई के लिए इलाहाबाद चला आया था। उसके पहले ही नागार्जुन वर्धा पहुंच गये थे; मुझे वर्धा की छोटी दुनिया से इलाहाबाद की बड़ी दुनिया में पहुंचा देने का रोल, जैसा भी वह रहा हो, नागार्जुन ने ही अदा किया था।

आनंदजी बताते थे कि 1928 में जब वे विद्यालंकार विहार (श्रीलंका) में थे और रोज शाम को राहुलजी के साथ टहलने जाते थे, तो ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व के बारे में दोनों में खूब बहस होती थी। मगर वर्धा पहुंचने पर अनीश्वरवादी, अनात्मवादी, अपुनर्जन्मवादी, साम्यवादी और बौद्ध-अनुरागी बनने में मुझे ज्यादा देर नहीं लगी, हालांकि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद-जैसे सिद्धांत उस समय मेरी समझ के बाहर की चीजें थीं।

मैं स्वयं तो राहुलजी के निकट संपर्क में नहीं रहा, परंतु जिनका राहुलजी के साथ बहुत निकट का संबंध रहा है, ऐसे कई व्यक्तियों के साथ मेरा काफी घनिष्ट संबंध रहा, और कुछ के साथ तो काफी आत्मीय भी। मुझे काठमांडू, कालिंपोङ् और केलानिया (श्रीलंका) जैसे उन दर्जनों स्थानों को भी देखने का मौका मिला जिनसे राहुलजी का गहरा सरोकार रहा है। मगर उनके विराट व्यक्तित्व की काफी सही पहचान मुझे उनके महाप्रयाण के बाद ही हुई—उनके द्वारा पीछे छोड़ी गई 'राहुल-संग्रहालय'' की सामग्री को देखने-पढ़ने के बाद। 1967 में मैं श्रीलंका गया था, तो उस समय आनंदजी ने मुझे राहुलजी द्वारा उन्हें लिखे गये (1943 से नवंबर 1961 तक के) सारे पत्र, और कुछ चित्र भी, सौंप दिये थे।

पिछले करीब दो दशकों में मैं अध्ययन व लेखन के अपने अन्य कामों में जुटा रहा। मगर 'राहुल-शताब्दी' का अवसर आया, तो मुझे मित्रों व परिचितों के अनुरोध पर राहुलजी के जीवन व कृतित्व के विविध पहलुओं पर कई लेख लिखने पड़े, और अंततः यह पुस्तक भी। जैसी बनी, आपके सामने है। मैं केवल इतना ही कहूंगा कि मैंने उस स्वयंभू महापंडित के जीवन व कृतित्व को समग्र रूप में प्रस्तुत करने की यथासामर्थ्य पूरी-पूरी कोशिश की है।

'अमरावती' —गुणाकर मुले
सी-210, पांडव नगर
दिल्ली- 110092

राहुलजी के गुरुबंधु और अनन्य मित्र
भदंत आनंद कौसल्यायन
(1905-1988 ई.)
की पुण्य स्मृति को
समर्पित

एक विराट व्यक्तित्व

सितंबर 1937 की बात है। राहुलजी दूसरी बार रूस जाने की तैयारी कर रहे थे और उसी सिलसिले में इलाहाबाद पहुंचे थे। वहां 6 सितंबर को विश्वविद्यालय के छात्रों के सामने उनका भाषण रखा गया। विषय था– "हमारी कमजोरियां" । सभापति थे– पं. जवाहरलाल नेहरू ।

उन दिनों राहुलजी बौद्ध भिक्षु के काषाय वस्त्रों में थे। वे तिब्बत की तीन यात्राएं कर चुके थे। इंग्लैंड और यूरोप घूम आये थे। जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत संघ और ईरान भी देख चुके थे। तब तक उनकी दो दर्जन से भी ज्यादा पुस्तकें छप चुकी थीं। तिब्बत के बौद्ध मठों में उन्होंने अनेक विलुप्त भारतीय ग्रंथों की खोज की थी। इसलिए विद्वज्जगत में उनका बड़ा सम्मान था।

राहुलजी अपने सामान्य बोल-बरताव में अत्यंत सौम्य और सहृदय थे। परंतु पुस्तकों, लेखों और भाषणों में वे अपने विचारों को अत्यंत प्रखर भाषा में व्यक्त किया करते थे, विशेषत: उन दिनों। उनकी "तुम्हारी क्षय", "भागो नहीं, दुनिया को बदलो", "घुमक्कड़-शास्त्र" जैसी कुछ पुस्तकें इसी कोटि की हैं।

उस दिन विश्वविद्यालय के छात्रों के सामने अपने भाषण में राहुलजी ने उन लोगों की खूब खबर ली जो सारा ज्ञान-विज्ञान पुरानी पोथियों में ही खोजा करते हैं। बोले– "ज्यादातर पुरानी पोथियों में 75 प्रतिशत तो बेवकूफियां ही बेवकूफियां भरी पड़ी हैं। हां, कहीं-कहीं अकल की बातें भी हैं।"

राहुलजी का भाषण समाप्त होने पर सभापति की हैसियत से नेहरूजी ने बोलना शुरू किया– आज मैं दो बातें सोच रहा हूं। पहली, राहुलजी की तरह के चिंतक हमारे विश्वविद्यालयों में क्यों नहीं पैदा होते? दूसरी, यदि मेरे जैसा आदमी यह सब कहता, तो आप कहते कि तुम क्या जानते हो पुरानी किताबों की बातें। मगर आज तो ऐसा आदमी यह सब कह रहा है, जो पुरानी किताबों में ही तैरता रहता है।

राहुलजी के प्रखर भाषण से कुछ छात्र निश्चय ही तिलमिला गये होंगे। नेहरूजी के भाषण ने आग में घी डालने का काम किया। एक विद्यार्थी बोल ही पड़ा– तैरते ही रहे हैं, पार नहीं पाया है!

पंडितजी अपनी प्रत्युत्पन्नमति के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। तपाक से जवाब दिया– हां, जो लोग कुओं में तैरते हैं, वे मेंढ़कों की तरह इस पार से उस पार भी चले जाते हैं। मगर जो सागर में तैरते हैं, वे तैरते ही रहते हैं, वे आर-पार नहीं जाते।

सचमुच, राहुलजी सतत तैरते ही रहे– एक ज्ञान-सागर से दूसरे ज्ञान-सागर, दूसरे से तीसरे ज्ञान-सागर .....। और ये सागर थे– संस्कृत और अपभ्रंश के, तिब्बती और जनपदीय बोलियों के, बौद्ध धर्म से संबंधित पालि और संस्कृत साहित्य के, इतिहास और पुरातत्व के, पारिभाषिक-शब्दावली के। अनवरत ज्ञान-साधना करते हुए वे कभी दुर्गम भूखंडों में विचरते रहे, तो कभी जेल की कोठरियों में बंद रहे।

राहुलजी को जीवन में ठहराव बिलकुल पसंद नहीं था। वे अपने विचार बदलते रहे, चोला बदलते रहे, दो बार नाम भी बदले। बुद्ध का यह वचन उन्हें बड़ा प्रिय था– "नौका की तरह पार उतरने के लिए मैंने विचारों को स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाए-उठाए फिरने के लिए।" यही वजह है कि वे बड़ी सहजता से बैरागी साधु से आर्यसमाज के प्रचारक बने, और फिर बौद्ध भिक्षु बने। बौद्ध भिक्षु के वस्त्र त्यागकर गृहस्थ बनने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। उसी तरह, बौद्ध संस्कृति के प्रति भरपूर श्रद्धा कायम रखते हुए भी वे साम्यवाद के पुरजोर समर्थक रहे।

राहुलजी का जीवन यायावरी की एक लंबी महागाथा है। उनका लगभग समूचा जीवन एक महायात्री का जीवन रहा है। इसीलिए उन्होंने अपनी आत्मकथा को "मेरी जीवन-यात्रा" का नाम दिया। वस्तुतः राहुलजी के समस्त कृतित्व को, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, अनुप्राणित करने वाला प्रमुख तत्व है, उनका घुमक्कड़ी का जीवन।

राहुलजी स्वयं में एक पूरी संस्था थे, चलता-फिरता विश्वकोश थे। उन्होंने अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखीं: इतिहास और पुरातत्व। राजनीति और समाजशास्त्र। दर्शन और विज्ञान। धर्म और संस्कृति। जीवनी और यात्रा-वृत्तांत। आलोचना और साहित्य का इतिहास। स्वयं-शिक्षक और कोश। अनुवाद और संपादन-कार्य........

राहुलजी के छोटे-बड़े सभी तरह के ग्रंथों की संख्या 140 के आसपास पहुंचती है।

राहुलजी के इस बहु-आयामी व्यक्तित्व और कृतित्व को जानकर हम विस्मयचकित रह जाते हैं। सोचते हैं– एक व्यक्ति के लिए इतनी सारी यात्राएं, इतना गहन अध्ययन-अन्वेषण और विविध विषयों पर इतना व्यापक लेखन कैसे संभव हुआ? जिसने जैसे-तैसे केवल मिडल क्लास तक ही नियमित शिक्षा प्राप्त की हो, वह पांडित्य के इतने ऊंचे शिखर पर कैसे पहुंच गया?

समझना ज्यादा कठिन नहीं है। राहुलजी के जीवन में रहस्यमय जैसा कुछ नहीं था। उनमें प्रतिभा थी, तीव्र ज्ञानपिपासा थी और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अथक परिश्रम करने की अपूर्व क्षमता थी। खूब तेजी से काम करना उन्हें पसंद था। तरुणाई के दिनों में अपनी जीवन-चर्या के बारे में वे कभी-कभी कहते भी थे– "मैं सेकंडों का तो नहीं, मगर अपने मिनटों का हिसाब अवश्य दे सकता हूं।"

सत्तर साल की आयु में राहुलजी का देहावसान हुआ। उसके सोलह महीने पहले उन पर 'स्मृतिलोप' का आघात हुआ था। प्रकृति के क्रूर प्रहार की उस घटना के दिन तक राहुलजी सक्रिय बने रहे; गंभीर रूप से अस्वस्थ होने के बावजूद लेखन-कार्य में जुटे रहे। अक्सर कहते भी थे– "पुनर्जन्म में मेरा विश्वास नहीं है। मुझे जो कुछ

करना है, इसी जन्म में करना है।''

ऐसे थे महापंडित राहुल सांकृत्यायन, जिनकी इस साल (1993) जन्मशती मनायी जा रही है।

राहुलजी ने 63 साल की आयु तक की अपनी आत्मकथा स्वयं लिखी है—ढाई हजार से भी अधिक पृष्ठों में। मगर वह उनकी ''जीवन-यात्रा'' है, जिसमें, उन्हीं के शब्दों में कहें तो, उन्होंने ''उस जगत की भिन्न-भिन्न गतियों और विचित्रताओं को अंकित करने की कोशिश की है, जिसका अनुमान हमारी तीसरी पीढ़ी बहुत मुश्किल से करेगी।''

आज की उसी तीसरी तरुण पीढ़ी के लिए प्रस्तुत है, राहुलजी का यह परिचय...

एक विराट व्यक्तित्व का परिचय....

एक घुमक्कड़-राज का परिचय....

एक महापंडित के बुद्धिवैभव का परिचय....

नाना के किस्से

पूर्वी उत्तर प्रदेश का आजमगढ़ जिला। आजमगढ़ शहर से करीब बारह किलोमीटर दूर है पन्दहा गांव। आज से करीब 95 साल पहले का जमाना। अब कल्पना कीजिए करीब 55 साल के एक ऐसे अधेड़ व्यक्ति की जिसके सभी बाल सफेद, कद छह फुट लंबा, सीना चौड़ा, बाजू मोटे, नाक लंबी व नुकीली और रंग गेहुआं है। दूर से ही पहचान लिया जा सकता था उन्हें। पन्दहा के किसी बाग या खलिहान में यदि आप पांच-सात आदमियों के बीच एक मोटे-ताजे प्रौढ़ पुरुष को अंगोछे में घुटने और कमर को बांधकर बातें करते देखते, तो फौरन समझ जाते कि वह रामशरण पाठक हैं।

पाठक का काम था– खाना, सोना और गप्पें मारना। 18 साल की उम्र में घर के डेढ़ सौ रुपए लेकर चंपत हो गये थे। हैदराबाद के नजदीक की जालना छावनी में पहुंचकर फौज में भरती हुए और फिर कर्नल साहब ने उन्हें अपना अर्दली बना लिया। साहब जंगलों में दूर-दूर तक शिकार करने जाते, तो पाठक भी उनके साथ होते। पाठक ने साहब के साथ दिल्ली, शिमला, नागपुर, अमरावती, नासिक आदि कई शहर देखे। बारह साल बाद पाठक को अपनी पत्नी की फिक्र हुई और वे नाम कटाकर घर लौट आये।

घर लौटे तो पाठक ने दो प्राणियों– पति-पत्नी—की अपनी गृहस्थी अलग कर ली। उनके पास पांच बीघे जमीन हो गयी। दो बैल और एक भैंस रखी थी। अपने हाथ से काम करना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। खेत के काम के लिए उनका हलवाहा था और घर का काम पठकाइन के जिम्मे था।

फौज से लौटने के बाद 1876 ई. के करीब पाठक के एक लड़की हुई—कुलवंती। अकेली संतान, इसलिए उसे लड़के की तरह ही लाड़-प्यार मिला। नौ-दस साल की होने पर करीब सोलह किलोमीटर दूर के कनैला गांव के जानकी पांडे के 12 साल के ज्येष्ठ पुत्र गोवर्धन पांडे के साथ उसका ब्याह कर दिया गया। कुलवंती ज्यादातर मायके में ही रहती थी। पन्दहा में ही 9 अप्रैल, 1893 को उनको एक पुत्र हुआ। नाम रखा गया- केदारनाथ।

केदारनाथ जब अपनी मां से अलग रहने लायक हो गया, तो वह नाना-नानी का हो गया। ननिहाल में ही बड़े लाड़-प्यार से बालक केदार का लालन-पोषण हुआ। वह नानी को ही "मां" कहता था। नाती को नाना भी खूब प्यार करते थे, मगर

पल्टनिहा सिपाही होने के कारण अनुशासन को पसंद करते थे। वे केदार पर कड़ी नजर रखते थे। खेल-कूद के वे खिलाफ थे। उन्हीं के कारण केदार पेड़ पर चढ़ना नहीं सीख सका। तैरना भी उसने पितृग्राम कनैला जाकर सीखा। केदारनाथ ने— बाद के राहुल सांकृत्यायन ने— लिखा है- "नाना ने अपनी जानभर मेरे लिए जिंदगी को जेलखाना बना दिया था।"

मगर इस जेलखाने से भाग निकलने की प्रारंभिक प्रेरणाएं भी नाना से ही मिलीं। फौजी नाना अपनी शिकार-यात्राओं की कहानियां काफी रात बीते तक अपनी धर्मपत्नी को सुनाया करते थे। उस समय बगल में बैठा या गोद में लेटा सात-आठ साल का नाती केदार उन कहानियों को चाव से सुनता और आश्चर्य करता। नाना कामठी, अकोला, अमरावती, बुलढ़ाना, औरंगाबाद आदि स्थानों की बातें बताते। अजंता और एलोरा की गुफाओं और उनमें स्थित मूर्तियों के बारे में पाठक कहा करते थे— रामजी बनवास जाएंगे, यह सोचकर बिसकर्मा (विश्वकर्मा) ने पहाड़ काटकर ये बड़े-बड़े महल बनाए। सोचा था, देवता लोग इनमें वास करेंगे और रामजी को बनवास में कष्ट न होगा। किंतु जब तक देवता आए, तब तक राक्षसों ने उनमें बसेरा कर लिया। बिसकर्मा ने शाप दिया— जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। पाठक बड़ी गंभीरता से भौंहें तानकर पठकाइन से कहते— जो राक्षस जैसे रहा, वह वैसा ही वहां पत्थर हो गया। शराब पीने वाले की बोतल वैसे ही उसके मुंह में लगी रही। नाचने वाले वैसे ही नाचते रह गये। लगता जैसे अभी उठकर बोलने लगेंगे।

नाती केदार को ऐसे किस्से सुनने में बड़ा मजा आता था। सर्वप्रथम इन्हीं किस्सों ने उसके किशोर मन में दुनिया को देखने की लालसा जगायी।

नाना नाती के खाने-पीने का खूब ख्याल रखते थे। उन्हें खुद भी खाने-पीने का शौक था। दूध और छाछ के बिना उनका काम नहीं चलता था। पहले मांस-मछली की भी खूब चाट थी। किंतु बाद में कंठी डाल ली, तो अपने प्रिय भोजन से वंचित हो गये। फिर भी नाती के लिए जब-तब मछली ले ही आते थे।

बालक केदार साल के कुछेक दिनों के लिए कनैला में पिता के घर भी रह आता था। सन 1897 में उस क्षेत्र में भीषण अकाल पड़ा, मगर केदार के पिता और नाना, दोनों के घर उसके प्रभाव से मुक्त रहे। पिता गोवर्धन पांडे के पास दस-बारह एकड़ खेत थे। पूजा-पाठ में उनकी बड़ी श्रद्धा थी, इसलिए गांव के लोग उन्हें 'पुजारी' कहते थे।

पुजारी जब 15 साल के थे, तभी उनके पिता का देहांत हो गया था। मां (केदार की दादी) झगड़ालू स्वभाव की थी। उसने अपना परिवार अलग कर लिया। गोवर्धन की तीन बहनें और एक छोटा भाई प्रताप था। पंद्रह साल के पुजारी गृहस्थी संभालने के काम में लग गये।

कनैला एक बहुत छोटा गांव था। गांव से कई किलोमीटर तक कोई पक्की सड़क नहीं थी। डाकखाना करीब 15 किलोमीटर दूर था। वही हाल पाठशाला या मदरसे

का था। पुजारी ने एक मुंशी के पास मुश्किल से डेढ़ महीने तक पढ़ाई की थी। मगर मेधावी थे, इसलिए अपने ही बल पर उन्होंने काफी ज्ञान हासिल कर लिया था। पूजा-पाठ की पुस्तकें मजे में पढ़ लेते थे। हिसाब में भी पारंगत थे।

पुजारी यानी गोवर्धन पांडे सांकृत्यगोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उनके पूर्वजों का मूल स्थान मलांव (गोरखपुर जिला) था, इसलिए वे मलांव-पांडे के नाम से भी जाने जाते थे। उनके एक पूर्वज इच्छा पांडे 1730 ई. के आसपास कनैला आकर बसे थे। पुजारी के पिता जानकी पांडे की गांव में, और आसपास के गांवों में भी, बड़ी प्रतिष्ठा थी। मगर 45-46 की उम्र में उनका देहांत हो गया, तो परिवार का बोझ कच्ची उम्र के पुजारी पर आ पड़ा । पुजारी ने जल्दी ही अपनी माली हालत सुधार ली। वे गांव में सबसे धनी समझे जाते थे।

केदारनाथ बचपन में भले ही दुबले-पतले रहे हों, मगर बाद के राहुल सांकृत्यायन अपने ऊंचे कद और भरे-पूरे शरीर के कारण अपनी एक अलग ही पहचान रखते थे। यह आनुवंशिकी का योगदान था। राहुलजी ने स्वयं लिखा है– ''मेरे पिता का वंश कई पीढ़ियों से मजबूत, लंबे कद्दावर जवानों को पैदा करने लिए मशहूर रहा।.... जहां तक नाना, उनके पिता और भाइयों का संबंध है, वे भी मजबूत और लंबे-चौड़े लोग थे।.... मां शरीर के आकार-प्रकार में अपने पिता से सादृश्य रखती थी। वैसा ही लंबा कद, वैसा ही हृष्ट-पुष्ट शरीर, रंग गोरा।''

मगर विद्या के लिए आनुवंशिकता का आश्रय अनिवार्य नहीं है। सरस्वती का सत्कार न कनैला में था, न पन्दहा में। कनैला में आकर बसे हुए इच्छा पांडे के वंशजों में नाम के पंडित तो कई हुए, किंतु विद्या-पंडित कोई नहीं हुआ। राहुलजी लिखते हैं– ''उनके वंश में सरस्वती की ओर मुंह करने का अपराध सबसे पहले मैंने ही किया।''

रामशरण पाठक स्वयं अनपढ़ थे, मगर खूब घूमे-फिरे थे, इसलिए विद्या के लाभ को जानते थे। उन्होंने अपने नाती के लिए बड़े-बड़े मनसूबे बांध रखे थे। अपनी स्त्री से कहते थे– ''जरा मिडिल पास हो जाने दो, केदार को अंग्रेजी स्कूल में भरती कराकर ही छोडूंगा।''

पहली उड़ान

उस समय की बात है जब केदार साढ़े पांच साल का था। बरसात के दिन थे। गड्ढ़ों में पानी भरा हुआ था। केदार कुछ लड़कों के साथ बाहर खेल रहा था, तब एक लड़का एक छोटे गड्ढ़े में गिर गया। किसी आदमी ने दौड़कर उसे बाहर निकाला।

नाना ने समझा, यह केदार की शरारत है। उसी समय नानी से सलाह हुई कि बच्चे को पाठशाला में बैठा दिया जाये। पन्दहा से रानीकीसराय का मदरसा करीब डेढ़ किलोमीटर दूर था। साथ देने के लिए अहीरिन रम्मी के लड़के मद्धू के बारे में सोचा गया । वह केदार का समवयस्क था, और दोस्त भी। जब नानी ने कहा कि उमर कम है, क्या पढ़ेगा, तो नाना का जवाब था— बैठना तो सीखेगा!

शुभ-मुहूर्त देखकर नवंबर 1898 के एक दिन नाना के बड़े भाई के सबसे छोटे बेटे रामदीन भांजे केदार को रानीकीसराय की पाठशाला में भरती कर आये। उस समय उर्दू की कदर हिंदी से अधिक थी। केदार का नााम मदरसे में लिखाया गया।

उस समय रानीकीसराय एक छोटी बस्ती थी। तब तक वहां रेल भी नहीं पहुंची थी। आजमगढ़ से जौनपुर और वाराणसी की ओर जाने वाली पक्की सड़क के रास्ते पर होने के कारण ही इस स्थान का कुछ महत्व था। मेंहनगर के राजा की रानी ने यहां सराय बनवाई थी, इसीलिए बस्ती का नाम रानीकीसराय पड़ा। उसी के बनवाए पोखरे रानी-सागर के कोने पर चारदीवारी से घिरा मदरसे का हाता था। वहीं पर धूप में बिछाए टाट पर केदार बैठता और उसके पास ही मद्धू।

मगर केदार ज्यादा दिनों तक रानीकीसराय नहीं जा सका। अध्यापक के साथ किसी का कोई झमेला हो गया। मदरसा बंद हो गया। अगले साल जाड़ों में केदार को पुन: रानीकीसराय की पाठशाला में भेजा गया, तो अब मद्धू के स्थान पर नया सहपाठी था- दलसिंगार, और नये अध्यापक थे- बाबू द्वारिकाप्रसादसिंह, जो नाटे गठीले बदन के थे, और बातचीत तथा पोशाक में पूरे शहरी लगते थे। विद्यार्थियों पर उनका काफी रोब था।

दलसिंगार और केदार लगभग समवयस्क थे, दोनों में स्वभाव-साम्य था और रिश्तेदारी भी, इसलिए आपस में बड़ा प्रेम था। सवेरे ही बासी खाना खाकर घर से निकलते। दोपहर के खाने के लिए भुना दाना या गुड़ मिला सत्तू अंगोछे में बंधा रहता। पन्दहा से पाठशाला आने-जाने के दो रास्ते थे— एक पगडंडी का और दूसरा कच्ची सड़क का। पगडंडी जंगल के भूतहे पोखरे के पास से गुजरती थी और

सड़क के रास्ते पर पीपल के 'बाबा साहेब' का ठौर था। इन दोनों स्थानों के पास से किसी सयाने की भी अकेले गुजरने की सहसा हिम्मत नहीं होती थी। पाठशाला जाते समय केदार और दलसिंगार प्रायः पगडंडी के रास्ते जाते। लौटते वक्त गिल्ली-डंडा या अन्य कोई खेल खेलने लगते और देर हो जाती, इसलिए सड़क के रास्ते को अपनाते।

नाना के लाड़-प्यार और अनुशासन के कारण केदार खेल-कूद में ज्यादा शामिल नहीं हो पाता था। खाने के बारे में भी उसकी अपनी अलग पसंद बन गयी थी। दाल और भात से चिढ़ थी। दूध-दही, खांड-शीरा और मछली-तरकारी से रोटी खाना उसका प्रिय भोजन था। केदार ही आंगन में मछली पकाता; नानी मसाला पीसकर देती और पकाने का तरीका बताती।

नाना ने नाती के हाथों-पैरों में चांदी के मोटे कड़े और कानों में सोने की बालियां डलवा दी थीं। पहनने की उसकी जरूरतें सीमित थीं— दो मामूली धोतियां, एक अंगोछा, गर्मी में सूती कुरता और जाड़ों के लिए ऊनी अंगरखा। पाठशाला के लिए टोपी का पहनना अनिवार्य था। केदार की टोपी अक्सर गुम हो जाया करती थी, इसलिए कुरते के साथ उसे टांक देने का उपाय खोजा गया था। गांव के लड़कों के लिए जूता अनावश्यक समझा जाता था।

केदार पढ़ने में तेज था। स्मरणशक्ति भी बहुत तीव्र थी। निर्धारित विषयों की पढ़ाई उसके लिए केवल तीन-चार महीने का काम था। राहुलजी ने स्वयं लिखा है- "पढ़ने का काम मेरे लिए बिलकुल मुश्किल न था। वस्तुतः 4 मास की पढ़ाई के लिए मेरे बारह मास यों ही बरबाद किए जा रहे थे।"

दिसंबर में होने वाली वार्षिक परीक्षा का केदार को बड़ी बेसब्री से इंतजार रहता था। परीक्षा के बाद छुट्टी होने पर एक-दो सप्ताह के लिए वह पितृग्राम कनैला चला जाता था। पन्दहा में जितनी पाबंदी थी, कनैला में उतनी ही आजादी। साल में एक बार कनैला जाता था, इसलिए वहां आसपास के घरों का भी उसे बहुत प्यार मिलता था। खूब खेलता-कूदता, तीर-कमान बनाता और समवयस्कों के साथ कभी-कभी पोखरे में मछली मारने भी जाता, हालांकि हाथ कुछ नहीं आता। कनैला के मुसलमान चूड़ीवालों के घर महीने में एकाध बार बकरा काटा जाता, इसलिए केदार को वहां से मांस भी अक्सर मिल जाता था।

प्रारंभिक श्रेणी की परीक्षाएं पास करने के बाद नौ साल का केदार दर्जा 1 में पहुंच गया। उस साल (1902 ई.) की बारिश आरंभ होने से पहले की बात है। एक दिन रानीकीसराय के मदरसे में सफाई-लिपाई का काम हुआ। दलसिंगार भी काम कर रहा था। दोपहर में उसने काम छोड़ दिया। बदन गर्म था, दर्द के मारे शरीर फट रहा था, आंखें भी लाल थीं। एक-दो कै भी हुईं। केदार हालांकि कमजोर था, मगर अपने सहपाठी को पीठ पर चढ़ाकर, दस-दस कदम पर उठक-बैठक करते हुए, रोते-कराहते, रात होने के पहले पन्दहा ले ही आया।

दूसरे दिन नानी ने कहा– हैजा जोर पकड़ रहा है, बच्चे को कनैला भेज दो।

केदार कनैला में अपने माता-पिता के पास पहुंचा, तो देखा कि वहां शतचंडी का पाठ चल रहा है, बाकायदा संस्कृत में। पाठ कर रहे थे उसके फूफा महादेव पंडित, जो संस्कृत के अपने ज्ञान के लिए आसपास के गांवों में काफी मशहूर थे। एक महीने बाद शतचंडी पाठ समाप्त हुआ और फूफा अपने गांव बछवल वापस जाने लगे तो केदार को भी अपने साथ ले गये, उसे संस्कृत पढ़ाने के इरादे से। कनैला से बछवल तक की करीब 5 किलोमीटर की यात्रा केदार ने फूफा के साथ घोड़ी पर चढ़कर की। बछवल वह पहली बार जा रहा था।

करीब एक सप्ताह के बाद महादेव पंडित ने केदार को "नत्वा सरस्वतीं देवीं" के साथ सारस्वत व्याकरण पढ़ाना शुरू कर दिया। बछवल में खेल-कूद की आजादी थी; केदार का संस्कृत की पढ़ाई में भी मन लग गया। मगर एक महीना भी नहीं बीता था कि पन्दहा पहुंचने का पैगाम आ गया। पहली बार संस्कृत से जुड़ा नाता जल्दी ही टूट गया। परंतु इसी पहली बछवल-यात्रा में लंबे समय के लिए एक स्थायी संबंध भी स्थापित हो गया– फूफा महादेव पंडित के भाई के बेटे यागेश से केदार की घनिष्ठ मित्रता हो गयी। आगे जाकर केदार की कई यात्राओं में यागेश उसके साथी रहे।

पन्दहा पहुंचने पर पता चला कि हैजे में गांव के दस-बारह आदमी मरे हैं। दलसिंगार बच गया था, मगर उसकी मां ने आगे उसका पढ़ना छुड़वा दिया। केदार को कुछ दिन तक स्कूल जाने वाले एक-दो साथी मिले, मगर बाद में वह अकेला ही जाने लगा। अब रानीकीसराय का मदरसा 'अपर-प्राइमरी' हो गया था।

नौ साल के केदार का उसी साल (1902 ई.) जनेऊ हुआ, विंध्याचल में, क्योंकि वैसी मिन्नत मानी गयी थी। चाचा प्रताप पांडे के साथ केदार ने पहली बार रेल की यात्रा की, पहली बार बनारस शहर के दर्शन किये। उसकी– राहुलजी की– आगे की साहसपूर्ण यात्राओं का शुभारंभ भी उसी समय हुआ। विंध्याचल जाते-आते चाचा-भतीजा बनारस के एक मठ में ठहरे। गंगास्नान के बाद विश्वनाथ के दर्शन करके चौक के रास्ते लौट रहे थे, तो वहां चाचा ने एक बिसाती से अपने लिए कुछ चीजें खरीदीं, और केदार के लिए भी दो-चार पैसों में किस्सों की एक-दो उर्दू किताबें ले लीं।

केदार ने उसी दिन उन पुस्तकों को पढ़ लिया। दूसरे दिन सुबह, चाचा को बिना बताए, वह चुपके से सड़क पर चला आया और रास्ते में कई बार मुड़कर सीधे चौक पहुंच गया। वहां उसने उसी बिसाती से दो-दो पैसों में छह-सात किताबें खरीदीं, और लौट पड़ा। रास्ते में हैरान-परेशान चाचा मिले। बनारस जैसे शहर में एक देहाती लड़के का भटक जाना भयाकुल कर देने वाली ही तो बात थी। खोया लड़का मिल गया, चाचा ने राहत की सांस ली।

आगे की साहसिक उड़ानों के लिए केदार को प्रेरणाप्रद गुरुमंत्र भी जल्दी ही मिल गया। दर्जा 2 पास करके वह दर्जा 3 में पहुंचा, तो उर्दू की नयी पाठ्य-पुस्तक में

उसे एक शेर पढ़ने को मिला–

सैर कर दुनिया की गाफिल जिंदगानी फिर कहां?
जिंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहां?

राहुलजी ने स्वयं लिखा है– "इस शेर ने मेरे मन और भविष्य के जीवन पर बहुत गहरा असर डाला।"

सन 1904 में ग्यारह साल का केदार अब दर्जा 3 का विद्यार्थी था। दो साल के बाद दलसिंगार ने स्कूल में पुन: नाम लिखाया, तो केदार को बड़ी खुशी हुई। मगर यह खुशी ज्यादा दिन तक नहीं रही। दलसिंगार सख्त बीमार पड़ा, और आखिर चल बसा! केदार के किशोर मन को पहली बार मृत्यु के आघात का अनुभव हुआ।

एक साल पहले रेल रानीकीसराय आ गयी थी। लोगों की धारणा थी कि रेल और प्लेग का अभिन्न संबंध है। और, सचमुच ही 1904 ई. के आखिरी महीनों में रानीकीसराय में चूहे गिरने लगे। मदरसा तीन किलोमीटर दूर के एक गांव में ले जाया गया। पन्दहा में भी प्लेग आ गया था। इसलिए केदार को स्कूल में ही रहना पड़ा। वहीं पर उसे पहले-पहल अपना खाना खुद पकाना पड़ा।

उसी साल यागेश के ब्याह में सम्मिलित होने केदार बछवल गया और जेठे भाई के नाते दुलहन के गले में लाल सूत डालने की रसम उसने अदा की। उसी वक्त जिंदगी में पहली बार उसे जूता पहनने को मिला। बाराती बनकर जाने का भी उसका वह पहला ही अवसर था।

केदार का भी ब्याह उसी साल हो गया। प्लेग चल रहा था। गर्मी की छुट्टी हुई, तो केदार पन्दहा पहुंचा। एक दिन नाना के ससुराल के एक सज्जन, शायद पहले की अर्ध-स्वीकृति के बल पर, एकाएक तिलक चढ़ाने पहुंच गये। नाना ने केदार को चुपके से कनैला भेज दिया। तिलक चढ़ाने वाले दूसरे दिन खुद वहां जा धमके। काफी बहसा-बहसी के बाद देर रात को तिलक चढ़ा। उसी गर्मी में एक छोटी सी बारात गयी और केदार का ब्याह भी हो गया!

अपने उस ब्याह के बारे में राहुलजी ने स्वयं लिखा है– "उस वक्त ग्यारह वर्ष की अवस्था में मेरे लिए यह तमाशा था। जब मैं सारे जीवन पर विचारता हूं, तो मालूम होता है, समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में इसने ही पहिला काम किया। .... जब मैं 15 साल का था, तभी से मैं उसे शंका की नजर से देखने लगा था। .... ग्यारह वर्ष की अबोध अवस्था में मेरी जिंदगी को बेचने का घरवालों को अधिकार नहीं, यह उत्तर उस वक्त भी मैं अपने बुजुर्गों को दिया करता। .... मैंने उसे कभी न ब्याह समझा, न उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर मानी।"

रानीकीसराय के मदरसे में केदार की पढ़ाई जारी रही, हालांकि प्लेग के जारी रहने और अस्थायी अध्यापकों के कारण वह अस्थिर-सी ही चल रही थी। चौथे दर्जे के

तेरह-चौदह लड़कों में उर्दू का विद्यार्थी अकेला केदार ही था। सालाना इम्तहान में केवल दो ही लड़के उत्तीर्ण हुए- एक केदार और दूसरा गिरिधारी।

केदार की मां कुछ महीनों से बीमार थी। बड़े बेटे केदारनाथ के अलावा अब उसके तीन और बेटे थे- श्यामलाल, रामधारी और श्रीनाथ। एक बेटी भी थी- रामप्यारी। श्रीनाथ के जन्म के समय से ही उसने बिस्तर पकड़ रखा था। अंत में, 1905 के अंतिम दिनों में, उसका देहांत हो गया। कुछ बाद में ही केदार को यह समाचार मिल पाया। उसका चित्त कुछ दिनों तक विकल जरूर रहा, मगर नानी का स्नेह मौजूद था। नानी को वह मां के नाम से ही पुकारता था।

रानीकीसराय की पढ़ाई समाप्त होने पर तेरह साल के केदारनाथ को पन्दहा से करीब छह किलोमीटर दूर के निजामाबाद कस्बे के मिडल स्कूल में भरती कर दिया गया। नाना ने एक ठाकुरबाड़ी में रहने का इंतजाम कर दिया। प्लेग के चले जाने पर अप्रैल 1909 में बाकायदा पढ़ाई शुरू हुई। केदार से ज्यादा पढ़ा हुआ अब न नाना के गांव में कोई था, और न पितृग्राम कनैला में!

निजामाबाद में केदार के लिए सब कुछ नया था- नये संगी-साथी, नये अध्यापक, मनोरंजन के नये साधन। केदार पढ़ने में तेज था, तीन-चार महीने में ही दर्जे में अव्वल हो गया। गणित में जहां दूसरों की रूह कांपती थी, वह उसके लिए बाएं हाथ का खेल था। पंडित सीताराम श्रोत्रिय गणित और हिंदी पढ़ाते थे। वे हिंदी के कवि पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के विद्यार्थी और सजातीय थे। 'हरिऔध' जी का जन्म निजामाबाद में ही हुआ था और वहां वे प्रधानाध्यापक रह चुके थे।

मार्च 1907 में वार्षिक परीक्षा देकर केदार पन्दहा आया, तो वहां प्लेग चल रहा था। नानी ने उसे कनैला भेज दिया। वहां एक-दो दिन ठहरकर वह बछवल चला गया। वहां गपशप और खेलने-कूदने के लिए यागेश और दूसरे कई हमउम्र साथी थे। बछवल में ही केदार को पता चला कि प्लेग से नानी का देहांत हो गया है।

परीक्षा का परिणाम निकला तो केदार निजामाबाद गया। दिल में सैर-सपाटे की लहर उठी। खाने-पीने के लिए पास में जो आटा-चावल था, उसे बाजार में बेचकर डेढ़-दो रुपए प्राप्त किए और नजदीक के एक स्टेशन पहुंचकर बनारस की ट्रेन पकड़ी। मन में और जीभ पर प्रेरक पंक्तियां थीं- "सैर कर दुनिया की गाफिल ... नौजवानी फिर कहां?"

बनारस स्टेशन पहुंचकर केदार पिछली यात्रा के परिचित मठ के समीप के एक मंदिर में गया। वहां अपने हाथ से रोटी बनाकर खायी। शाम तक शेर का असर काफी घट गया, तो घर लौटने का निर्णय किया। केदार ने रात की गाड़ी पकड़ी। नाना के डर से पन्दहा न जाकर कनैला का रास्ता पकड़ा।

केदार की यह पहली उड़ान भले ही असफल रही हो, मगर आगे की लंबी दूरी की उड़ानों के लिए भी अब ज्यादा देर नहीं थी।

चलो कलकत्ता

नानी की मृत्यु के बाद केदार और उसकी बहन रामप्यारी, दोनों मिलकर अब नाना का घर संभाल रहे थे। एक दिन मक्खन को पिघलाकर घी बनाया गया और उस पिघले घी की मटकी पर, बिल्ली से बचाने के लिए, नांद को उलटा दबाया गया, लेकिन रात के अंधेरे में पता ही नहीं चला कि नांद का किनारा मटकी पर पड़ा है। दूसरे दिन देखा तो सारा घी, करीब दो सेर (पौने दो किलो), गिरकर जमीन पर फैल गया है! केदार ने सोचा — नाना अब अवश्य गुस्सा होंगे। उसने बैल की बिक्री से आए बाईस रुपए उठाये और चल पड़ा रानीकीसराय स्टेशन की ओर!

केदार अब 14 साल का था। बनारस और विंध्याचल तक का रास्ता उसे मालूम था। कुछ दिन तक बनारस-मुगलसराय-विंध्याचल के बीच आना-जाना चला, जिसमें काफी पैसे खर्च हो गये। घी की बरबादी का कसूर तो हुआ ही था, रुपए चुराकर उन्हें खर्च कर डालने का जुर्म भी उसमें जुड़ गया। अंत में केदार के मन ने निर्णय किया— चलो कलकत्ता।

केदार हावड़ा स्टेशन पर उतरा, तो वहां की भीड़ देखकर दंग रह गया। बाहर निकलकर नदी पर का पुल, पक्के घाट और ऊंचे-ऊंचे मकान देखे, तो मन पर आतंक छा गया। स्टेशन के मुसाफ़िरखाने में लौटकर एक खंभे के पास सटकर बैठ गया। सोचने लगा— अब कहां जाऊं, किसके पास जाऊं?

काफी देर बाद लगभग उसी की उम्र का गोरा-पतला और धोती-कुर्ता-टोपी पहने हुए एक लड़का उसके पास आया। उसने केदार की स्थिति को भांप लिया था, क्योंकि वह भी उसी तरह स्कूल छोड़कर कलकत्ता भाग आया था। बातचीत आगे बढ़ने पर पता चला कि वह हंडिया तहसील का है, नाम महादेवप्रसाद है और बीस-बाईस साल के एक तरुण के साथ रह रहा है— छप्पर-नुमा एक ऐसे बासा में जिसका किराया आठ आने महीना है! वह केदार को अपने साथ ले गया और बासा पहुंचने पर अपने तरुण साथी का परिचय कराया। तय हुआ कि नौकरी खोजते रहेंगे और जो भी कमाएंगे उसे सम्मिलित कमाई मानकर गुजारा करेंगे!

इस तरह कई दिन गुजर गये। एक दिन केदार दूकानों में झांकता हुआ हैरीसन रोड (अब महात्मा गांधी मार्ग) से गुजर रहा था, तो धोती-कोट-फैल्ट टोपी पहने और हाथ में छाता लिए एक बुज़ुर्ग आदमी से उसकी भेंट हुई। उनका नाम था बिंदाप्रसाद पाठक। वे मूलतः मुरादाबाद के रहने वाले थे। पहले कलकत्ता में उनका अच्छा

कारोबार था, मगर अब छोटी-मोटी दलाली करके दिन काट रहे थे। केदार से बोले— चाहो तो तुम मेरे साथ रह सकते हो।

केदार पाठकजी के साथ रहने लगा। उनकी तीस-चालीस रुपए महीने की कमाई थी। पांच रुपया महीना मकान का किराया देते थे। दोनों के खाने-पीने के लिए बाकी रुपए पर्याप्त थे। केदार साफ-सफाई कर देता, पानी भरकर लाता, चिलम भरकर देता और दलाली के काम में भी हाथ बंटाता। पाठक ने कुछ दिन बाद केदार को न केवल अंग्रेजी पढ़ानी शुरू कर दी, बल्कि उसे एक विद्यालय में भी भरती कर दिया!

घर से चिट्ठी-पत्री शुरू हो गयी थी। नाना लौट आने के लिए बार-बार लिख रहे थे। आखिर केदार का मन भी घर लौटने के लिए उतावला हो उठा। पैसे भी आ गये। एक दिन पाठकजी ने केदार को हावड़ा स्टेशन पर गाड़ी में बिठा दिया।

चार महीने कलकत्ता रहकर केदार घर लौटा। एक साल की पढ़ाई बरबाद हुई थी। निजामाबाद के स्कूल में पुनः नाम लिखाया— छठे दर्जे (मिडल के अंतिम दर्जे) में। सहपाठी बदल गये थे, पाठ्य-पुस्तकें भी बदल गयी थीं। तीन-चार महीने बाद केदार पुनः अपने दर्जे का अव्वल विद्यार्थी हो गया।

नाना ने अपनी जमीन-जायदाद नाती के नाम लिख दी थी, जिससे उनके भाई-भतीजे उनसे काफी खफा हुए, मुकदमा भी चला। मगर अंत में सुलह हो गयी। बाद में वे कनैला चले गये।

केदार निजामाबाद में पढ़ रहा था, तो उसकी बहन रामप्यारी की मृत्यु हुई। कनैला लौटने पर उसे यह समाचार मिला। उसने इसे बहुत गहराई से अनुभव किया। बहन से उसको बहुत स्नेह था।

सारे जिले के मिडल के विद्यार्थियों की वार्षिक परीक्षा आजमगढ़ के मिशन स्कूल में हुई। केदार जब रानीकीसराय में आरंभिक कक्षाओं में पढ़ रहा था, तो उसके नाना इसी मिशन स्कूल के बारे में अक्सर कहते थे– 'उर्दू पढ़ जावे, फिर तो जहां मैंने एक बार पादरी साहेब (मिशन स्कूल के हेडमास्टर) को फौजी सलाम दिया कि उसे भरती करवाकर ही छोड़ूंगा।'

मगर इसकी नौबत ही नहीं आयी। केदार मिडल की परीक्षा देकर आने के बाद दो सप्ताह से अधिक घर पर नहीं रहा। "सैर कर दुनिया की गाफिल" का मंत्र उसे चैन नहीं लेने दे रहा था।

नाना को नाती की बड़ी चिंता थी। परंतु वे कहा भी करते थे– "छह महीने का कुत्ता, बारह बरस का पुत्ता। हुआ सो हुआ, गया सो गया।" मिडल की परीक्षा देने के बाद 1909 ई. में केदार अब 16 साल का था।

दो साल पहले केदार कलकत्ता भागा था, तो उसका कारण घी का गिरना और नाना का डर था। मगर अब वैसे किसी कारण की आवश्यकता नहीं थी। केदार ने नाना का किस्सा सुना ही था कि किस प्रकार अपने पिता के रखे डेढ़ सौ

रुपए उड़ाकर वे सुदूर हैदराबाद भाग गये थे। उसके हाथ लगा— रुपयों की माला वाला एक जेवर और एक-दो खुले रुपए। कलकत्ता का रास्ता मालूम ही था। मुगलसराय से आगे की यात्रा बिना टिकट के हुई!

कलकत्ता में पाठकजी का आश्रय था ही। उनके दलाली के काम में केदार भी हाथ बंटाने लगा। कुछ दिन बाद उसे हावड़ा स्टेशन के मालगोदाम में मार्कामैन का काम मिला। इसमें बिल्टी देखकर माल पर सफेद या काली स्याही से भेजने और पाने वाले स्टेशनों के संकेताक्षर और बिल्टी के नंबर को अंग्रेजी में लिख देना होता था। मगर दो-तीन सप्ताह से अधिक केदार का उस काम में मन नहीं लगा। काम छोड़कर चला आया।

कुछ दिन बाद उसे सुंघनी साहु की दूकान में नौकरी मिल गयी। हिंदी के प्रख्यात कवि जयशंकर प्रसाद का बनारस का खानदान "सुंघनी साहु" के नाम से प्रसिद्ध रहा है। उन्हीं के चाचा गिरिजाशंकर साहु ने अपनी एक शाखा कलकत्ता में खोली थी। वहां खुशबूदार तम्बाकू, सुंघनी, जर्दा, किमाम आदि चीजें बिकती थीं। केदार का काम था—चिट्ठी-पत्री लिखना और हफ्तावार जमाखर्च को उतारकर बनारस भेजना।

गिरिजाशंकर ठिगने कद के कुछ स्थूल से आदमी थे और आयु उनकी 55 के आसपास थी। दमे के रोगी थे। हर शाम नियम से अफीम खाते थे। टहलने निकलते या रात को अपने वासस्थान पर लौटते तो केदार उनके साथ रहता।

एक दिन साहु टहलने निकले तो उनकी नजर भांग की बर्फी पर पड़ी। उन्होंने खरीदकर कुछ टुकड़े खाये, और एक टुकड़ा केदार को भी दिया। केदार को वह बर्फी बहुत पसंद आयी, कलाकंद की तरह लगी। साहु थोड़ा आगे जाकर किसी से बातें करने लगे, तो उसने उस दूकान से और कुछ बर्फी खरीदकर खा ली। भांग का नशा चढ़ने लगा। किसी तरह साहु को उनके बासे पर पहुंचाया। लौटते वक्त तालू सूखा जा रहा था। रास्ते में एक कुल्फी वाले से लेकर कई कुल्फियां भी खायीं, लेकिन तालू का सूखना बंद नहीं हुआ। किसी तरह वह अपने निवासस्थान पहुंचा।

उसके बाद क्या हुआ, केदार को कुछ पता नहीं चला। होश आया तो उसने अपने को मेडिकल कालेज अस्पताल में लेटा पाया। शाम को पाठक के आने पर पता चला कि उस रात घर पर पहुंचते-पहुंचते वह बेसुध हो गया था। उसके बाद दस्त पर दस्त होने लगे। सवेरे बेहोशी की हालत में ही अस्पताल पहुंचाया गया। कई दिन बाद होश आया। पाठक रोज आते थे, साहु भी दूसरे-तीसरे दिन देखने चले आते थे। वे केदार के बचने की आशा छोड़ चुके थे।

मगर अंत में केदार को होश आया और वह धीरे-धीरे ठीक होने लगा। शरीर में थोड़ी शक्ति आयी तो घर की याद आने लगी। वह कनैला लौट आया।

घर लौटने पर केदार के जीवन की दिशा ही बदल गयी। उसके मन में कलकत्ता

की रंगीन दुनिया के लिए कोई आकर्षण नहीं रह गया। अब उस पर वैराग्य के जादू का असर होने लगा। अब वह अंग्रेजी नहीं, संस्कृत पढ़ने के लिए उतावला था। अब उसे किसी महानगरी में पहुंचकर नौकरी नहीं करनी थी। अब उसे साधु बनकर सारे देश की तीर्थयात्रा करनी थी, संस्कृत का गहन अध्ययन करना था।

अब केदार सत्रह साल का हो रहा था, तारुण्य में प्रवेश कर रहा था।

काशी में पढ़ाई

केदारनाथ अब कनैला में थे। पन्दहा से नाना भी वहीं चले आये थे। केदार के पिता गोवर्धन पांडे पूजापाठ में बड़ी श्रद्धा रखते थे, इसलिए वे 'पुजारी' के नाम से जाने जाते थे। अब केदारनाथ पिता के पदचिह्नों पर आगे बढ़ने लगे।

नजदीक के उमरपुर गांव के पास परमहंस बाबा की कुटी थी। उनके बारे में लोगों का ख्याल था कि वे 120 साल से कम उम्र के नहीं हो सकते। नेपाल से काशी आकर विद्या पढ़ने के बाद वे संन्यासी हो गये थे। फिर काशी छोड़कर यहां एकांत में उमरपुर के पास उन्होंने अपनी कुटिया बना ली। बाहर के किसी आदमी से मिलते-जुलते नहीं थे। भक्तों को भी दूर ही रखते थे। हरिकरणदास नाम के एक संन्यासी भक्त बाबा की सेवा के लिए उनके आसपास रहते थे। बाबा की कुटी के पास रहनेवाले एक अन्य भक्त थे—बालदत्तसिंह।

पुजारी भी बाबा परमहंस के बड़े भक्त थे। महादेव पंडित जैसे संस्कृत विद्वान भी बाबा के पास जाते थे। परंतु बाबा किसी को कोई उपदेश नहीं देते थे, न ही उन्होंने कोई चेला बनाया था।

पिता और उनके मित्रों की देखा-देखी केदार भी बाबा की कुटिया पर जाने लगे। बाबा के भक्त हरिकरणदास उनके कान में वेदांत और वैराग्य के मंत्र फूंकने लगे। केदार वेदांत की उपलब्ध हिंदी पुस्तकें पढ़ने लगे। दिनचर्या भी बदल गयी। पूजा-पाठ, त्रिकाल संध्या-स्नान और एकाहार आरंभ कर दिया। ज्यादा समय बाबा की कुटिया में बिताने लगे। हरिकरण ने एक दिन अपनी बदरीनाथ-यात्रा और अरण्यवास का वर्णन किया तो केदार का मन ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों, हरे-हरे देवदारों, सफेद-सफेद बर्फ और ठंडे पानी के चश्मों में रमने लगा।

घर वाले चाहते थे कि केदार आजमगढ़ जाकर अंग्रेजी स्कूल में आगे पढ़े। मगर वह अंग्रेजी नहीं, संस्कृत पढ़ने के लिए बनारस जाना चाहते थे। जब बनारस का रास्ता बंद दिखाई दिया, तो उन्होंने उत्तराखंड की ओर जाने का इरादा बनाया। घर से भागने के लिए अब उन्हें पैसों की जरूरत नहीं थी। अब वैराग्य का संबल उनके साथ था। उनका सत्रहवां वर्ष पूरा हो रहा था।

एक दिन सुबह केदार अकेले ही घर से चल पड़े। उन्होंने पैदल ही अयोध्या होते हुए हरिद्वार पहुंचने का तय किया था। नहाने-धोने, खाने-पीने, ठहरने-सोने आदि के खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त करते हुए केदार अयोध्या होते हुए मुरादाबाद पहुंचे, पैदल

ही। कलकत्ता वाले पाठकजी अपने परिवार के पास मुरादाबाद वापस आ गये थे। केदार दस-पंद्रह दिन उनके साथ रहे। वहां के एक सेठ-परिवार ने एक लुटिया और हरिद्वार तक के टिकट का इंतजाम कर दिया।

केदार हरिद्वार स्टेशन पर उतरे तो उनके पास दो-चार आने से अधिक पैसे नहीं थे। वहां के लोगों को आश्चर्य होता था कि सारी दुनिया संस्कृत पढ़ने बनारस जाती है, और बनारस के नजदीक के ये महाशय हरिद्वार चले आये हैं, उल्टी गंगा बहाने! खैर, विष्णुदत्त नाम के एक पंडित ने उन्हें आश्रय दिया। दूसरे दिन उन्होंने यागेश को पत्र लिखकर अपने हरिद्वार पहुंचने की सूचना दी।

केदार को थोड़े ही दिन बाद जब पता चला कि पंडित विष्णुदत्त को संस्कृत नहीं आती तो उन्होंने वह जगह छोड़ दी, और हिमालय की ओर आगे बढ़ गये। सदावर्तों और धर्मशालाओं का सहारा लेते हुए देवप्रयाग, टेहरी, जमनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ और बद्रीनाथ की यात्रा की। हरिद्वार से लिखा केदार का पत्र पाने के बाद यागेश भी हिमालय की यात्रा पर चल पड़े थे। केदारनाथ में दोनों की भेंट हुई। आगे की यात्रा साथ-साथ हुई। लौटते वक्त हरिद्वार नहीं गये। रामनगर, काशीपुर, पीलीभीत और अयोध्या होते हुए दोनों बुखार की हालत में बनारस पहुंच गये। वहां सबसे पहले एडवर्ड अस्पताल जाकर मलेरिया की दवाई ली।

बनारस में पाठशाला और संस्कृत की पढ़ाई की व्यवस्था की खोज की तो एक अधेड़ व्यक्ति, जिनका नाम चक्रपाणि ब्रह्मचारी था, उन्हें अपने साथ कुरुक्षेत्र तालाब के पास के मोतीराम के बाग में ले गये। उन्होंने एक कृष्णा गाय पाली थी और प्रदर्शन के लिए चार-पांच विद्यार्थी अपने पास रखते थे। केदार और यागेश वहां करीब एक सप्ताह रहे। बुलावा आने पर घर चले गये। घरवाले अब केदार की संस्कृत की पढ़ाई में बाधा नहीं डालना चाहते थे। बनारस की बजाए पांच किलोमीटर दूर के बछवल में फूफा महादेव पंडित के पास केदार को भेजना अधिक सुरक्षित समझा गया।

केदार बछवल पहुंचे। शुभ-मुहूर्त में सरस्वती-पूजा करके फूफाजी से लघुसिद्धांत-कौमुदी की पढ़ाई शुरू कर दी। मगर यह सिलसिला ज्यादा दिन तक नहीं चला। दो-ढाई महीने ही बीते थे कि यागेश और एक-दो अन्य विद्यार्थियों को लेकर केदार प्रयाग की प्रदर्शनी देखने के लिए बछवल से गायब हो गये। सारनाथ, चुनार, मिर्जापुर आदि स्थानों में घूमते हुए प्रयाग पहुंचे और प्रदर्शनी देखकर वापस लौटे। कुछ दिन बाद केदार पुनः बनारस आये। राहुलजी जानकारी देते हैं कि मार्च 1911 में वे निश्चित रूप से बनारस में थे। अब उनके 18 साल पूरे हो रहे थे।

आगे के करीब डेढ़ साल तक केदारनाथ बनारस में मोतीराम के बाग में रहे। आरंभ में एक बार उन्होंने पैदल ही कलकत्ता जाने का प्रयास किया था, मगर कुछ दूर जाकर वापस लौट आये थे। मोतीराम का बाग पुराने मुनि-आश्रम जैसा था। उसको चारों ओर से घेरने वाली चारदीवारी से सटकर कई कुटियां थीं, जिनमें महात्मा,

पंडित, ब्रह्मचारी और विद्यार्थी वास करते थे। छत्रों से सूखा या पका अन्न मिल जाता था। तेज विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्ति की भी व्यवस्था हो जाती थी।

केदार मोतीराम के बाग में चक्रपाणि ब्रह्मचारी के आश्रय में रहे। उनके फूफा के एक पुराने विद्यार्थी पंडित मुखराम से वे संस्कृत व्याकरण पढ़ते थे। एक गुजराती वैदिक की देखरेख में यजुर्वेद की ऋचाओं का सस्वर पाठ भी आरंभ कर दिया था। आगे गर्मियों में रघुवंश, रामायण तथा दूसरे सरल काव्यग्रंथों का अध्ययन किया। गर्मी सताती तो रोज शाम को दो घंटे गंगा में तैरते, अस्सी पर आधी धार तक पहुंच जाते।

उसी दौरान केदार नेपाली स्वामी पूर्णानंद के सम्पर्क में आये तो तंत्र-मंत्र की ओर उनका आकर्षण बढ़ता गया। तंत्र की कई पुस्तकें पढ़ीं। कीमिया– तांबे को सोना बनाना— के असफल प्रयोग किये। कामशास्त्र और जड़ी-बूटी की एक नेपाली पुस्तक को पढ़ते समय उसका हिंदी में अनुवाद कर डाला। मंत्र-तंत्र के विशेषज्ञ के रूप में पंडित केदारनाथ पांडे की ख्याति फैलने लगी।

मंत्र-तंत्र पर बहुत ज्यादा श्रद्धा बढ़ गयी, तो केदारनाथ ने मंत्रसिद्धि का कोई बड़ा प्रयोग करने का फैसला किया। सारी तैयारी करके नवरात्र के दिनों में केदार ने एक खाली कोठरी में अपना आसन लगाया। फर्श पर षट्कोण बनाकर उसके केंद्र में 'ओं' और छहों कोनों पर 'श्रीं ह्रीं क्लीं फट् स्वाहा' लिख दिया गया। सवेरे ही गंगास्नान करके 'चक्र' की पूजा करने के बाद केदार रुद्राक्ष माला पर 'श्रीं ह्रीं क्लीं' का जप शुरू कर देते। उन्हें बताया गया था कि पूरे नियम के साथ नौ लाख जप करने से सिंहवाहिनी आद्याशक्ति के साक्षात दर्शन होंगे!

सोने के तीन-चार घंटे छोड़कर बाकी समय जप और पूजा में बीतता रहा। सातवां दिन बीता। आठवां भी बीत गया। केदार की अधीरता बढ़ती गयी! अंतिम दिन खूब मनोयोग से जगदंबा की पूजा की, जप पूरा किया। तब भी दर्शन नहीं हुए, तो सोचने लगे—इसके लिए उनका अभागा जीवन ही जिम्मेवार है। उसी वक्त दो चिट्ठियां लिखीं। एक में लिखा—लाश को मणिकर्णिका पर फूंक दिया जावे। दूसरी में पिता को लिखा— अभागे पुत्र के लिए शोक न करें। फिर पूजा में चढ़ाए धतूरे के पके फलों में से दो के सारे बीजों को मिस्री के साथ कूटकर केदार उसे पानी के सहारे निगल गये!

तीसरे दिन थोड़ा होश आया, तभी केदार को पता चला कि उसके बाद क्या हुआ। वहां के एक विद्यार्थी उस रात छत पर आये तो उन्होंने केदार को लोटते देखा। फिर लोग उन्हें नीचे ले गये। वह विक्षिप्त-सी बातें कर रहे थे। कै हुई और पेट का काफी अंश निकल गया। उसी दिन संयोग से यागेश बनारस पहुंच गए। केदार कुछ दिन बाद प्रकृतिस्थ हो गये, मगर नजर कई दिनों तक कमजोर बनी रही। वह कुछ दिन घर रहकर फिर बनारस (अक्तूबर 1911 में) चले आये।

मंत्र-तंत्र, पूजा-पाठ और देवी-देवता से केदार को मुक्ति तो नहीं मिली, मगर अब वह कुछ बदल गये थे। पढ़ाई को अधिक समय देने लगे। एक ब्रह्मचारी से उन्होंने छठी क्लास तक के अंग्रेजी रीडर पढ़ डाले। अब वे संस्कृत और अंग्रेजी के अलावा

हिंदी पुस्तकें और समाचार-पत्र भी पढ़ने लगे। उन्हीं दिनों उन्होंने पहले-पहल 'सरस्वती' मासिक को पढ़ना शुरू किया। तरुणों को फुसलाकर टापू में भेज देने वाले अरकाटियों से सावधान रहने और टापू के कष्टों के संबंध में छपे हैंडबिल पढ़ने को मिले, तो केदार का खून खौलने लगा। किसी अरकाटी से टकराने का वह मौका खोजने लगे।

एक दिन एक अरकाटी से सामना हो ही गया। भोले बनकर केदार उसके साथ एक बाग के भीतर के घरों में चले गये। वहां जमा हुए देहातियों में उन्होंने आजमगढ़ जिले का अपनी ही उम्र का एक लड़का भी देखा। केदार उत्तेजित होकर उसे असलियत समझाने लगे तो अरकाटी ने सुन लिया। वह क्रोध में केदार की ओर लपका, तो वे दौड़कर बाग के बाहर निकल आये।

बाहर आने पर अपने जिले के कुछ छात्रों को जमा किया और अरकाटी द्वारा पकड़े गये उस लड़के को छुड़वाने की योजना बनायी। उसमें सफलता नहीं मिली, तो एनी बेसेंट के पास मदद लेने गये। मगर उन्होंने शांत रहने का उपदेश देने के अलावा कुछ नहीं किया!

राहुलजी लिखते हैं- "मेरे सार्वजनिक कार्य का आरंभ पहिले-पहल इसी वक्त (नवंबर 1911 ई.) हुआ।"

वैरागी साधु

पढ़ाई जारी थी। पढ़ाने वाले कई थे। अब सिद्धांत-कौमुदी की पढ़ाई चल रही थी। संस्कृत नाटक और काव्य भी पढ़े जा रहे थे। अंग्रेजी की पढ़ाई के अलावा हिंदी का भी स्वाध्याय चल रहा था। उसी समय केदार ने बनारस में नए खुले दयानंद स्कूल के सातवें दर्जे में नाम लिखवाया। सब-कुछ ठीक-ठाक चल रहा था। मगर एकाएक सब-कुछ बदल गया।

उन्हीं दिनों परसा (जिला छपरा, बिहार) मठ के महंत काशी आये हुए थे। काफी प्राचीन और भारी सम्पत्ति वाला मठ था। महंत के उत्तराधिकारी शिष्य रामउदारदास का कुछ अरसा पहले देहांत हुआ था। उन्हें एक नये उत्तराधिकारी की तलाश थी। संयोग से एक दिन महंत के एक मुकदमे के फैसले का कागज केदारनाथ से पढ़वाया गया। कागज अंग्रेजी में था। केदार ने उसका ठीक-ठीक भावार्थ बता दिया, तो महंत बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने केदार को उत्तराधिकारी बनाने का इरादा कर लिया।

दूसरे के माध्यम से केदार के सामने प्रस्ताव रखा गया। आरंभ में केदार ने अपनी कठिनाइयां बतलायीं। यह भी कहा कि पढ़ाई खंडित हो जायेगी। जब बताया गया कि परसा में भी पंडितों और अध्यापकों की व्यवस्था हो सकती है, तो केदार ने अंत में स्वीकृति दे दी। उन्हें यह भी लगा कि परसा में वे घरवालों से काफी दूर रहेंगे।

सितंबर 1912 के एक दिन केदारनाथ परसा मठ पहुंचे। वहां एक राजकुमार की तरह उनका स्वागत हुआ। हर तरह से उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखा गया। महंत के साईस के लड़के रामदास को उनका खास खिदमतगार नियुक्त किया गया। सवेरे खेतों में शौच के लिए जाते समय रामदास लोटे में पानी लेकर उनके साथ चलता था। उनके खान-पान की भी विशेष व्यवस्था की गयी।

मंत्र-दीक्षा का समय आया। कंठी और 'रां रामाय नमः' का मंत्र देने के अलावा एक और विधि हुई—पीतल में बनी शंखचक्र की मुद्रा को आग में लाल करके केदार के दोनों बाहुमूलों में दागा गया। राहुलजी लिखते हैं—इस विधि का "पता यदि बनारस में लगा होता, तो उतने ही मात्र से मैं परसा का नाम न लेता, लेकिन अब तो वचन देकर बहुत आगे बढ़ चुका था।"

अब केदारनाथ पांडे वैरागी साधु थे, और उनका नया नाम था—रामउदारदास या संक्षेप में रामउदार (रामोदार)।

मठ में रामउदार के आराम का पूरा ध्यान रखा जाता था। नहलाने-धुलाने, पैर दबाने, तेल लगाने आदि के लिए नौकर था। बढ़िया चौबंदी, बारीक धोती और जूते का इंतजाम हुआ। नौकर छाता लगाये चलता था। महंतजी का स्नेह बढ़ता गया। रामउदार ने महंतजी के संप्रदाय के चाल-व्यवहारों को सीखना शुरू कर दिया।

लेकिन वहां पढ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं थी। रामउदारदास "सरस्वती" और अंग्रेजी मासिक "डॉन" के ग्राहक बने। हिंदी और संस्कृत की भी कई पुस्तकें मंगवाईं।

एक दिन पिता और फूफा अचानक परसा पहुंच गये। महंतजी से लौटा देने का वादा करके रामउदार को वे कनैला ले गये। रामउदार अच्छी तरह जानते थे कि उन्हें कनैला से वापस नहीं आने दिया जायेगा। वहां उन पर कड़ी नजर रखी जाने लगी। लेकिन रामउदार इस बार भी घर से भाग निकलने में सफल हो गये। तीन महीने बाद पुन: परसा पहुंचे, तो पहले जैसी दिनचर्या फिर चालू हो गयी। रामउदार अब 20 साल के हो चुके थे।

रामउदार ने मठ के इतिहास और उसकी देशभर में फैली शिष्य-शाखाओं के बारे में बहुत-सी बातें जानीं। उन्हें सम्प्रदाय और धाम-क्षेत्र के बारे में बहुत-सी बातें बताई गयीं। महंतजी ने दक्षिण भारत की अपनी यात्राओं के किस्से सुनाये। वे चाहते थे कि रामउदार मठ की जायदाद के मामलों को समझ ले, संभाल ले। लेकिन रामउदार की उसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। वहां के बौद्धिक अनशन के वातावरण से भाग निकलने के लिए उनका मन छटपटाने लगा।

जुलाई 1913 के एक दिन एक-दो संस्कृत पुस्तकें, दो धोतियां, दो लंगोटियां, गमछा और तीन रुपए साथ लेकर साधु रामउदार एकमा गये, गाड़ी पकड़ी और लखीसराय पहुंचे। आगे एक वकील साहब ने साथ चलने का आग्रह किया। कचहरी की छुट्टियों में वे पुरी, रामेश्वर आदि तीर्थों की यात्रा पर निकले थे। उनके साथ यात्रा करते हुए रामउदार पहले जगन्नाथपुरी और आगे मद्रास तक पहुंच गये। वहां से आगे रामउदार ने अकेले यात्रा की। रेल से पहले सैदापट पहुंचे। वहां से छत्रम् (धर्मशाला) और उत्तरार्धी (उत्तर भारतीय) मठों में ठहरते हुए और पैदल ही यात्रा करते हुए तिरुमलै, पुन्नमलै तथा पच्चपेरुमाल आदि दिव्यदेश (तीर्थस्थान) देखे। अंत में तिरुमिशी (या तिरुमलिशै) के उत्तरार्धी मठ के स्वामी हरिप्रपन्नाचार्य के पास पहुंच गये।

हरिप्रपन्न स्वामी वृंदावन से भागकर खाली हाथ दक्षिण में पहुंचे थे। यहां उन्हें दायक गृहस्थ मिले, चंदा मिला, जिससे उन्होंने यह मठ खड़ा किया था। अब मठ के पास काफी सम्पत्ति थी। हरिप्रपन्न स्वामी के दो शिष्य मठ में उनके साथ रहते थे। उन्होंने रामउदार को भी वहीं रहकर संस्कृत की आगे की पढ़ाई जारी रखने का आग्रह किया।

रामउदार को विचार पसंद आ गया। उन्होंने वहां की संस्कृत पाठशाला में नाम लिखा लिया। यहां की पढ़ाई बनारस से बेहतर और अधिक खुली थी। रामउदार का मन लग गया।

स्वामी हरिप्रपन्न को एक योग्य उत्तराधिकारी की तलाश थी। प्रथम भेंट के दिन से ही उन्होंने रामउदार को पसंद कर लिया था। उन्होंने कई दिन तक इंतजार करने के बाद रामउदार के सामने प्रस्ताव रखा। आरंभ में रामउदार सहमत नहीं हुए, मगर नव्य-न्याय के उनके अध्यापक भागवताचार्य ने भी स्वामीजी के प्रस्ताव का समर्थन किया, तो वे मान गये। फिर से वासुदेव मंत्र दिया गया, बाहुमूलों में शंख-चक्र की मुद्रा दागी गयी। इस दीक्षा के बाद रामउदार तिरुमिशी मठ के उत्तराधिकारी बन गये।

रामउदार तिरुमिशी में करीब चार महीने रहे। पढ़ाई चल रही थी, इसलिए मन भी लगा। फिर दक्षिण के तीर्थों को देखने की योजना बनी। परसा चिट्ठी लिखी, तो वहां से पचीस रुपए भी आ गये। रामउदार ने सर्वप्रथम तिरुपती और बालाजी के दर्शन किये। उसी समय यह भी फैसला किया कि उत्तर भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाना है, तिरुमिशी नहीं लौटना है।

पक्षीतीर्थ, कांचीपुर, रामेश्वर आदि स्थानों की यात्रा करके रामउदार बेंगलूर पहुंच गये। वहां से विजयनगर (हम्पी) के खंडहरों को देखने गये। साधुओं की संगत में रहने से रामउदार अब गांजे और तम्बाकू की चिलम भी पीने लग गये थे। परसा मठ का उत्तराधिकार उनके लिए एक तरह का पासपोर्ट ही था।

तार देने के बाद परसा से और पैसा आ गया तो साधु रामउदार ने आगे पंढरपुर, पुणे, बंबई, नासिक, त्र्यंबकेश्वर, कपिलधारा, ओंकार-मांधाता आदि स्थानों की यात्रा की और उज्जैन पहुंच गये। राहुलजी लिखते हैं- ''महीनों से सैकड़ों स्थानों में 'उतरते', बातचीत करते, अब रीति-रिवाज तथा स्थानीय एवं अभ्यागत साधु के कर्तव्य और अधिकार मुझे मालूम हो गए थे। किसी जगह आने-जाने, मिलने-जुलने, रहने-सहने में कोई संकोच नहीं था। अब दरअसल मैं टकसाली साधु बन गया था।''

आगे रामउदार अहमदाबाद में करीब एक महीना रहे और वहां गुजराती की कुछ पोथियां पढ़ीं। जब डाकोर में थे तो परसा से पैसा आ गया और यह खबर भी- जल्दी चले आओ। वे बिना कहीं रुके सीधे परसा पहुंच गये। वहां बनारस के सहपाठी वरदराज को देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

परसा मठ की जायदाद और जमींदारी के कुछ नये झमेले थे, मगर रामउदार की उनमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। ऐसे कुछ झमेलों को सुलझाने में उन्होंने थोड़ा सहयोग दिया। सन 1914 का साल चल रहा था, और रामउदार अब 21 साल के हो चुके थे।

उसी समय भारतीय पुरातत्व विभाग के दो फोटोग्राफर पुरावस्तुओं के फोटो लेने एकमा आये। वे परसा भी आये और उन्होंने मठ के फोटो लिए। रामउदार ने उनकी मदद की। उसी समय रामउदार का पहला फोटो लिया गया। एक कापी उन्हें भी दी

गयी, मगर बाद में अयोध्या में वह खो गयी। उसी समय रामउदार का एक फोटो घोड़े पर भी लिया गया था।

परसा में मन नहीं लगा तो रामउदार ने पुन: वहां से भाग निकलने की योजना बनायी। वरदराज भी उनके सहयात्री बनने को तैयार हो गये। बिना पैसा-कौड़ी के परसा से निकलकर अयोध्या पहुंच गये। सावन के महीने में वहां बड़ी चहल-पहल थी। करीब एक सप्ताह के बाद वहां की मद्रासी वेदांत पाठशाला में नाम लिखाया। सामवेद का सस्वर पाठ भी शुरू कर दिया।

अयोध्या-निवास के तीन महीनों में रामउदार में काफी परिवर्तन हुआ। पहली वेदांत पाठशाला बंद हो गयी तो उन्होंने दूसरी वेदांत पाठशाला स्थापित करने के प्रयास किये। नजदीक के देवकाली देवीस्थान में नवरात्र के दिनों में बकरों की बलि दी जाती थी। उसे रोकने के लिए रामउदारदास ने दल बनाकर संघर्ष किया। उसमें आर्यसमाजी सब-इंस्पेक्टर और वकील बलदेव बाबू (आचार्य नरेंद्रदेव के पिता) का सहयोग मिला और रामउदारदास की आर्यसमाज में दिलचस्पी बढ़ने लगी।

प्रथम महायुद्ध शुरू हो गया था। रामउदार अखबार पढ़ने लगे। उन्हीं दिनों पहली बार उन्हें भाषण देने के भी मौके मिले। स्वामी दयानंद और आर्यसमाज का नाम बनारस में ही सुन चुके थे। मगर उस समय स्वामी दयानंद के ''सत्यार्थप्रकाश'' को वे ''मिथ्यार्थप्रकाश'' मानते थे।

लेकिन अब अयोध्यावास में आर्यसमाज के प्रति उनके विचारों में परिवर्तन हो रहा था। उन्होंने ''सत्यार्थप्रकाश'' की प्रति प्राप्त की और उसके कई समुल्लास पढ़ डाले। उस समय की अपनी मनस्थिति के बारे में राहुलजी ने लिखा है- ''आर्यसमाज के अतिरिक्त अखबारों द्वारा बाह्यजगत की हवा भी मुझे लग रही थी। मैं अपने अंतस्थल में एक संकीर्ण गड़हिया से निकलकर विशाल जलाशय में जाने की मूकवेदना को अनुभव कर रहा था।''

उसी मनस्थिति में रामउदारदास यानी केदारनाथ ने फूफा को पत्र लिखा। पिता अयोध्या आये और बेटे को अपने साथ कनैला ले गये।

स्वामी दयानंद के भिक्षु

केदारनाथ पिता के साथ कनैला पहुंचे, तब दिवाली के आसपास का समय था। नाती को बेहद प्यार करने वाले, उसके जीवन को दूर तक प्रभावित करने वाले नाना रामशरण पाठक अब इस दुनिया में नहीं थे। केदार जब दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा पर थे, तभी उनका देहांत हो गया था।

पिता समझते थे कि बेटे के सिर से वैराग्य का भूत उतर गया है, और अब वह घर की जिम्मेवारी ले लेगा। बछवल में जाने पर फूफा ने भी पूछा- 'क्व विशेष:', अर्थात्, कहां अच्छा है, वैराग्य में या घर में? यह सच था कि वैराग्य और वेदांत का जोर कम हो जाने से वे शांत नजर आते थे, मगर वह तूफान आने के पहले की शांति थी। सन 1915 का साल था। केदार 22 के हो चुके थे। महायुद्ध की खबरें वे चाव से पढ़ते थे।

प्रयाग का माघ मेला नजदीक आया। यागेश से सलाह हुई। बीस-बाईस रुपए केदार के हाथ लगे। दोनों मेले में पहुंच गये। वहां मेले में पहली बार पं. मदनमोहन मालवीय का भाषण सुना, आर्यसमाजियों के भी भाषण सुने। केदार इधर कई वर्षों से 'सरस्वती' के पाठक थे। नौकरी की तलाश में एक दिन इंडियन प्रेस पहुंच गये। मगर वहां दो-तीन दिन पहले ही एक प्रूफ-रीडर को रख लिया गया था।

केदार की पढ़ने की रुचि देखकर प्रयाग के ही एक बाबू ने सलाह दी- क्यों नहीं आगरा में पंडित भोजदत्त के विद्यालय में चले जाते? वहां खाने और पढ़ने का प्रबंध है, व्याख्यान सिखाया जाता है।

केदारनाथ जनवरी (1915) में एक दिन गाड़ी से आगरा स्टेशन उतरे। वे पहले विद्यालय में और फिर उसके प्रबंधक डाक्टर लक्ष्मीदत्त (पं. भोजदत्त के बड़े बेटे) के घर पहुंचे। वहीं पर साप्ताहिक ''मुसाफिर आगरा'' का दफ्तर था। केदार ने पं. लक्ष्मीदत्त को अपनी योग्यता बताई— 'उर्दू मिडल, काफी संस्कृत और जरा-जरा अंग्रेजी।' पढ़कर आर्यसमाज की सेवा में लगने का केदार से आश्वासन मिल जाने के बाद उन्होंने कहा— 'अच्छा, तो आप जाइए, आप भरती हो गए!'

आर्य मुसाफिर विद्यालय में दो साल का कोर्स था। वहां संस्कृत और अरबी भाषा के अलावा आर्यसमाज के सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती। रोज शाम को शास्त्रार्थ कराया जाता और भाषण देने की विधि बताई जाती। केदार संस्कृत में काफी आगे थे। उन्हें सिर्फ अरबी पढ़नी थी। अरबी मौलवी महेशप्रसाद पढ़ाते थे, जिन्हें सभी लोग 'भाई

साहेब' कहते थे। आगे जाकर केदार के 'भाई साहेब' से बड़े आत्मीय संबंध स्थापित हो गये।

थोड़े ही दिनों में केदारनाथ शास्त्रार्थ में और भाषण देने में काफी पारंगत हो गये। रोज "मुसाफिर आगरा" के दफ्तर में जाकर दो-तीन घंटे अखबार पढ़ते। उसी वर्ष, 1915 के अंतिम दिनों में "मुसाफिर आगरा" में केदारनाथ विद्यार्थी के भी लेख छपने शुरू हो गये। उसी साल केदारनाथ का पहला हिंदी लेख मेरठ के मासिक "भास्कर" के दो अंकों मे छपा। उस लेख में उन्होंने वर्णन किया था कि अयोध्या में साधुओं के पास गृहस्थ लोग किस तरह के मंत्र लेने पहुंचते हैं।

केदारनाथ अब अपने को 'दयानंद का भिक्षु' समझते थे। अब वे पक्के आर्यसमाजी थे और वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे। वे जगह-जगह जाकर भाषण देते थे और शास्त्रार्थ में भी भाग लेते थे। जबलपुर में सितंबर 1915 में मुसलमानों के साथ हुए ऐसे एक शास्त्रार्थ में केदारनाथ ने संस्कृत-सहायक के रूप में आर्यसमाज की ओर से भाग लिया था।

उसी साल के अंत में केदारनाथ ने आगरा के एक प्रेस को प्रति सिपारा (अध्याय) ढाई रुपए के हिसाब से कुरान की अरबी आयतों को नागरी अक्षरों में और हिंदी में उनका अनुवाद लिखकर देना स्वीकार कर लिया। जब पता चला कि प्रेस वाला ठग रहा है, तो दो सिपारों से आगे का मैटर नहीं दिया। कुछ वर्षों बाद केदारनाथ ने कानपुर में उन्हीं दो सिपारों को बिकते देखा, उनके नाम के बिना!

केदारनाथ अपने घर से भले ही संबंध न रखना चाहते हों, परंतु यागेश के साथ उनका सम्पर्क बराबर बना रहता था। कहीं भी रहें, वे यागेश को पत्र लिखते रहते थे। यागेश भी उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। केदारनाथ ने आगे की पढ़ाई के लिए लाहौर जाने का निश्चय किया था, किंतु उसके पहले ही यागेश आगरा पहुंचकर मुसाफिर विद्यालय में दाखिल हो गये थे।

केदारनाथ रास्ते के कई स्थानों की सैर करते हुए अंत में आर्यसमाज के गढ़ लाहौर में पहुंच गये और वहां खुशहालचंद 'खुर्सन्द' का आश्रय पाने के बाद, सप्ताह के भीतर ही, डी.ए.वी. कालेज के संस्कृत विभाग में भरती हो गये, विशारद श्रेणी में। कुछ दिन बाद एक छात्रवृत्ति मिली और वे कालेज के छात्रावास 'वैदिक आश्रम' में दाखिल हो गये।

लाहौर में नये व्यक्तियों से संबंध जुड़े। आगरा में परिचित हुए बलदेव चौबे (स्वामी सत्यानंद सरस्वती), जो बाद में केदारनाथ के गहरे मित्र बने, लाहौर पहुंच गये थे। कुछ समय बाद भाई महेशप्रसाद भी वहां आ गये। उन्हीं दिनों पं. संतरामजी से केदारनाथ की पहले-पहल मुलाकात हुई थी। उसी समय वे पं. भगवद्दत्त के भी सम्पर्क में आये। एक दिन केदारनाथ ने जोश में आकर उनके सामने कह दिया- "मैं दयानंद के एक-एक वाक्य को वेदवाक्य मानता हूं।" सहमत होते हुए भी भगवद्दत्तजी ने समझाया- 'इतनी जल्दी नहीं कीजिए। पहले पढ़कर देखिए तो।'

कालेज गर्मी (1916 ई.) की लंबी छुट्टियों के लिए बंद हो गया, तो केदारनाथ पुनः सैर-सपाटे के लिए निकले। कालेज के विद्यार्थी ईशानंद के साथ उनके गांव बिरालसी पहुंचे। वहां एक गुरुकुल भी था। आमों के मौसम तक वहां रहने के बाद मुजफ्फरनगर पहुंचे, तो आगरा से भाई साहेब का पत्र आया। वहां पहुंचने पर भाई साहेब ने प्रस्ताव रखा– 'वैदिक मिशनरी तैयार करने के लिए कोई गंभीर कदम उठाने का समय अब आ गया है। चंदा वसूली की संभावनाओं को देखने के लिए युक्तप्रांत (उत्तर-प्रदेश) का दौरा करना होगा।'

भाई साहेब की बात को टालना संभव नहीं था। केदारनाथ इटावा तथा कानपुर की यात्रा करके लखनऊ आर्यसमाज में पहुंचे। वे खास-खास लोगों से बातचीत करते, कहीं-कहीं व्याख्यान भी देते। लखनऊ में बौद्ध विहार होने के बारे में पता चला, तो एक शाम वहां जाकर वे स्वामी बोधानंदजी से मिले और उनसे पालि बौद्ध साहित्य के बारे में जानकारी प्राप्त की। उस संक्षिप्त मुलाकात ने आगे जाकर केदारनाथ के जीवन के विकास में बड़े महत्व की भूमिका अदा की।

अमेठी और प्रतापगढ़ होते हुए केदार बनारस पहुंचे। वहां पहुंचने के पहले उन्होंने यागेश को पत्र लिख दिया था। एक दिन यागेश, उनके छोटे भाई श्यामलाल को लेकर, बनारस आ धमके। उनके आग्रह पर केदार कनैला गये। मगर कुछ ही दिन बाद वहां से भाग निकले और अहरौरा (मिर्जापुर) जाकर एक आर्यसमाजी के घर टिक गये। कुछ दिनों बाद भाई साहेब का महेशपुरा जाने के लिए पत्र मिला, तो गाड़ी पकड़ने के लिए अहरौरा-रोड़ स्टेशन पहुंचे। थोड़ी देर बाद देखा कि पिताजी भी प्लेटफार्म पर पहुंच गये हैं, हांफ रहे हैं। उन्हें अहरौरा से किसी ने केदार के बारे में सूचना दे दी थी।

पुजारीजी प्लेटफार्म पर ही फूट-फूट कर रोने लगे। लोग जमा हो गये। तब केदार ने पिता के साथ बनारस जाना ही ठीक समझा। रास्ते भर और बनारस स्टेशन पहुंचने पर केदारनाथ पिता को समझाते रहे– "मैं कनैला के अयोग्य हूं। मैं आपके काम का नहीं रहा। .... अब जोर देने का भयंकर परिणाम होगा, आपको मेरे जीवन से हाथ धोना होगा।"

पिता के मन पर असर होता दिखाई दिया। पर उन्होंने भी चकित कर देने वाला उत्तर दिया– 'अब मैं तुम्हारे रास्ते में बाधक नहीं होऊंगा। किन्तु साथ ही मैं कनैला न जाकर यहीं बनारस ही में अपने जीवन को बिता दूंगा।' पहली बात का उन्होंने पूरा-पूरा पालन किया।

पिता-पुत्र की यही अंतिम भेंट थी। केदार ने भी प्रतिज्ञा की– "पचास साल की उम्र पूरी होने तक आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर कदम नहीं रखूंगा।" उस समय केदार का 24वां साल चल रहा था।

केदारनाथ महेशपुरा पहुंचे। दतिया, जालौन, काल्पी आदि स्थानों वाले इस इलाके

में डाकुओं का बोलबाला था। आर्यसमाज-प्रेमी एक गृहस्थ की सहायता से केदारनाथ ने महेशपुरा में एक विद्यालय शुरू कर दिया। आसपास के स्थानों से चंदा भी वसूल किया गया। लेकिन विद्यालय ठीक से नहीं चला, तब उसे काल्पी ले जाया गया। किंतु वहां भी विद्यालय की आर्थिक अवस्था नहीं सुधरी।

उसी दौरान महंतजी का तार आने पर केदारनाथ, साधु रामउदारदास बनकर, परसा पहुंचे। वहां कुछ दिन रहकर जायदाद-जमींदारी के मामलों को सुलझाया और पुनः काल्पी वापिस आ गये। फिर जबलपुर जाकर वेद-मध्यमा की परीक्षा दी और उसमें प्रथम श्रेणी में पास हो गये।

सन 1918 के आरंभिक महीने थे। उस समय तक रूसी मजदूर क्रांति की काफी खबरें केदारनाथ के कानों तक पहुंच चुकी थीं। उसी के आधार पर उन्होंने साम्यवादी जगत की एक कल्पना अपने दिमाग में बना ली थी। उतना ही नहीं, उस विषय पर एक पुस्तक लिखने के लिए उसका एक खाका भी बना लिया था। बाद में वह खो गया। अंत में वह काम "बाईसवीं सदी" पुस्तक के रूप में 1923 में हजारीबाग जेल में पूरा हुआ।

काल्पी का विद्यालय स्थगित कर दिए जाने पर केदारनाथ शास्त्री परीक्षा की तैयारी करने के लिए अयोध्या गये। उसी समय सर्वे के काम में सहायता देने के लिए महंतजी का बुलावा आया। बैरागी साधु रामउदारदास बनकर केदारनाथ को पुनः परसा जाना पड़ा। सर्वे का काम खत्म हो जाने पर महंतजी ने फिर महंती की लिखा-पढ़ी की बात उठायी, मगर केदारनाथ ने महंती लेने से साफ इनकार कर दिया । वहां से वे सीधे लाहौर चले गये।

केदारनाथ ने लाहौर में शास्त्री परीक्षा की तैयारी की। 5 अप्रैल (1919 ई.) को परीक्षा समाप्त हुई। चार दिन बाद केदार पूरे 26 साल के हो गये। पर्चे अच्छे हुए थे, मगर उस साल लाहौर के डी.ए.वी. कालेज से शास्त्री की परीक्षा में एक भी विद्यार्थी पास नहीं हुआ।

छह अप्रैल को केदारनाथ लाहौर में ही थे। उस दिन भारत के अन्य शहरों की तरह लाहौर में भी बड़ी धूमधाम से रोलट-एक्ट विरोधी-दिवस मनाया गया। अगले दिन केदार कानपुर के लिए रवाना हो गये। मगर रास्ते में ही उन्हें 13 अप्रैल को अमृतसर में हुए जलियांवाला हत्याकांड के बारे में खबर मिल गयी । उसके बाद पंजाब में मार्शल-ला लागू हो गया। फिर भी, मार्शल-ला के उन्हीं दिनों में केदारनाथ घूमते-फिरते पुनः एक बार लाहौर पहुंचे।

लाहौर की गर्मी में परेशान होकर बरसात के आरंभिक दिनों में केदारनाथ चित्रकूट की छाया में कर्वी के एक मठ में जाकर ठहर गये। वहां रहकर उन्हें काशी की न्याय-मध्यमा और कलकत्ता की मीमांसा-प्रथमा परीक्षाओं की तैयारी करनी थी। अगले साल (1920 ई.) मार्च में प्रयाग और जबलपुर जाकर ये परीक्षाएं देने के बाद पुनः शास्त्री परीक्षा देने के लिए लाहौर पहुंच गये। बुखार था, उसी हालत में परीक्षा दी।

फिर घुमक्कड़ी का भूत सवार हो गया। राहुलजी लिखते हैं - "कई सालों से जमा होते भावों ने बुद्ध के प्रति मेरे दिल में परम श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। इधर उनकी जीवनियों के पढ़ने से बुद्ध के जीवन से संबंध रखने वाले स्थानों के दर्शन के लिए उत्सुकता बढ़ी थी, अब के तै किया उन्हें देखने का।" जलंदर उतरकर संतरामजी से मिले और उनसे वादा किया कि कन्या महाविद्यालय की मुखपत्रिका "भारती" के लिए यात्रा-संबंधी लेख भेजते रहेंगे।

अप्रैल 1920 में केदारनाथ की, या कहिए कि साधु रामोदारदास की, बौद्ध तीर्थों की यात्रा का अभियान आरंभ हुआ। पैसा-धेला पास में कुछ नहीं था। पास में कपड़े थे- पतले कंबल की घुटने से थोड़ा नीचे तक की अल्फी, दो लंगोटियां और एक गमछा। पानी पीने के लिए लौकी का एक कमंडल था। पैर और सिर नंगे। साथ में एक-दो पुस्तकें। बस!

बुखार की हालत में ही रामोदारदास बनारस पहुंचे। दवा ली। सारनाथ गये। अशोकस्तंभ और ध्वंसावशेष देखे। अभी वहां संग्रहालय और मूलगंधकुटी विहार नहीं बना था। आगे देवरिया होकर कसया (कुशीनगर) जाने के लिए आजमगढ़ जिले को टालना था। इसलिए छपरा के रास्ते गये, तो एक-दो दिन के लिए परसा में भी ठहरे। देवरिया से पैदल ही कसया पहुंचे। बैरागी मठ में ठहरे। बुद्ध का निर्वाणस्थान देखा। महास्थविर चंद्रमणि बाबा से मिले। सोई हुई बुद्ध की विशाल मूर्ति को पूजने में आर्यसमाजी विचार बाधक नहीं बने।

रेलयात्रा बिना टिकट के होती थी। ठहरने के लिए वैष्णव मठ प्रायः मिल ही जाते थे। पैसा पास न होने पर भी खाने-पीने का कष्ट नहीं होता था। रामोदारदास ने नेपाल की सीमा के पास पहुंचकर रुम्मिनदेई (लुम्बिनी), तिलौराकोट (कपिलवस्तु), पिपरहवा तथा निगलिहवा आदि स्थानों के पुरावशेष देखे। उसी समय साधु रामोदारदास ने नेपाली साधुओं और उनके साथ रहने वाली योगिनियों के जीवन को नजदीक से देखा। उनकी संगत में उन्हें भी भांग-गांजे का शौक हो गया था। रक्सौल पहुंचने पर नेपाल जाने का प्रयास किया, मगर उस समय जाना संभव नहीं हुआ।

रामोदारदास उत्तरी बिहार के बौद्ध स्थानों को देखने के बाद नालंदा पहुंचे। आर्यसमाज के विद्यालयों के लिए काम करते समय नालंदा का आदर्श उनके सम्मुख रहता था। चीनी यात्रियों- फाहियान, युवान्-च्वाङ् तथा इत्सिङ्- के विवरणों को उन्होंने ध्यान से पढ़ा था। काल्पी में रहते फाहियान के विवरण के आधे भाग का अनुवाद भी किया था, जो बाद में कहीं खो गया। बौद्ध तीर्थों की इस यात्रा के बारे में रामोदार साधु ने अपने कुछ लेख "भारती" को भेजे।

रामोदारदास नालंदा संग्रहालय देखने गये। वहां डा. हीरानंद शास्त्री (अज्ञेय के पिता) ने उन्हें खुदाई से निकली नयी चीजें दिखलायीं। वहां से रामोदार साधु पहले राजगिर और फिर गया-बोधगया गये। आगे दर्जनों बार उनका गया-बोधगया जाना हुआ। बोधगया का महाबोधि मंदिर बौद्धों को मिले. इसके लिए उन्होंने प्रयास भी किये।

भागलपुर में एकाध महीना रहकर रामोदारदास नदिया (नवद्वीप) पहुंचे। वहां के मठों और मंदिरों को देखा। न्यायशास्त्र के कुछ पंडितों से भी भेंट की। वहां के मच्छरों की फौज के हमले से आहत होने पर कलकत्ता का रास्ता पकड़ा। वहां देखने के लिए नया कुछ नहीं था। पुरी और तिरुपती-बालाजी के दर्शन करते हुए सात वर्ष बाद पुनः तिरुमिशी पहुंचे— सितंबर 1920 के शुरू में।

आगे करीब छह महीने रामोदारदास तिरुमिशी में स्वामी हरिप्रपन्नाचार्य के मठ में रहकर वहां के विद्वानों से वेदांत और मीमांसा के ग्रंथ पढ़ते रहे। उन्हीं दिनों उन्होंने तमिल भाषा के भी कुछ रीडर पढ़े। स्वामी हरिप्रपन्न सात वर्ष पहले ही उन्हें दीक्षित कर चुके थे। वे चाहते थे कि रामोदारदास उत्तराधिकारी की हैसियत से मठ का संचालन-भार संभाल लें। रामोदारदास ने उसके लिए अपने को अयोग्य बताया। उनके राजनीतिक उग्र विचारों का स्वामीजी को भी पता चल गया था, इसलिए उन्होंने भी ज्यादा जोर नहीं दिया।

तिरुमिशी छोड़ने के बाद आगे के चार महीने रामोदारदास ने कुर्ग में प्रकृति के रमणीय वातावरण में गुजारे। वे रोज 'हिन्दू' पढ़ते थे और उनकी राजनीतिक भावनाएं अब उभड़ने लगी थीं।

उसी वक्त यागेश का पत्र आया, जिसमें पिताजी (गोवर्धन पांडे) के देहांत का समाचार था। बाप की मृत्यु पर बेटे की आंखों से दो आंसू भी नहीं निकले!

दस साल बाद, 1930 ई. में, अपनी पहली प्रमुख कृति 'बुद्धचर्य्या' अपने पिताश्री को समर्पित करते हुए राहुलजी ने लिखा— "मेरे गृहत्याग से जिनके अवार्धक्य जीवन के अंतिम वर्ष दु:खमय बन गए, उन्हीं सांकृत्य-सगोत्र, मलांव-पांडेय, स्वर्गीय पिता श्री गोवर्धन की स्मृति में।"

रामोदारदास ने कुर्ग से प्रस्थान किया और आगे राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने का निश्चय कर लिया।

राजनीतिक कार्य

जून 1921 का एक दिन। छपरा की कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में जिले के राजनीतिक कार्यकर्ता दरी पर बैठकर विचार-विमर्श कर रहे थे। उसी समय खद्दर का अंचला पहने एक तरुण साधु हाथ में कमंडल लिए नंगे सिर, नंगे पैर दफ्तर में दाखिल हुए और जाकर दरी पर एक ओर बैठ गये। थोड़ी देर बाद साधु ने अपना परिचय दिया- रामोदारदास। राजनीतिक सेवा के लिए वहां पहुंचने के बारे में वे पहले ही पत्र भेज चुके थे।

उस दिन वहां एकत्र किसी भी कार्यकर्ता को इस बात का तनिक भी अनुमान नहीं था कि अगले पांच वर्षों में साधु रामोदारदास जिले के ही नहीं, बल्कि प्रांत के एक प्रमुख और प्रभावशाली नेता बन जाएंगे। इसलिए, उस दिन उन्होंने रामोदारदास की उपस्थिति को कुछ भी महत्व न दिया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

वे असहयोग आंदोलन के दिन थे। गांधीजी ने असहयोग आंदोलन चलाकर एक साल के भीतर 'स्वराज्य' हासिल करने का जनता को विश्वास दिलाया था। रामोदारदास ने भी उसमें अपना योगदान देने का निश्चय किया। अपने आजमगढ़ जिले में वे जा नहीं सकते थे। अत: राजनीतिक सेवा के लिए बिहार के छपरा जिले को चुना और पहुंच गये परसा में। परसावालों को पहली बार अपने रामउदार बाबा का व्याख्यान सुनने को मिला। रामोदारदास ने एकमा को अपने कार्य का केंद्र बनाया।

उसी साल सितंबर में भारी बाढ़ आयी और छपरा शहर डूबने की हालत में पहुंच गया। रामोदार बाबा ने बाढ़-पीड़ितों की सेवा के लिए अथक परिश्रम किया। नावों से लोगों को सुरक्षित स्थानों पर पहुंचाया, छतों तथा दरख्तों पर भूखे बैठे लोगों तक अन्न पहुंचाया, सहायता-कैंप चलाये। बाबा ने आगे-आगे बढ़कर काम किया। कमर भर पानी में चलकर लोगों तक पहुंचे, अन्न के बोरे सिर पर ढोकर पीड़ितों तक पहुंचाए। एक कार्यकर्ता ने कहा भी- 'बाबा तो साम्यवादी हैं।'

बाबा के प्रयासों से एकमा में एक नयी जागृति आयी। वहां एक गांधी विद्यालय खोला गया। बाबा अपने भाषण छपरा की बोली (मल्ली या भोजपुरी) में ही देते थे, इसलिए जनता को बड़ा प्रभावित करते थे। अब वे 'बाबा' के नाम से जाने जाते थे और कंबल की काली अल्फी (बिना बांह का फकीर का लंबा कुर्ता) पहनते थे।

छपरा में 31 जनवरी (1922) को बाबा रामोदारदास के सभापतित्व में जिला कांग्रेस कमेटी की बैठक हो रही थी, तब पुलिस आकर उन्हें गिरफ्तार करके ले गयी।

जेल में जाने का उनका यह पहला अनुभव था। कुछ दिन बाद मुकदमा चला। छह मास की सादी सजा सुनाई गयी। बाबा ने 'धन्यवाद' कहा। दो सिपाही उन्हें लेकर बक्सर के लिए रवाना हुए। सिपाहियों के पास हथकड़ियां थीं। हथकड़ी डलवाने के लिए बाबा का मन मचल गया। उनके आग्रह पर सिपाही ने थोड़ी देर के लिए हथकड़ी उनके हाथ में डाल दी। बाबा को बचपन में नाना द्वारा पहनाए गये चांदी के कड़े याद आ गये!

बक्सर जेल में छह महीने का समय मनोरंजन और पढ़ाई–लिखाई में गुजरा। बाबा ने वहां भारतेंदु के नाटक 'अंधेर नगरी' का न केवल आयोजन किया, बल्कि उसमें पार्ट भी लिया।

उन्हीं दिनों रामोदारदास को त्रोत्सकी की पुस्तक 'बोल्शेविकी और संसार-शांति' अंग्रेजी में पढ़ने को मिली थी। रूसी क्रांति और साम्यवाद के बारे में छुट-पुट लेख पढ़ते ही आ रहे थे। काल्पी में रहते साम्यवादी समाज के बारे में नोटबुक में एक खाका बनाया था। इस बार उसे संस्कृत छंदों में लिखना शुरू किया। उसमें एक युवा तपस्वी विश्वबंधु को हिमालय की ओर भेजा गया था, इसलिए नाम दिया- 'विश्वबंधुप्रदीप'। मगर उस समय वह पुस्तक पूरी नहीं हुई। हजारीबाग की दूसरी जेलयात्रा में वह पुस्तक ''बाईसवीं सदी'' के नाम से हिंदी में लिखी गयी।

उसी पहली जेलयात्रा में रामोदारदास ने कुरान का भी संस्कृत में अनुवाद किया था, जिसे दूसरी जेलयात्रा में हिंदी में किया गया। उन्हीं दिनों कुरान के साथ-साथ वेदांत-सूत्रों की हिंदी टीका भी तैयार हुई थी, जो बाद में नहीं मिली।

बक्सर जेल से बाहर आने के कुछ ही महीने बाद बाबा रामोदारदास को छपरा जिला-कांग्रेस का मंत्री चुना गया। उस साल दिसंबर (1922) में कांग्रेस अधिवेशन गया में होने वाला था। देशबंधु चित्तरंजन दास गया-कांग्रेस के प्रेसिडेंट चुने गये थे। रामोदारदास पं. मोतीलाल नेहरू की स्वराज्य पार्टी की परिवर्तनवादी नीति के समर्थक थे। उन्होंने अपने कार्यकर्ताओं के साथ कांग्रेस में सक्रिय भाग लिया। अब वे जात-पांत और छुआछूत का खुलकर विरोध करने लगे थे। उन्होंने गया में ''सुदामा भोजनालय'' खुलवाया। उसी समय उनके प्रयास से सोनपुर में प्रांतीय किसान सभा की स्थापना हुई।

रामोदारदास के प्रयास से प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने उनका यह प्रस्ताव पास कर दिया था कि बोधगया का महाबोधि मंदिर बौद्धों को मिल जाना चाहिए, परंतु गया-कांग्रेस में उस प्रस्ताव को आने ही नहीं दिया गया! उस अवसर पर उन्होंने बर्मा और श्रीलंका के कई बौद्ध भिक्षुओं को गया बुलाया था और उनके पालि, संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषणों का अनुवाद किया था, जिससे लोग उन्हें बहुभाषाविद मानने लगे थे। महाबोधि मंदिर के बारे में बाबा रामोदारदास का प्रस्ताव भले ही पेश न हुआ हो, परंतु उस समय से वे अपने को बौद्ध धर्म के अधिक निकट समझने लगे।

राहुलजी के जीवन की यह एक बहुत बड़ी खूबी रही कि वे एक काम के पूरा होते ही दूसरे में जुट जाते थे, एक क्षेत्र को छोड़कर एकाएक दूसरे क्षेत्र में पहुंच जाते थे। ''सैर कर दुनिया की गाफिल'' के मंत्र ने उन्हें कभी भी एक स्थान पर लंबे समय तक टिकने नहीं दिया।

फरवरी 1923 के आरंभ में साधु 'रामोदारदास' नेपाल-यात्रा के लिए रवाना हुए। महेंद्रनाथसिंह को साथी चुना। रक्सौल पहुंचने के बाद आगे की यात्रा पैदल हुई। शिवरात्रि के दिन थे, इसलिए बहुत से यात्री पशुपतिनाथ के दर्शन के लिए जा रहे थे। चढ़ाई और उतराई के बाद थापाथल्ली (काठमांडू) पहुंचकर वहां के वैरागी मठ में रामोदारदास ने अपना आसन लगाया। उनकी कीर्ति उनके पहले ही वहां पहुंच गयी थी। मठ के महंत ने उनके खाने-रहने की अच्छी व्यवस्था कर दी। राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा भी मिलने आए। एक दिन प्रधानमंत्री चंद्रशमसेर थापाथल्ली आए, तो उनसे भी भेंट-वार्ता हुई।

साधु रामोदारदास शिवरात्रि के बाद भी कुछ और दिन एक अन्य स्थान पर नेपाल में रहे। करीब डेढ़ महीने की उस नेपाल-यात्रा में उन्होंने वहां के कई ऐतिहासिक-धार्मिक स्थान देखे, कुछ बौद्ध पंडितों से मिले, राजगुरु पं. हेमराज शर्मा के ग्रंथागार को भी देखा। उन दिनों भीमफेरी से काठमांडू तक रोप-लाइन तैयार हो रही थी। उसी के साथ-साथ के पहाड़ी रास्ते से रामोदारदास और उनके साथी भीमफेरी लौटे। आगे के पड़ाव से साथी बिछड़ गया। रामोदारदास बुखार में थे। पास में एक भी पैसा नहीं था। किसी तरह रक्सौल पहुंचे। साथ के दो बर्तन दूकानदार को बेचकर करीब ढाई रुपए पाये। रेल का टिकट लेकर छपरा के लिए रवाना हो गये।

नेपाल-यात्रा के कुछ दिन पहले पटना की एक सार्वजनिक सभा में राजेंद्र बाबू के बाद रामोदार साधु का भी भाषण हुआ था। नेपाल से लौटने पर पता चला कि उनकी गिरफ्तारी का वारंट निकला है। साथियों ने जेल जाने की बजाए वहां से हट जाने की सलाह दी। रामोदारदास ने गिरफ्तार होना पसंद किया और पुलिस को सूचना दे दी। देशद्रोह का मुकदमा चला, दो साल की सादी कैद की सजा हुई। आगे के दो साल (अप्रैल 1923 से अप्रैल 1925) साधु रामोदार ने बक्सर और हजारीबाग की जेलों में गुजारे।

जेल में लिखने-पढ़ने का अच्छा अवसर मिला। जेल के साथियों में एक थे शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ, जो गणित के भी अच्छे ज्ञाता थे। रामोदारदास ने संस्कृत, अंग्रेजी और गणित के कई ग्रंथ प्राप्त किए और शंकराचार्य की मदद से उच्च बीजगणित, गोलीय त्रिकोणमिति, निर्देशांक ज्यामिति आदि विषयों का मन लगाकर कई महीनों तक अध्ययन किया।

शंकराचार्य छूटकर चले गये, तब रामोदारदास ने ''बाईसवीं सदी'' को हिंदी में लिख डाला। यह राहुलजी की हिंदी में प्रकाशित पहली पुस्तक थी, जो बाद में खूब लोकप्रिय हुई।

उसके बाद रामोदारदास ने ज्योतिष की एक पुस्तक में हाथ लगाया, और उसके लिए खगोल-चित्र बनाये। यह पुस्तक अगली हजारीबाग जेल-यात्रा में "विश्व की रूपरेखा" बनी।

इस प्रकार दो साल की जेलयात्रा पूरी हुई। राहुलजी लिखते हैं- "दो वर्ष इतनी जल्दी बीत गए कि मुझे मालूम न हुआ। उससे पहिले जिंदगी के किन्हीं दो वर्षों में दत्तचित्त हो पढ़ने-लिखने में इतना व्यस्त नहीं रहा। लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त कुछ फ्रेंच और अवेस्ता का भी मैंने अभ्यास किया। वैज्ञानिक दृष्टि और विकसित हुई। आर्यसमाज के विचारों की कट्टरता कम होने लगी, और बौद्ध धर्म की ओर झुकाव बढ़ा। वेद की निर्भ्रांतता पर संदेह होने लगा, किंतु ईश्वर पर विश्वास अब भी था।"

18 अप्रैल (1925 ई.) को साधु रामोदार हजारीबाग जेल से बाहर आये, तो उनके जीवन के 32 साल पूरे हो चुके थे। सबसे पहले उन्होंने छपरा जिले का दौरा किया। मीरगंज (हथुआ) स्टेशन पर उतरे, तो पता चला कि हिंदू-मुसलमान का झगड़ा शुरू हो गया है— झंडा-जुलूस के मामले को लेकर। हिंदू ज्यादा थे, मुसलमान कम। साधु रामोदार ने कस्बे में जगह-जगह पहुंचकर नि:शस्त्र मुसलमानों की रक्षा की, कई मुसलमानों के शरीर को अपने शरीर से ढांककर बचाया। राहुलजी लिखते हैं- "मेरी काली अल्फी, मेरा नाम, और मेरा राष्ट्रीय कार्य लोगों को मालूम था, इसलिए किसी ने मेरे शरीर में हाथ लगाने की हिम्मत न की।"

उन्हीं दिनों बोधगया मंदिर के बारे में एक कमेटी बनी। राजेंद्र बाबू उसके सभापति थे। सदस्यों में साधु रामोदार और काशीप्रसाद जायसवाल भी थे। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट दी। रामोदारदास की राय थी कि मंदिर बौद्धों को सौंप दिया जाये।

उस साल (1925) की कानपुर-कांग्रेस के लिए साधु रामोदारदास प्रतिनिधि और ऑल इंडिया कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे। अधिवेशन बड़ा फीका रहा। रामोदारदास अपने मित्र बलदेव चौबे के साथ मेरठ चले गये। मेरठ में ही पहली बार ब्रह्मचारी हरिनामदास— बाद के भिक्षु आनंद कौसल्यायन—से उनकी भेंट हुई। आगे जाकर दोनों में चिर-भ्रातृत्व के संबंध स्थापित हुए। उस समय हरिनामदास के कहने पर साधु रामोदार ने उन्हें एक आदर्श-वाक्य लिखकर दिया था- 'असिना गीतया चैव जयिष्ये भुवनत्रयम्'।

इससे स्पष्ट है कि उस समय तक राहुलजी का ईश्वर में विश्वास डिगा नहीं था, तिलक के 'गीतारहस्य' का असर कायम था, और अहिंसा की बजाए असि (तलवार) के सिद्धांत में उनकी ज्यादा आस्था थी।

जनवरी 1926 के आरंभ में साधु रामोदार ने हिमालय-यात्रा पर जाने का तय किया और वे दिल्ली होते हुए लाहौर पहुंच गये। वहां कुछ दिन रहकर "बाईसवीं सदी" के कुछ अध्याय उर्दू में लिखे, जो "मिलाप" में छपे। आगे वे रावलपिंडी होते हुए खैबर में लंडीकोतल तक गये। उस समय साधु रामोदार गेरुआ लुंगी और चद्दर में रहते थे, और उस पूरी यात्रा में निरामिषाहारी ही बने रहे।

लदाख की यात्रा का परमिट मिला और वहां के इंजीनियर लाला रामरखामल ने भरपूर मदद की, इसलिए साधु रामोदार की कर्गिल, लदाख, हेमिस और आगे की यात्रा आराम से हुई। लेह की यात्रा के बाद वे 5,600 मीटर की ऊंचाई पर खर्दोङ् ला (जोत) पार करके नुब्रा उपत्यका भी देख आये। वे अपनी इस यात्रा से संबंधित लेख बिहार की पत्रिकाओं को लगातार भेजते रहे। खर्दोङ् की चढ़ाई और आगे की यात्रा का वर्णन राजेंद्र बाबू को इतना पसंद आया कि उन्होंने साधु रामोदारदास के लदाख-यात्रा संबंधी लेखों को पुस्तकाकार छापने के लिए बनारस के अपने एक मित्र को पत्र लिख डाला। बाद में सारे प्रकाशित-अप्रकाशित लेख 'मेरी लदाख-यात्रा' में संगृहीत हुए।

लदाख के तहसीलदार ने अपने चपरासी गंगाराम को रामोदारदास की सेवा के लिए उनके साथ कर दिया था, इसलिए हन्ले की यात्रा के बाद पश्चिमी तिब्बत के छु-मूर्ति इलाके को देखते हुए कनौर के रास्ते लौटने में उन्हें कोई विशेष परेशानी नहीं हुई।

सिंधुतट के पास के प्रदेश में यात्रा करते समय साधु रामोदार ने भेड़ों और गदहों पर सामान लादकर जानेवाले स्त्रियों-पुरुषों के एक झुंड को देखा, तो सोचने लगे- "क्या ही अच्छा होता, कि मैं भी इसी तरह कुछ भेड़ों, एक-दो गदहों और एक तिब्बती तरुणी के साथ एक जगह से दूसरी जगह घूमता फिरता। जहां पन आता वहां तंबू लगाता। तरुणी और मैं मिलकर गदहों और भेड़ों से सामान उतारते। दो बड़े कुत्ते हमारी चीजों की रखवाली करते। तरुणी चाय बनाती, फिर उस निर्जन निर्वृक्ष नंगी पार्वत्य उपत्यका में हम दोनों एक निर्द्वन्द्व विचित्र-सा जीवन बिताते।"

उसी यात्रा की एक करुण घटना है। रामोदारदास अपने पास एक बड़ा कुत्ता रखना चाहते थे। हन्ले के लामा ने ल्हासा से आई एक बढ़िया पेकिनी (चीनी) कुतिया उन्हें भेंट की। सेङ् -टुक उसका नाम था। रामोदारदास ने उसका बहुत ख्याल रखा। मगर लौटती यात्रा में कुछ दिन बाद उसने खाना-पीना छोड़ दिया और प्राण त्याग दिये। अपनी उस समय की मानसिक पीड़ा को व्यक्त करते हुए राहुलजी ने लिखा है- "माता और पिता के मरने पर, और मेरे लिए प्राण देनेवाले नाना-नानी के मरने पर भी, जो आंखें नहीं पसीजीं, उनमें आज छल-छल आंसू उमड़ आ रहे थे। उसी रात को मैंने सेङ्-टुक की मृत्यु के कारण अतिसंतप्त हृदय से आठ श्लोक (सेङ्-टुकाष्टक) लिखे, जिनका अंत होता था- 'सेङ्-टुके! त्वत्प्रयाणे'।"

शिमला पहुंचने के बाद रामोदारदास वहां से जल्दी ही छपरा के लिए रवाना हो गये। कौंसिल के चुनाव (1926 ई.) की सरगर्मी थी। रामोदारदास ने जगह-जगह जाकर कांग्रेसी उम्मीदवारों के समर्थन में भाषण दिये। वे अपने भाषण छपरा की बोली में देते थे। अक्सर उसी सभा में राजेंद्र बाबू का भी भाषण होता था। मगर जनता की भाषा में होने के कारण रामोदार बाबा के भाषणों का जनता पर ज्यादा असर पड़ता।

चुनाव के उन्हीं दिनों में धूपनाथ के रूप में राहुलजी को एक स्थायी मित्र मिल गये। उस साल का कांग्रेस का अधिवेशन गोहाटी मे हुआ। धूपनाथ साथ गये। ब्र. हरिनामदास भी गोहाटी पहुंच गये थे।

गोहाटी से लौटने पर बाबा रामोदारदास का मन आगे राजनीति में नहीं रमा। लदाख-यात्रा के बाद बौद्ध धर्म के अध्ययन की उनमें तीव्र इच्छा जगी थी। इसके लिए उन्हें श्रीलंका जाने का जल्दी ही सुअवसर मिल गया।

श्रीलंका में अध्ययन-अध्यापन

श्रीलंका, जिसे सिंहल भी कहते हैं, एक हरा-भरा खूबसूरत द्वीप है। सम्राट अशोक के समय में ही वहां बौद्ध धर्म पहुंच गया था। बौद्ध धर्म के कारण वहां पालि और संस्कृत भाषाओं के पठन-पाठन की प्राचीन काल से ही परंपरा रही है। सिंहली भाषा आर्य परिवार की है। सिंहली लिपि ब्राह्मी से निकली है।

पिछली सदी के उत्तरार्ध में श्रीलंका में बौद्ध पुनरुत्थान का नया युग शुरू हुआ तो भिक्षु तथा गृहस्थ, दोनों को ही सिंहली, पालि और संस्कृत की समुचित शिक्षा देने के उद्देश्य से वहां दो विहार-विद्यापीठों की स्थापना हुई — कोलंबो में 1874 ई. में विद्योदय परिवेण (विहार), और कोलंबो से नातिदूर केलानिया में 1875 ई. में विद्यालंकार परिवेण। शहर से दूर और नारियल तथा दूसरे हरे-भरे पेड़ों व खेतों के बीच में होने के कारण विद्यालंकार विहार का नजारा बहुत ही मनोरम है।

इसी विद्यालंकार विहार की घटना है, 16 मई 1927 की। सवेरे का समय था। सफेद धोती, सफेद कुर्ता और भागलपुरी चद्दर ओढ़े 34 साल का एक ऊंचा-पूरा तरुण केलानिया स्टेशन पर ट्रेन से उतरा और पूछते हुए थोड़ी ही दूर के विद्यालंकार विहार के परिसर में पहुंच गया। विहार के साधुओं को यह समझने में देर नहीं लगी कि यही 'दंबदिउ ब्राह्मण पंडितुमा' (जंबूद्वीप के ब्राह्मण पंडित) हैं।

पंडितजी को विहार के प्रधान श्री धर्मानंद नायक-महास्थविर के पास पहुंचाया गया। विहार के कितने ही भिक्षु और अध्यापक वहां जमा हो गये। पंडितजी ने महास्थविर को विनम्रभाव से प्रणाम किया। मार्ग के कुशल-क्षेम के बारे में दोनों में संस्कृत में थोड़ी देर बातचीत हुई। फिर नहाने-धोने और नाश्ते के लिए छुट्टी मिल गयी।

'पंडितुमा' के लिए एक बड़े हवादार कमरे का पहले ही से इंतजाम कर दिया गया था। वहां साफ-सुथरे वार्निश किए हुए मेज, कुर्सियां, एक अलमारी तथा नयी उजली बारीक मसहरी के साथ पलंग रखा हुआ था। खाने के लिए पंडितजी ने पावरोटी, मक्खन, दूध और चीनी की स्वीकृति दे दी, और बतला दिया कि उन्हें निरामिष भोजन पसंद है।

उस दिन विद्यालंकार विहार पहुंचने पर वहां जिस 'दंबदिउ पंडितुमा' का इस तरह सौहार्दपूर्ण स्वागत हुआ, वह थे बाबा रामोदारदास, जो कुछ ही दिन पहले छपरा में राजनीतिक कार्य करते समय काली अल्फी पहनते थे और वैरागी साधु के रूप में

पहचाने जाते थे। श्रीलंका पहुंचे तो उनका भेस बदल चुका था, विचार भी काफी बदल चुके थे, मगर नाम पहले का ही बना रहा— रामोदार साधु। वे विद्यालंकार विहार-विद्यापीठ में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए थे, परंतु उनका असली मकसद था— पालि बौद्ध साहित्य का गहन अध्ययन करना। वेतन के बारे में पूछा गया, तो रामोदार साधु का उत्तर था- 'मुझे वेतन की आवश्यकता नहीं, खाना-कपड़ा और पुस्तकें मिलनी चाहिएं, और सबसे जरूरी बात- पालि पढ़ने का अच्छा प्रबंध।'

रामोदार साधु— बाद के राहुल सांकृत्यायन— श्रीलंका में करीब 18 महीने रहे। वह उनके गंभीर अध्ययन-अध्यापन का जीवन था। उन दिनों उनकी दिनचर्या थी— प्रातः पांच बजे उठना, शौच, हाथ-मुंह धो कुएं पर जा स्नान करना। फिर कुछ मिनट तक शीर्षासन करना। यह शीर्षासन और शाम को एक घंटे की सैर ही उनका नियमित व्यायाम था। पावरोटी, मक्खन और दूध-चीनी उनका नाश्ता था। फिर साढ़े ग्यारह बजे तक दत्तचित्त हो पढ़ने-लिखने का काम चलता। दोपहर का भोजन था— उबले हुए कटे आलुओं पर थोड़ी काली मिर्च और नीबू निचोड़कर उन्हें ढेर का ढेर खा जाना। वहां के भोजन में लाल मिर्च और मसाले की अत्यधिकता उनके बर्दाश्त के बाहर की चीज थी।

भोजन के बाद वे कुर्सी में झूलते-झूलते ही थोड़ा विश्राम करते और उसके बाद ऊंची कक्षाओं में जाकर विद्यार्थियों को संस्कृत माध्यम से ही संस्कृत पढ़ाते— शाम के 5 बजे तक। उसके बाद एक घंटा सैर। छह से रात के बारह बजे तक फिर निजी पढ़ाई। बौद्ध विहारों में रात्रि-भोजन नहीं होता।

राहुलजी के श्रीलंका-निवास की यह दिनचर्या उनके गुरुबंधु भदंत आनंद कौसल्यायन के विवरण पर आधारित है। गोहाटी-कांग्रेस के बाद हरिनामदास (नया नाम ब्र. विश्वनाथ) छपरा पहुंचकर कुछ दिन रामोदार साधु के साथ रहे थे। श्रीलंका के लिए रवाना होने से पहले रामोदारदास ने उनके लिए देश के बौद्ध स्थानों की यात्राएं करने का एक प्रोग्राम बना दिया था। कपड़ों को पीले रंग में रंगकर और हाथ में कमंडल लेकर ब्र. विश्वनाथ बोधगया, नालंदा, वैशाली, सांची, अजंता-एलोरा आदि अनेक स्थानों की यात्रा करने के बाद जनवरी 1928 में रामोदार साधु के पास विद्यालंकार विहार पहुंच गये थे। वे रामोदार साधु के पहले ही बौद्ध भिक्षु बन गये, और तब उन्हें नया नाम मिला— आनंद कौसल्यायन।

विद्यार्थियों को पढ़ाने के साथ-साथ रामोदार साधु का निजी अध्ययन भी खूब तेजी से चल पड़ा था। संस्कृत के निकट होने के कारण पालि उनके लिए आसान थी। उन्होंने पालि त्रिपिटक का गहन अध्ययन आरंभ कर दिया। त्रिपिटक में बुद्धकालीन भारत के समाज, राजनीति, भूगोल आदि के बारे में जो विशद जानकारी है उसे वे नोटबुकों में उतारते गये। उनकी ऐतिहासिक भूख बढ़ती गयी। उन्होंने पालि टेक्स्ट सोसायटी (लंदन) के पुराने जर्नल और रॉयल एशियाटिक सोसायटी की सीलोन, बंगाल और बंबई की शाखाओं के पुराने जर्नलों का पारायण कर डाला। इसके लिए

वे हर रविवार को कोलंबो जाते। बाद में वहां के पुस्तकालय के ग्रंथ उनके पास विहार में पहुंचने लगे।

उसी समय रामोदार साधु ने भारतीय पुरालिपियों का गहन अध्ययन किया और 'एपिग्राफिका इंडिका' की सारी जिल्दें छान डालीं। उन्हीं दिनों जर्मनी के प्रोफेसर रुडॉल्फ ओटो विद्यालंकार आये और रामोदार साधु से उनकी बातचीत हुई। उन्हें यह जानकर बड़ा ताज्जुब हुआ कि रामोदार साधु कभी किसी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी नहीं रहे।

रामोदारदास ने श्रीलंका के ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा की। दिसंबर 1927 की मद्रास-कांग्रेस के बाद राजेंद्र बाबू का दल कोलंबो आया, तो रामोदार साधु ने उन्हें श्रीलंका के दर्शनीय स्थान दिखाए। उन्होंने विद्यालंकार विहार भी देखा।

रामोदार साधु ने श्रीलंका-निवास के उन्हीं दिनों में 'सरस्वती' के लिए धारावाहिक रूप से लेख लिखे। उन लेखों को पढ़कर 'सरस्वती' के कई पाठकों ने संपादक से पूछा था- हिंदी में यह नयी विभूति कौन है? उन्हीं दिनों उन्होंने 'विश्वमित्र' और 'मिलाप' को भी लेख भेजे। आनंदजी बताते हैं कि प्रति शनिवार को किसी न किसी भारतीय पत्र के लिए लेख लिखना उनका नियम था। रात के बारह बजे लेख की लिखाई समाप्त हो जाती, तो उसी समय उसे लिफाफे में बंद करके पास के डाकखाने में डाल आते।

राहुलजी ने लिखा है कि, "एक तरह 1927 ई. में ही मेरे साहित्यिक जीवन का आरंभ होता है।" उन्हीं दिनों उन्होंने फ्रेंच और तिब्बती भाषाएं भी सीखनी शुरू कर दी थीं। गहन और व्यापक अध्ययन ने उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा कर दिया। श्रीलंका-निवास ने उनके ईश्वर-विश्वास को खत्म कर दिया था, खाने के मामले में आजादी दे दी थी और मनुष्यता के संकीर्ण दायरे को तोड़ दिया था। लिखते हैं- "ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ हो गया और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा कि ईश्वर सिर्फ काल्पनिक चीज़ है।... लंका ने मेरे लिए ईश्वर की बची-बचायी टांग ही को नहीं तोड़ दिया, बल्कि खाने की भी आजादी दे दी थी और साथ ही मनुष्यता के संकीर्ण दायरे को तोड़ दिया था।... अब मुझे डार्विन के विकासवाद की सच्चाई मालूम होने लगी, अब मार्क्सवाद की सच्चाई हृदय और मस्तिष्क में पैठती जान पड़ने लगी।"

श्रीलंका-निवास के दौरान रामोदार साधु ने एक और काम किया- बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु (400 ई.) के 'अभिधर्मकोष' के खंडित अंशों को फ्रेंच अनुवाद से पूरा करके उस पर एक संस्कृत टीका लिख डाली।

त्रिपिटक का अनुशीलन पूरा हुआ तो विद्यालंकार विहार ने उन्हें सितंबर 1928 में "त्रिपिटकाचार्य" की उपाधि प्रदान की। परंतु रामोदार साधु ने बौद्ध साहित्य के अपने अध्ययन को अपूर्ण ही समझा। भारत से लुप्त हुए संस्कृत बौद्ध ग्रंथों के तिब्बती अनुवादों को पढ़ने के लिए उन्होंने तिब्बत जाने का निर्णय किया। इसीलिए वे उस समय भिक्षु नहीं बने, हालांकि उन्हीं की प्रेरणा से आनंदजी श्रामणेर बन चुके थे।

आनंदजी को विद्यालंकार में ही छोड़कर 1 दिसंबर (1928) को रामोदार साधु भारत के लिए रवाना हो रहे थे, तो नायकपाद श्री धर्मानंद महास्थविर की आंखों में आंसू थे!

रामोदार साधु पुणे, कार्ले, एलोरा-अजंता, सांची आदि स्थानों की यात्रा करते हुए बुंदेलखंड पहुंच गये। अब वे एक बौद्ध पुराविद की तरह यात्रा कर रहे थे। आगे की यात्रा के लिए उन्होंने फिर से कंबल की अल्फी पहन ली और पीतल की एक ढक्कनदार डोलची हाथ में ले ली। आगे उन्होंने संकिसा (संकास्य), कौशांबी, श्रावस्ती आदि बौद्धतीर्थों की यात्रा की। सारनाथ-बनारस गये और आचार्य नरेंद्रदेव से मिले। काशी विद्यापीठ ने 'अभिधर्मकोष' को छापना स्वीकार कर लिया, और उन्हें कुछ रुपए भी मिले।

फिर छपरा होते हुए पटना पहुंचे और वहां पं. जयचंद्र विद्यालंकार और डा. काशीप्रसाद जायसवाल से भेंट की।

रामोदार साधु को भारत, नेपाल और तिब्बत, इन तीनों देशों की सरकारों की आंखों में धूल झोंककर ल्हासा पहुंचना था। वे रक्सौल पहुंच गये। शिवरात्रि (1929) के समय राहदारी (आज्ञापत्र) आसानी से मिल जाती है। रामोदार साधु पहले के परिचित रास्ते से होते हुए थापाथल्ली (काठमांडू) के वैरागी मठ में पहुंच गये।

उसके बाद शुरू हुई राहुलजी के जीवन की तमाम यात्राओं में सबसे साहसपूर्ण और खतरनाक यात्रा— ल्हासा की ओर उनकी पहली यात्रा।

तिब्बत की प्रथम यात्रा

राहुलजी ने स्वयं अपनी 'जीवन-यात्रा' काफी विस्तार से लिखी है, फिर भी उनके बारे में कई भ्रांतियां प्रचलित हैं। उनमें से एक यह भी है कि वे अपनी प्रथम तिब्बत-यात्रा में एक ऐसे मार्ग से होकर ल्हासा पहुंचे थे जो एकदम अपरिचित था, नेपालियों के लिए भी अति दुर्गम था। बात ऐसी नहीं है। मार्ग मुश्किल का अवश्य था, मगर नेपाली और भोटवासी ही नहीं, भारतीय भी उस मार्ग से भली-भांति परिचित थे—सदियों पहले से।

कालिंपोङ् से फरी और ग्यान्ची होते हुए ल्हासा पहुंचने का मार्ग सुगम होने के पहले मध्यदेश (उत्तर-प्रदेश व बिहार) से तिब्बत जाने का मुख्य मार्ग नेपाल ही से था। नेपाल की ही नहीं, भारत की भी चीजें इसी मार्ग से तिब्बत पहुंचती थीं। नालंदा के आचार्य शांतरक्षित (ईसा की आठवीं सदी) इसी मार्ग से होकर दो बार ल्हासा पहुंचे थे— दूसरी बार तो 75 साल की वृद्धावस्था में! उनके बाद तो दर्जनों भारतीय बौद्ध पंडित नेपाल के इसी रास्ते से तिब्बत गये। इसी रास्ते से होकर सैकड़ों तिब्बती भारत आये— विद्याध्ययन के लिए, बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने के लिए।

कालिंपोङ्-फरी का रास्ता कुछ आसान है, परंतु उस पर अंग्रेजों की कड़ी पहरेदारी होने के कारण राहुलजी उसे नहीं अपना सकते थे। महाशिवरात्रि (मार्च1929 का आरंभ) के अवसर का लाभ उठाकर वे नेपाल पहुंच गये, और इस प्रकार अंग्रेजों के शासन की सीमा के बाहर चले गये थे। लेकिन अब खतरा था नेपाली शासन का। महाशिवरात्रि के बाद यदि राहुलजी वहां पकड़े जाते तो उन्हें भारत वापस भेज दिया जाता। इसलिए अज्ञातवास में रहकर ही उन्हें किसी तरह नेपाल के रास्ते से तिब्बत की सीमा में प्रवेश करना था। अज्ञात रहकर ही आगे ल्हासा तक की लंबी यात्रा तय करनी थी।

राहुलजी को अब थापाथल्ली का वैरागी मठ छोड़कर, कहीं अन्यत्र अज्ञातवास में रहकर, आगे नेपाल-तिब्बत सीमा तक पहुंचने की व्यवस्था करनी थी। वे काठमांडू के नजदीक के महाबोधा बौद्धतीर्थ गये। उन दिनों वहां एक बहुत बड़े लामा—डुक्पालामा — अपने तीस-चालीस शिष्य-शिष्याओं के साथ ठहरे हुए थे। उनमें राहुलजी के पूर्व-परिचित लाहुल के रिन्-छेन नामक एक तरुण भी थे। उनकी मदद से राहुलजी डुक्पालामा से मिले, लदाख के अपने परिचितों की उन्हें चिट्ठियां दिखाईं और निवेदन किया- "मैंने श्रीलंका में रहकर त्रिपिटक का अध्ययन किया है, लेकिन

बौद्धधर्म के सभी ग्रंथ वहां प्राप्य नहीं हैं, इसलिए उनके पढ़ने के लिए मैं तिब्बत जाना चाहता हूं। भारत में बौद्धधर्म का प्रचार करना चाहता हूं, आप मेरे पुण्यकार्य में मदद कीजिए।"

डुक्पालामा ने खुशी जाहिर करते हुए कहा- "आप हमारे साथ रहिए। कुछ दिन यहां रहकर हम तिब्बत की ओर जायेंगे। आप हमारे साथ खुशी से चल सकते हैं।"

राहुलजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने समझा कि अब मंजिल मार ली। वे एक दिन सुबह अपना थोड़ा-सा सामान लेकर महाबोधा स्तूप पहुंच गये। विशाल स्तूप के चारों तरफ दो-तीन मंजिले मकान बने थे, जिनके नीचे के तल में दूकानें थीं और ऊपर के कोठों पर तिब्बती बौद्धयात्री ठहरते थे, नेपाली घरवाले भी रहते थे। राहुलजी को पहले एक नेपाली के कोठे पर ठहराया गया। वहां लगा कि कोई उन्हें पहचान सकता है, तब रिन्-छेन ने उनके रहने का इंतजाम उस कोठे पर कर दिया जहां लामा के शिष्य-शिष्याएं रहते थे।

अब राहुलजी भोटिया भेस में थे। उन्होंने भोटिया लोगों का एक पुराना चोगा (छुपा) और लंबा जूता खरीद लिया था। मूंछ-दाढ़ी बनानी छोड़ दी थी और नहाना-धोना बंद करके मुंह पर मैल जमा करना शुरू कर दिया था। फिर भी उन्हें हमेशा डर लगा रहता था कि भारतीय शक्ल और ऊंचे-पूरे कद के कारण कहीं कोई पहचान न ले कि यह मधेस (बिहार-उत्तर-प्रदेश) का आदमी है। इसलिए वे दिन के समय प्राय: घर से बाहर नहीं निकलते थे। रात के समय बाहर निकलकर स्तूप की परिक्रमा कर आते। इस तरह एक महीने से ज्यादा समय महाबोधा (काठमांडू) में ही बीत गया!

राहुलजी की कुछ ही दिनों बाद डुक्पालामा की बहन, भानजी और छह-सात साल के भानजे तिन्-जिन् से घनिष्ठता हो गयी। लामा की बहन और भानजी उन्हें खाना पकाकर खिला देती। तिन्-जिन् से दोस्ती का लाभ भोटिया भाषा सीखने में हो रहा था। डुक्पालामा के शिष्य-शिष्याएं स्तूप के पास जाकर दिन भर अक्षर खुदे लकड़ी के तख्तों से हाथ के कागज पर धार्मिक पोथियां छापते रहते थे। तब राहुलजी कमरे में अकेले बैठकर अंग्रेजी माध्यम से तिब्बती सीखने की पुस्तक पढ़ते रहते। डुक्पालामा की चर्या और उनके शिष्यों एवं शिष्याओं की गतिविधियों को वे देख-समझ रहे थे, मगर उनमें उनकी ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी।

राहुलजी रोज पूछते— यहां से कब चलना है? रोज कल-परसों हो रहा था। एक दिन पता चला, डुक्पालामा अब किंदोल विहार जायेंगे। किंदोल विहार काठमांडू से करीब डेढ़ किलोमीटर पश्चिम में स्वयंभू महास्तूप के पास में है।

किंदोल विहार जाने के पहले राहुलजी दो-तीन दिन काठमांडू में धर्मासाहु के मकान में जाकर रहे। धर्मासाहु की नेपाल के बौद्ध गृहस्थों में बड़ी प्रतिष्ठा थी। ल्हासा में उनकी बहुत पुरानी कोठी थी। तिब्बत के व्यापार में उन्होंने प्रचुर धन कमाया था। उन्होंने राहुलजी को ल्हासा के बारे में बहुत-सी बातें बतायीं।

किंदोल विहार में राहुलजी को लामा की बगल की कोठरी में ठहराया गया। वहां उन पर दर्शकों की नजर पड़ती थी, इसलिए वे बहुत घबराए। उन्होंने अपनी परेशानी वहां के प्रबंधक दसरतन साहु को बतायी, तो वे उन्हें थोड़ी दूर के एक बगीचे वाले घर में ले गये। राहुलजी बताते हैं– "यह घर बिल्कुल अलग था और बहुत दिनों से उसमें कोई रहता न था। अब मैं उसके कोठे पर रहता और दसरतन साहु बाहर से ताला बंद करके चले जाते। सिर्फ अंधेरे में शाम और सवेरे मैं शौच आदि के लिए कोठे के बाहर निकलता, नहीं तो रात-दिन मेरे लिए यह स्वयं-स्वीकृत कैद-तनहाई थी।"

पूजा-चढ़ावा खूब चल रहा था, इसलिए पंद्रह-बीस दिन बीत जाने पर भी डुक्पालामा किंदोल विहार से हिलने का नाम नहीं ले रहे थे। राहुलजी पूरे मकान में अकेले कैद रहने से परेशान हो रहे थे। इसलिए जब उन्हें मालूम हुआ कि लामा यहां से सीमांत के एल्मो गांव में जायेंगे तो उन्होंने पहले ही वहां पहुंच जाने का फैसला किया। एल्मो लोगों का गांव काठमांडू से चार-पांच दिन के रास्ते पर था। राहुलजी को लगा कि वहां पहचाने जाने का खतरा कुछ कम रहेगा। दसरतन साहु उन्हें एल्मो पहुंचा देने के लिए तैयार हुए।

राहुलजी ने भोटिया कपड़े पहन लिए थे, मुंह पर काफी मैल भी चढ़ा लिया था, मगर अपने लंबे कद और अपनी मुखमुद्रा को वे कैसे छिपाते? इसलिए एल्मो जाने के लिए उन्होंने नेपाली पाजामा, बगलबंदी और फुंदीदार काली टोपी पहनी। आंखों को छिपाने के लिए काला चश्मा भी लगा लिया। पैरों के लिए कपड़े का नया बूट आ गया, जिसने एक-दो किलोमीटर जाने पर ही काटना शुरू कर दिया। कई दिनों तक कोठरी में बंद रहने के कारण चढ़ाई चढ़ने में पैर भी साथ नहीं दे रहे थे। सौभाग्य से रास्ते में एक खूब हट्टा-कट्टा आदमी मिला। वह दुगनी मजदूरी पर दसरतन के 'बीमार साथी' को अपनी पीठ पर ले चलने के लिए तैयार हो गया। इस तरह काठमांडू छोड़ने के चौथे या पांचवें दिन दोनों यात्री एल्मो गांव पहुंच गये।

भोटिया भाषियों का एल्मो गांव समुद्रतल से करीब 3000 मीटर की ऊंचाई पर देवदार के सुंदर भूखंड में बसा होने के कारण राहुलजी को वहां पहुंचने पर बड़ी खुशी हुई। जून के आरंभ के दिन थे, इसलिए बर्फ का कहीं पता नहीं था। दसरतन साहु ने राहुलजी को वहां डुक्पालामा की शिष्या एक वृद्धा भिक्षुणी के घर टिका दिया और वह काठमांडू लौट गये। कुछ दिन बाद डुक्पालामा की शिष्यमंडली के कुछ सदस्य एल्मो आकर पास के एक बुद्ध-मंदिर में ठहरे, तो राहुलजी उनके साथ रहने चले गये। जाहिर है कि अब वे पुन: भोटिया भेष में थे। वहां तिन्-जिन् भी मौजूद था, इसलिए भाषा के अभ्यास को बढ़ाने का भी लाभ था।

वहां डुक्पालामा के न होने से राहुलजी के लिए खाने-पीने की दिक्कत थी, फिर भी उन्होंने अपने लिए कोई अलग इंतजाम नहीं किया। मडुवा या मकई के आटे का नमकीन हलवा सुबह मिलता और शाम को उसी की पतली लेई। फिर

भी दिन कट रहे थे। वहां राहुलजी हाथ देखने वाले भविष्यवक्ता लामा के रूप में भी मशहूर हो गये!

डुक्पालामा ने राहुलजी को वचन दिया था कि वे एल्मो अवश्य आयेंगे। मगर एक दिन शाम को लामा के दो शिष्यों ने बताया कि लामा सीधे ञेनम् की ओर रवाना हो गये हैं। सुनकर राहुलजी का हृदय सन्न रह गया। बात ही वैसी थी। ञेनम्, जिसे नेपाली लोग कुत्ती कहते हैं, तिब्बत की सीमा के भीतर है। व्यापार की दृष्टि से प्राचीन काल से ही ञेनम् का बड़ा महत्व रहा है। तिब्बती लोग अपने यहां की खारी झीलों का नमक लेकर ञेनम् आते थे और इधर से नेपाली लोग अनाज, कपड़ा आदि चीजें लेकर वहां पहुंचते थे। नेपाली लोग वहां अपनी चीजें बेचकर नमक ले आते थे।

इसलिए राहुलजी ने जब सुना कि डुक्पालामा एक अन्य रास्ते से ञेनम् की ओर निकल गये हैं, तो उन्हें बड़ा क्लेश हुआ। उन्होंने भी तत्काल ञेनम् के लिए निकल पड़ने का निश्चय किया। बड़ी मुश्किल से एल्मो का एक किसान दुगुनी मजदूरी पर साथ चलने के लिए तैयार हुआ। दो दिन चलने के बाद जब वे काठमांडू से ञेनम् जाने वाले रास्ते पर पहुंच गये, तब डुक्पालामा की खबर मिली। उसके बाद एक दिन की चढ़ाई के बाद वे एक गांव में डुक्पालामा के पास पहुंच गये। लामा ने हंसकर उनका स्वागत किया, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

अब डुक्पालामा के साथ आगे की यात्रा शुरू हुई। भोटकोसी के किनारे पहुंचे। आगे तातपानी में गर्म पानी का चश्मा है, मगर राहुलजी ने वहां स्नान नहीं किया; उन्हें अपना मैल धोना नहीं था। आगे की थोड़ी चढ़ाई ने बाद वे नेपाल के सीमांत की फौजी चौकी पर पहुंच गये। पहरे के सिपाही ने उन्हें रोक दिया, और दूसरा सिपाही सूबेदार साहब को बुलाने चला गया।

राहुलजी का दिल धक-धक कर रहा था। उन्होंने अपना नाम छेवङ, और जन्मभूमि का नाम खुन्नू (कनौर, रामपुर-बुशहर) रख लिया था। मगर सबसे बड़ी चिंता थी कद और चेहरे की। खैर, जब सबका नाम लिखा जाने लगा तो राहुलजी ने भी अपना नाम लिखवा दिया—खुन्नू छेवङ्। सब ने बताया कि वे के-रोङ् के अवतारी लामा के शिष्य हैं। सूबेदार पर प्रभाव पड़ा। तब वे चौकी पार करके नजदीक के एक गांव में जाकर ठहरे। उसके आगे भोटकोसी पर लकड़ी का एक पुल था। उसे पार करके राहुलजी और उनके साथी तिब्बत की सीमा के भीतर पहुंच गये।

उस समय राहुलजी को कितनी खुशी हुई होगी, इसका सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। अंग्रेजों के शासन की सीमा को उन्होंने रक्सौल में ही पार कर लिया था। अब नेपाली सीमा भी पार कर ली। अब आगे अज्ञातवास में ही ल्हासा तक का लंबा रास्ता तय करना था। मुसीबतें खत्म नहीं हुई थीं, मगर सिर का बोझ काफी हल्का मालूम होने लगा। अब वे डुक्पालामा के काफिले के आगे-आगे चलते हुए प्राकृतिक सौंदर्य का भरपूर आनंद लेने लगे। आगे ञेनम् पहुंचना था। वहां तक केवल तीन दिन का रास्ता था, परंतु लामा रास्ते के गांवों से भेंट-पूजा ग्रहण करते हुए मंथर

गति से आगे बढ़ रहे थे।

उसी समय राहुलजी को एक मंगोल भिक्षु के रूप में नया साथी मिला। बोधगया में उससे उनकी भेंट हुई थी। अब यहां रास्ते में पुनः भेंट हुई। वह पूर्वी मंगोलिया का था, लेकिन अब पिछले कई सालों से ल्हासा के पास के डे-पुङ विहार में रहा करता था। पढ़ना-लिखना नहीं जानता था। हर जाड़े में वह बोधगया तीर्थ करने आता और आते-जाते यजमानों को गंडा व प्रसाद देकर दक्षिणा वसूल करता। साल के 9 महीने यात्रा ही में कट जाते। बाकी समय वह डे-पुङ विहार में रहकर खाता-पीता। उस मंगोल भिक्षु का नाम था—लोब्‌जङ् शेरब्, जिसका अर्थ है सुमतिप्रज्ञ!

आखिर एक दिन सभी—डुक्‌पालामा, उनके शिष्य, राहुलजी और सुमतिप्रज्ञ—ञेनम् पहुंच गये। अच्छी-खासी मंडी होने के कारण वहां नेपालियों की बहुत-सी दूकानें थीं। उस इलाके का तिब्बती मजिस्ट्रेट भी ञेनम् ही में रहता था। डुक्‌पालामा वहां से हिलने का नाम नहीं ले रहे थे। राहुलजी वहां से आगे बढ़ना चाहते थे। वे भोटिया वेश में थे और अब भोटिया भाषा में अच्छी तरह बातचीत कर लेते थे। लेकिन आगे बढ़ने में एक बाधा थी। ञेनम् गांव के पास की नदी पर एक पुल था। वहां का पहरेदार मजिस्ट्रेट के हाथ की लिखी राहदारी देखे बगैर किसी को आगे नहीं जाने देता था।

कैसे मिलेगी राहदारी? राहुलजी ने मंगोल मित्र से इसका जिक्र किया। सुमतिप्रज्ञ बोले- "इसमें क्या दिक्कत है?" वे थोड़ी देर बाद डे-पुङ विहार के दो भिक्षुओं के नाम दो राहदारी ले आये। तब दोनों ने आगे की यात्रा की तैयारी की। डुक्‌पालामा ने राहुलजी के लिए एक अच्छी चिट्ठी लिखकर दी, रास्ते के लिए खाने-पीने की भी चीजें दीं। राहुल और सुमति की सहयात्रा शुरू हुई।

राहुलजी लिखते हैं- "हम दोनों ही का भेस ऐसा था कि जिसको देखकर भिखमंगा छोड़कर और कोई कुछ कह ही नहीं सकता था। मेरा छुपा (चोगा) फटा तो नहीं था, लेकिन उसका लाल रंग बहुत जगह फीका पड़ गया था और कपड़ा भी था टाट-जैसा। पैर का जूता भी उसी के अनुसार था। हां, अब वह काटता नहीं था। पीठ पर दो कमानीदार लकड़ियों के बीच में सामान बांधकर उसे दोनों बाहों को बाहर निकाले हुए मैंने मोढ़ों में रस्सी से लटका लिया था। हम लोगों के हाथ में एक-एक डंडा भी था। चारों ओर नंगे पहाड़, जिसमें एक तरफ (पूर्व की ओर) दुनिया का सबसे ऊंचा शिखर गौरीशंकर अपने रुपहले सौंदर्य को नीले आसमान में प्रतिफलित कर रहा था।"

लेकिन यह सुखानुभूति ज्यादा समय तक नहीं रही। मंगोललामा अपने एक मन से भी ज्यादा बोझ को लादकर बड़े मजे में कूदते-फांदते चल रहे थे। मगर राहुललामा अपने करीब बीस सेर के बोझे को कराहते हुए ढो रहे थे। उनका मोढ़ा टूटने लगा, पिंडली फटने लगी। अब वे करीब 4000 मीटर की ऊंचाई पर चल रहे थे। आक्सीजन की कमी के कारण सांस फूल रही थी। उन्हें नाना याद आ गये। लिखते हैं- "मैंने

उस दिन पहले अपने नाना को, फिर अपने को, बहुत बुरा-भला कहा। मैं समझने लगा कि लड़के को सुकुमार कभी नहीं बनाना चाहिए, उससे पूरा शारीरिक परिश्रम लेना चाहिए।'' खैर, दोनों 'भिखमंगे लामा' आगे बढ़ते गये। मंगोललामा के पीछे राहुललामा वैसे ही जा रहे थे, जैसे कसाई के पीछे गाय! पड़ाव पर पहुंचते ही राहुलजी चित पड़ जाते। ठहरने के लिए कभी स्थान मिल जाता, कभी नहीं भी मिलता। किसी भी गांव में या घर में पहुंचने पर सबसे पहले खाने को दौड़ते तिब्बत के बड़े-बड़े खूंखार कुत्ते, जिनसे राहुलजी बेहद डरते थे। कहीं भी पहुंचने पर सबसे पहले मक्खनयुक्त गर्म-गर्म नमकीन चाय मिल जाती थी। यात्रा का मुख्य भोजन था— कंडे की आग पर पका थुक्-पा, जो सत्तू या चावल के साथ मूली, हड्डी या मांस को लेई की तरह घंटों पकाने से तैयार होता था।

आगे तिब्बत का सबसे कठिन डांडा (जोत) थोङ्-ला पार करना था। पांच-छह हजार मीटर की ऊंचाई होने के कारण दोनों तरफ दूर-दूर तक गांव-गिरांव नहीं थे। डाकुओं का बोलबाला था। मार भी डालें, तो किसी को पता न चले। मगर भिखमंगों को डाकुओं का भला क्या भय हो सकता है? यदि डाकू दिखाई भी दें, तो टोपी उतार, जीभ निकाल, 'कुची-कुची (दया-दया) एक पैसा' मांगने लगते। असली समस्या थी— पीठ पर सामान लादकर पहाड़ की ऊंची चढ़ाई चढ़कर करीब 25 किलोमीटर दूर के अगले पड़ाव पर पहुंचना। इसलिए घोड़ों का इंतजाम किया गया।

थोङ्-ला को पार करके दोनों यात्री तिङ्री के विशाल मैदान में पहुंच गये। वहां शेकर विहार में जाकर दोनों ने विश्राम किया। फिर वे तिङ्री में सुमति के परिचित वहां के भूतपूर्व मजिस्ट्रेट के घर गये। वहां कुत्तों के बाद गृहपति ने स्वागत किया— आ हो, सोग्पो गेलोङ (मंगोल भिक्षु), और लदापा (लदाखी) भी!

राहुलजी ने अब तक अपने को खुनूपा (कनौरवाला) के रूप में पेश किया था। मगर दो-तीन जगह लोगों ने उन्हें लदापा कहा था, इसलिए आगे उन्होंने अपने को लदापा कहने का ही निश्चय किया। तिङ्री के बाद दोनों यात्री चकोर गांव पहुंचे। यहां भी सुमति के यजमान थे। वे सत्तू आदि की दक्षिणा बटोरते चल रहे थे। सुमति का स्वभाव बड़ा गर्म था। वे अक्सर राहुलजी पर बरस पड़ते थे। मगर उनका उज्वल पक्ष भी था, और वे राहुलजी को साथ लेकर चल रहे थे।

आगे दोनों ने शेकर का रास्ता पकड़ा। थोड़ी दूर जाने पर कोसी की प्रधान धारा मिली। बरफ से पिघले पानी की कमर तक पहुंचने वाली धारा को दोनों ने पार किया। फिर उठते-बैठते किसी तरह शेकर पहुंच गये। पीठ पर सामान लादकर चलना अब राहुलजी के लिए बड़ा मुश्किल हो रहा था। वे बड़ी कमजोरी महसूस कर रहे थे, जिसका कारण था सत्तू-भोजन, जिसे वे आधा पेट भी नहीं खा सकते थे।

राहुलजी के लिए न केवल ल्हासा का रास्ता नया था, बल्कि तिब्बती जन-जीवन का और रीति-रिवाजों का प्रत्यक्ष अनुभव भी उन्हें पहली बार हो रहा था। तिब्बत में सभी भाइयों की एक सम्मिलित पत्नी होती है। वहां स्त्री-पुरुष के संबंध भी बड़े

खुले हैं। कड़ाके की ठंडी के कारण लोग छह-छह महीने या साल-साल तक भी नहाते नहीं। सूखे पहाड़ होने के कारण लकड़ी के ईंधन की कमी है। कंडों या उपलों से काम चलाया जाता है। छङ (कच्ची शराब) खूब पी जाती है। मुख्य भोजन सत्तू और कच्चा मांस है। हां, तिब्बत का यह चित्र छह-सात दशक पहले का है। अब वहां की दशा काफी भिन्न होगी। अब तो ल्हासा से काठमांडू तक पक्की सड़क भी बन गयी है।

शेकर से आगे ल्हर्चे तक का रास्ता ब्रह्मपुत्र के दाएं किनारे के पास से गया है। दोनों यात्री गदहों पर अपना सामान लादकर सौदागरों के एक काफिले के साथ ल्हर्चे पहुंच गये। ल्हर्चे से चमड़े की नाव में चढ़कर दो दिन में टशील्हुन्पो या शिगर्चे पहुंचा जा सकता था। राहुलजी ने ब्रह्मपुत्र-यात्रा की तैयारी की, नावों का इंतजार भी किया, किंतु ऐन वक्त पर झमेला खड़ा हो गया। तब वे खच्चर किराये पर लेकर सौदागरों के एक दल के साथ पहले नरथङ और फिर शिगर्चे पहुंच गये।

तिब्बती साहित्य की दृष्टि से नरथङ के बौद्ध मठ का बड़ा महत्व है। 'कंजूर' (बुद्ध-वचन का अनुवाद) और 'तंजूर' (शास्त्र-ग्रंथों का अनुवाद) का छापाखाना यहीं पर था। 'कंजूर' और 'तंजूर' में कई हजार भारतीय ग्रंथों का अनुवाद सुरक्षित है।

नरथङ से कुछ घंटों की यात्रा के बाद पहाड़ की जड़ में टशील्हुन्पो का सुंदर महाविहार (गुंबा) दिखाई दिया। राहुलजी ने सिर नवाया। गुंबा के पास ही शिगर्चे नगर है—ल्हासा के बाद तिब्बत का सबसे बड़ा शहर। उस समय भारत से ग्यान्ची, ल्हासा और शिगर्चे तक डाक की व्यवस्था थी। शिगर्चे पहुंचने पर राहुलजी ने काठमांडू छोड़ने के बाद पहली बार महसूस किया कि अब वे सभ्य संसार में आ गये हैं। शिगर्चे में उन्हें एक नेपाली साहु के घर आश्रय मिला। तब उन्होंने भारत छोड़ने के बाद वहां से भदंत आनंद कौसल्यायन को श्रीलंका पहली चिट्ठी लिखी—

"प्रिय आनंदजी,

जीवन का मूल्य बहुत है। समय आने पर कुछ भी नहीं। कार्य पूरा करूंगा या मरूंगा।

रामोदार साधु"

राहुलजी फरवरी (1929) के अंत में भारत से रवाना हुए थे। शिगर्चे पहुंचे तो जुलाई का आरंभ था। शिगर्चे से एक सीधा रास्ता ल्हासा जाता है, मगर राहुलजी खच्चरवालों के साथ ग्यान्ची के रास्ते गये। शिगर्चे में मंगोल भिक्षु का साथ छूट गया था। उस समय ग्यान्ची में अंग्रेजी सरकार का वाणिज्यदूत और करीब सौ सिपाहियों की पलटन थी। राहुलजी वहां 7 जुलाई (1929) को पहुंचे थे। आगे ल्हासा के रास्ते में एक बहुत ऊंची जोत (डांडा), एक विशाल झील (महासरोवर) और ब्रह्मपुत्र नदी पड़ती है।

नाव से ब्रह्मपुत्र पार करने के बाद 19 जुलाई को कई किलोमीटर दूर से, कई तलों का लाल रंग से रंगा दलाई लामा का प्रासाद 'पोतला' दिखाई दिया। ल्हासा के जिस

पोतला प्रासाद के दर्शन को दुनिया की एक सबसे कठिन चीज समझा जाता था, और जिसे देखने के लिए राहुलजी ने साढ़े चार महीने तक तरह-तरह के कष्ट झेले थे, वह अब सामने था। पीठ पर सामान लादे, लामा का चोगा पहने, सिर पर तिब्बती भिक्षुणी का पीला कंटोप लगाए और हाथ में डंडा लिए राहुल बाबा ने नगर के एक फाटक से ल्हासा में प्रवेश किया।

रास्ते में एक नेपाली तरुण मिला, जिसका नाम धीरेंद्रवज्र था। उसने राहुलजी को धर्मासाहु की कोठी 'छु-शिङ्' पहुंचा दिया। धर्मासाहु के पुत्रों ने राहुलजी का खुलकर स्वागत किया। थोड़ी बातचीत के बाद राहुलजी ने सबसे पहले वहां रखे पिछले चार-पांच महीने के अखबार पढ़े। अब आगे मैला-कुचैला रहने की आवश्यकता नहीं थी, इसलिए अगले दिन नहर पर जाकर स्नान किया।

अब आगे राहुलजी को प्रकट होकर रहना था, इसलिए दलाई लामा तक जल्दी से जल्दी संदेश भेजना आवश्यक था। उन्होंने संस्कृत में 15 श्लोक रचे, जिनका आशय था— तिब्बत में सैंकड़ों भारतीय पंडित आए, उन्होंने हजारों भारतीय ग्रंथों का तिब्बती में अनुवाद किया, हजारों को बौद्ध तत्वज्ञान की शिक्षा दी। पहले जहां भारतीय गुरु बनकर आते थे, वहां मैं शिष्य बनकर आया हूं। मेरे जैसे भारतीय विद्यार्थी के लिए यहां सुविधा मिले।

श्लोकों का तिब्बती अनुवाद करवाके एक प्रभावशाली लामा के माध्यम से 9 अगस्त को दोनों चीजें दलाई लामा तक पहुंचाई गयीं। शाम को धर्मासाहु की कोठी पर सूचना पहुंची— पंडित आपकी कोठी में रहें। सरकार किसी दिन उन्हें बुलाएंगे!

राहुलजी का करीब पांच महीने का अज्ञातवास समाप्त हो गया। अब उन्हें लंबे समय तक वहां रहकर तिब्बती भाषा और बौद्ध ग्रंथों का गहन अध्ययन करना था। ल्हासा पहुंचे तो उनके पास करीब सौ रुपए शेष बचे थे, जिनसे जैसे-तैसे चार-पांच महीने ही गुजारा चल सकता था। मगर उन्हें उम्मीद थी कि आगे की कुछ न कुछ व्यवस्था हो ही जायेगी।

राहुलजी डेपुङ या सेरा जैसे किसी पुराने मठ में रहना चाहते थे, मगर कुछ ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गयीं कि उन्हें धर्मासाहु की कोठी के एक कमरे को ही अपना केंद्रीय निवास बनाना पड़ा। जाड़ा शुरू हो रहा था, इसलिए भिक्षु के ऊनी वस्त्र और पोस्तीन का लंबा चोगा खरीदा। वहां का भोजन था— सत्तू, चिउरा, दाल-भात और मांस। चाय तो दिन भर चलती रहती थी।

राहुलजी ने अपने लिखने-पढ़ने का काम जल्दी ही शुरू कर दिया। सबसे पहले नेपालियों के संस्कृत व्याकरण के नौ ग्रंथ मंगवाकर तिब्बती अनुवाद के साथ उन्हें पढ़ना शुरू कर दिया। इस तरह संस्कृत ग्रंथ और उनके भोट (तिब्बती) अनुवाद का साथ-साथ अध्ययन करते हुए राहुलजी ने अंत में करीब 16 हजार शब्दों का एक भोट-संस्कृत कोष तैयार कर लिया। वे तिब्बती भिक्षुओं और पंडितों से बातचीत करके

भी अपना तिब्बती ज्ञान बढ़ा रहे थे। एक मठ से तंजूर की पोथियां भी उनके पास पहुंचने लगीं।

मगर ल्हासा में पहुंचने के बाद एक महीना भी पूरा नहीं हुआ था कि राहुलजी को वहां एक नये संकट का सामना करना पड़ा। तिब्बत और नेपाल के बीच लड़ाई छिड़ जाने की नौबत आ गयी। दोनों सरकारों में पहले से ही कुछ तनाव था। फिर एक नयी दुर्घटना घटी। शरबा ग्यल्पो नाम का एक भोटभाषी व्यापारी ल्हासा में रहता था, मगर वह नेपाली प्रजा था। कानून के अनुसार नेपाली प्रजा के मुकदमे का फैसला नेपाली प्रतिनिधि ही कर सकता था, तिब्बत की अदालत नहीं। शरबा दलाई लामा की खुलेआम आलोचना करता था। इसलिए तिब्बत की पुलिस ने उसे पकड़कर जेल में बंद कर दिया। शरबा वहां से किसी तरह भागकर नेपाली दूतावास पहुंच गया। यह 14 अगस्त (1929) की घटना है।

तिब्बती पलटन नेपाली दूतावास पहुंची और शरबा को पकड़कर ले गयी। उसे जेल में खूब यातनाएं दी गयीं, जिससे बाद में उसकी मृत्यु हुई। तिब्बत ने संधि तोड़ी थी, इसलिए दोनों देशों में तनाव बढ़ता गया। ल्हासा में लड़ाई की तैयारियां शुरू हो गयीं। उधर नेपाली सैनिक भी सीमा पर जमा होने लगे। ल्हासा के नेपाली सौदागर, जिनकी वहां बड़ी-बड़ी कोठियां थीं, घबराने लगे। ल्हासा का सारा माहौल ही बदल गया। करीब सात महीने तक ल्हासा पर युद्ध के बादल मंडराते रहे। अंत में अंग्रेजों के खैरख्वाह दार्जिलिङ्वासी भोटभाषी सज्जन लेदन्ला के प्रयासों से 22 मार्च, 1930 को दोनों देशों में सुलह हो गयी।

लड़ाई के माहौल से राहुलजी को अपने प्रोग्राम में काफी रद्दोबदल करनी पड़ी। उन्हें यथासंभव जल्दी भारत लौटने का निर्णय लेना पड़ा, परंतु उन्होंने अपना अध्ययन-अन्वेषण जोर-शोर से जारी रखा। पैसों की चिंता भी मिट गयी थी। वाराणसी से आचार्य नरेंद्रदेव ने पहले डेढ़ सौ भेजे, फिर 114 रु. भेजे, और आगे भी भेजने का वादा किया।

उधर श्रीलंका में आनंदजी भी पैसों के स्थायी प्रबंध की कोशिश में जुटे हुए थे। राहुलजी ने अब जल्दी भारत लौटने का निर्णय किया था, इसलिए वे चाहते थे कि काफी सारा तिब्बती साहित्य, चित्रपट आदि चीजें खरीदकर साथ ले जाई जायें, जिसके लिए पर्याप्त रुपयों की जरूरत थी। श्रीलंका के विद्यालंकार विहार के अध्यक्ष श्री धर्मानंद नायकपाद ने अपने दायकों से तीन हजार रुपए एकत्र किये और आनंदजी ने उन्हें तार से ल्हासा भेज दिया।

नायकपाद श्री धर्मानंदजी का राहुलजी पर कितना अधिक स्नेह था, यह उस समय की एक घटना से स्पष्ट होता है। जब नायकपाद को पता चला कि नेपाल और तिब्बत में लड़ाई छिड़ने जा रही है, उन्होंने राहुलजी के नाम आनंदजी से पत्र लिखवाया- "लिखो कि सिपाही नहीं समझते, कौन पंडित है, कौन मूर्ख। वे सभी का सिर समान भाव से फोड़ने वाले होते हैं। जैसे बने, शीघ्र लौट आएं।"

नायकपाद राहुलजी के लिए बड़े चिंतित थे। उन्होंने आनंदजी से यह भी पूछा– "ल्हासा में हवाई जहाज पहुंच सकता है, या नहीं?"

उन्हीं दिनों की एक और बात का यहीं पर जिक्र करना जरूरी है। नेपाल-तिब्बत युद्ध के खतरे के दिनों में ही काशी-पंडित-सभा ने 'रामोदार सांकृत्यायन' को एक मानपत्र देकर "महापंडित" की पदवी प्रदान की– उनकी अनुपस्थिति में। मानपत्र पर तिथि वसंत पंचमी, विक्रमाब्द 1986 (फरवरी 1930) दी गयी है। दिलचस्प बात यह है कि राहुलजी अपनी 'जीवन-यात्रा' में इस पदवी का जिक्र पहली बार तब करते हैं, जब वे दूसरी तिब्बत यात्रा (1934) में ल्हासा से साक्या मठ की ओर जा रहे थे। बाद में "महापंडित" की यही उपयुक्त पदवी उनके नाम का एक अभिन्न अंग ही नहीं, उनके बौद्धिक वैभव की भी पहचान बन गयी।

ल्हासा में जब युद्ध का तूफान जारी था, तब भी राहुलजी अपने काम में जुटे रहे। उन्होंने ल्हासा के आसपास के डेपुङ और सेरा जैसे बड़े-बड़े विहारों की यात्रा की, वहां के विद्वानों से मिले और बौद्ध ग्रंथों के बारे में अधिक से अधिक जानकारी हासिल की। उस समय डेपुङ विहार में सात हजार से ज्यादा और सेरा में पांच हजार से ज्यादा भिक्षु रहते थे। ये विहार स्वयं में छोटे-मोटे शहर थे।

युद्ध के बादल छंट जाने पर अप्रैल (1930) के प्रथम पखवाड़े में राहुलजी ने मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति के साथ ल्हासा से काफी दूर के प्रख्यात सम्ये विहार की यात्रा की। सम्ये विहार को, जो तिब्बत का प्राचीनतम मठ है, नालंदा के महान आचार्य शांतरक्षित ने ईसा की आठवीं सदी में बनवाया था– समतल भूमि पर। आचार्य करीब 75 साल की उम्र में तिब्बत गये थे और सम्ये में ही उनका देहांत हुआ था। राहुलजी लिखते हैं– "सबसे अधिक प्रभावित मैं तब हुआ, जब मैंने अपनी आंखों के सामने शीशे के भीतर आचार्य शांतरक्षित का कपाल देखा। वही कपाल, जिसके भीतर से 'तत्वसंग्रह' जैसा महान दार्शनिक ग्रंथ निकला। मैं कुछ देर तन्मय होकर उस ओर देखता रहा।"

आचार्य शांतरक्षित के बाद अनेक भारतीय पंडित सम्ये विहार पहुंचे। ग्यारहवीं सदी के मध्य में सम्ये के विशाल ग्रंथ-संग्रह को देखकर आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (अतिशा) ने कहा था– "यहां कितनी ही ऐसी पुस्तकें हैं जो विक्रमशिला में भी नहीं मिलतीं।" बाद में सम्ये में आग लग गयी थी, जिसमें वे पुस्तकें नष्ट हो गयीं। राहुलजी को वहां कोई संस्कृत पुस्तक नहीं मिली। मगर उन्होंने वहां से 25 तिब्बती चित्रपट और एक पुरानी तिब्बती पुस्तक खरीदी। वापसी यात्रा में तिब्बती महापंडित चोङख-पा द्वारा 1405 ई. में स्थापित प्रसिद्ध गन्दन् विहार के दर्शन किये।

ल्हासा वापस आकर राहुलजी ने भारत लौटने की तैयारी शुरू कर दी। अब उन्हें फरी-कालिंपोङ् के रास्ते खुले तौर पर लौटना था। मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति भी भारत साथ चलने को तैयार हो गये। पुस्तकें, चित्रपट और दूसरी चीजें बांधकर 17-18 खच्चरों पर कालिंपोङ् रवाना करनी थीं। राहुलजी ने 24 अप्रैल (1930) को सुबह

ल्हासा छोड़ा। दोनों यात्रियों के लिए दो पिस्तौल भी ले लिये गये।

राहुलजी नगाचे और ग्यान्ची होते हुए शिगर्चे पहुंचे। वहां के टशील्हुन्पो महाविहार से कुछ पुस्तकें खरीदीं और 'तंजूर' की छपाई के लिए कागज-स्याही खरीदकर नरथङ पहुंचाया। 'कंजूर' पहले ही खरीद लिया गया था।

फरी-कालिंपोङ् का रास्ता पकड़ने के लिए वापस पुन: ग्यान्ची आना पड़ा। रास्ते में नरथङ जाकर छपा हुआ तंजूर ले लिया। आगे ग्यान्ची के ही रास्ते में प्रसिद्ध शलू विहार है। राहुलजी को वहां के रिसुर लामा ने 'वज्रडाकतंत्र' की संस्कृत तालपोथी और दो चित्रपट भेंट किये। राहुलजी को इस प्रथम तिब्बत-यात्रा में प्राप्त होने वाली यह एकमात्र संस्कृत तालपत्र-पुस्तक थी। इस उपलब्धि से उन्हें यकीन हो गया कि तिब्बत में और भी कई संस्कृत तालपत्र-पोथियां हो सकती हैं।

राहुलजी मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति को साथ लेकर 27 मई (1930) को फरी पहुंच गये। सारा सामान खच्चरों पर लदवाकर पहले ही कालिंपोङ् रवाना कर दिया था। अपने लिए दो खच्चर अलग से खरीद लिये थे।

अंतत: दोनों यात्री 4 जून, 1930 को कालिंपोङ् पहुंच गये। वहां भाजूरत्न साहु ने सारे सामान को कलकत्ता तक पहुंचा देने की जिम्मेदारी ले ली। काफी सामान था। कुल इक्कीस खच्चरों पर लदकर कालिंपोङ् तक पहुंचा था। 6 जून को दोनों यात्री बस से सिलिगुड़ी पहुंच गये। मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति का गर्मी के मारे बुरा हाल हो गया, इसलिए राहुलजी ने उन्हें खर्चा देकर वहीं से वापस भेज दिया।

पहली तिब्बत-यात्रा में राहुलजी द्वारा 21 खच्चरों पर लादकर लायी गयी सामग्री के बारे में आज भी बहुतों को काफी गलतफहमी है। उस सामग्री में करीब आधा बोझ तो तिब्बती कंजूर-तंजूर ही का था। संस्कृत की केवल एक ही तालपोथी थी। अधिक संख्या में, अधिक महत्व की तालपोथियां राहुलजी ने दूसरी-तीसरी यात्राओं में खोजीं।

राहुलजी 7 जून को कलकत्ता पहुंचे। वहां बड़ा बाजार में देखा कि सत्याग्रहियों पर लाठियां पड़ रही हैं। लिखते हैं- "मेरा दिल बहुत ललचाने लगा, लेकिन मैं इक्कीस खच्चरों पर ग्रंथराशि तिब्बत से जमा करके लाया था। जब तक उन्हें सीलोन नहीं पहुंचा देता, तब तक मैंने अपने लालच को दबाना ही पसंद किया।"

राहुलजी पटना और बनारस-सारनाथ की एक सप्ताह की यात्रा करके पुन: कलकत्ता लौटे। तिब्बत से लायी सारी सामग्री को जहाज से कोलंबो भिजवा दिया और स्वयं रेल से मद्रास होते हुए 20 जून (1930) को श्रीलंका के विद्यालंकार विहार पहुंच गये।

राहुलजी एक साल, छह महीने और बीस दिन के बाद विद्यालंकार विहार वापस लौटे थे। लिखते हैं- "लंका जाने पर भिक्षु आनंदजी के बाद जिनसे मिलकर सबसे अधिक प्रसन्नता हुई, वह थे नायकपाद। तिब्बत के लिए बिदाई देते वक्त उनकी आंखें कितनी अश्रुपूर्ण हो गई थीं, यह मुझे अब भी याद है।"

भिक्षु राहुल की यूरोप-यात्रा

राहुलजी ने एक तरह से बौद्ध भिक्षु (लामा) के भेस में ही तिब्बत की यात्रा की थी। मगर श्रीलंका वापस लौटने पर अब उन्हें विधिवत भिक्षु बनना था, जिसमें प्रव्रजित होकर पहले श्रामणेर बनना पड़ता है और तदनंतर उपसम्पदा का बड़ा आयोजन होता है।

श्रीलंका पहुंचने के दो दिन बाद, 22 जून (1930) को, विद्यालंकार विहार में नायकपाद धर्मानंद महास्थविर के उपाध्यायत्व में राहुलजी की प्रव्रज्या हुई। बौद्ध भिक्षु बनते समय नाम-परिवर्तन की परंपरा है। राहुलजी 1927 में अध्ययन-अध्यापन करने श्रीलंका गये थे, तब वहां वे 'स्वामी रामोदार साधु' के नाम से प्रसिद्ध थे। मगर श्रीलंका छोड़ने के पहले उन्होंने अपने "सांकृत्य" गोत्र के आधार पर अपने को 'रामोदार सांकृत्यायन' बना लिया था, जिसे वे संक्षेप में 'रा. सा.' लिखते थे। काशी-पंडित-सभा ने "महापंडित" की पदवी 'श्री रामोदार सांकृत्यायन' को ही प्रदान की थी।

अब प्रव्रज्या के चंद मिनट पहले नये नाम का प्रस्ताव आया। राहुलजी स्वयं लिखते हैं- "नाम शायद एकाध और पेश किये गये थे, किंतु मैंने रामोदार के 'रा' की साम्यता के देखते हुए राहुल नाम का प्रस्ताव किया और वह स्वीकृत हुआ। इस प्रकार, राहुल सांकृत्यायन के नाम से मैं प्रव्रजित (श्रामणेर) हुआ।"

राहुलजी अब श्रामणेर के काषाय वस्त्रों में थे, 37 साल के हो चुके थे। दस दिन बाद, 2 जुलाई (1930) को, श्रीलंका के सुरम्य कांडी शहर के प्रसिद्ध मलवत्त विहार में आयोजित एक भव्य समारोह में राहुलजी की उपसम्पदा हुई। वे लिखते हैं- "वैसे भी लंका के गृहस्थों और भिक्षुओं में मेरी खासी इज्जत थी, किंतु भिक्षुसंघ में शामिल हो जाने पर वह सम्मान कई गुना बढ़ गया था।"

आगे राहुलजी अध्यापन-कार्य करने के साथ-साथ एक नयी पुस्तक लिखने में जुट गये। उन्हीं के शब्दों में- "मैंने हिंदी में बुद्ध की जीवनी लिखने में हाथ लगाया। अपने शब्दों में स्वतंत्र जीवनी लिखने की अपेक्षा मैंने पसंद किया कि वह त्रिपिटक से संग्रह कर उसी के शब्दों में हो, ताकि लोग त्रिपिटक की ऐतिहासिक, भौगोलिक सामग्री का लाभ उठाते हुए बुद्ध के जीवन को पढ़ें और स्वतंत्र निर्णय करें। पढ़ते वक्त लिए नोटों से मुझे सामग्री जुटाने में बड़ी आसानी हुई, और इस प्रकार मैंने बड़ी तेज गति से 'बुद्धचर्या' लिखने का काम शुरू किया।"

'बुद्धचर्या' एक अनूठा ग्रंथ है। पालि त्रिपिटक में जहां-जहां बुद्ध की जीवनी और उपदेश के बारे में जो विपुल सामग्री बिखरी हुई है, उसका इस ग्रंथ में संचय हुआ है। इसमें राहुलजी ने त्रिपिटक की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक सामग्रियों को भी एकत्र कर दिया है।

तिब्बत से लाई सारी सामग्री—पुस्तकें, चित्रपट आदि—विद्यालंकार विहार पहुंची, तो उसे व्यवस्थित करके संभालकर रख दिया गया। भारत में सत्याग्रह चल रहा था। राहुलजी और आनंदजी, दोनों ही उसमें अपना योगदान आवश्यक समझते थे। इसलिए आनंदजी पहले ही भारत चले आये। राहुलजी ने 'बुद्धचर्या' पुस्तक पूरी की—कुल 68 दिन में, और नायकपाद से बड़ी मुश्किल से इजाजत प्राप्त करके 15 दिसंबर (1930) को भारत पहुंचे।

बनारस होते हुए राहुलजी अपने कार्यक्षेत्र छपरा में पहुंच गये। पुराने सहयोगियों से मिले और परिस्थिति का जायजा लिया। अब वे साधु रामोदार बाबा नहीं, महापंडित राहुल सांकृत्यायन थे। हिंदू नहीं, बौद्ध भिक्षु थे। मुसलमान के घर भी रोटी-गोश्त खाने में अब उन्हें कोई संकोच नहीं था।

राहुलजी की तरह बिहार के अन्य कई नेता भी गांधीवाद से निराश हो चुके थे। उन्होंने मिलकर 1931 में बिहार सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। राहुलजी को उसका एक मंत्री बनाया गया।

उस साल मार्च में कांग्रेस कराची में हुई। अपने कई साथियों के साथ राहुलजी वहां पहुंच गये। वहीं आनंदजी भी मिल गए। वहीं पहली बार आचार्य धर्मानंद कोसंबी (1876-1947 ई.) से राहुलजी की भेंट हुई। धर्मानंदजी पालि बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने श्रीलंका गये थे, बौद्ध भिक्षु बने थे, तीन बार अमरीका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में जाकर उन्होने वहां सम्पादन-कार्य किया था और आचार्य श्चेरवात्स्की के निमंत्रण पर लेनिनग्राद भी गये थे। कराची-कांग्रेस के कुछ महीने बाद एक साल के लिए वे चौथी बार हार्वर्ड गये।

कराची-कांग्रेस के बाद आनंदजी श्रीलंका चले गये और राहुलजी मोहेंजो-दड़ो, हड़प्पा आदि पुरातात्विक महत्व के स्थानों की यात्रा करते हुए वापस छपरा पहुंच गये। कुछ दिन बाद वर्षावास के लिए वाराणसी पहुंचे। वहां आचार्य नरेंद्रदेव के साथ काशी विद्यापीठ में रहकर 'बुद्धचर्या' और 'अभिधर्मकोष' की छपाई के काम को निपटाया।

उसी साल सारनाथ में नये मूलगंधकुटी विहार का उद्घाटन-महोत्सव हुआ। उसके लिए नायकपाद धर्मानंदजी भी सारनाथ आये थे, साथ में आनंदजी भी। सबको श्रावस्ती, कुशीनगर, नालंदा, राजगृह आदि बौद्ध तीर्थों की यात्रा कराते हुए राहुलजी और आनंदजी उनके साथ ही श्रीलंका पहुंच गये।

श्रीलंका पहुंचने के कुछ ही महीने बाद राहुलजी और आनंदजी, दोनों को इंग्लैंड जाने की तैयारी करनी पड़ी। बात यह थी कि महाबोधि सभा द्वारा लंदन में प्रचारार्थ भेजे भिक्षु वापस लौट रहे थे। सभा के ट्रस्टी के सामने नये प्रचारक भेजने का सवाल

उठा, तो उनकी नजर आनंदजी पर पड़ी। राहुलजी बताते हैं- ''आनंदजी अकेले लंदन जाने के लिए तैयार न थे, इसलिए मुझे भी चलने के लिए कहा गया। मैं कुछ ही महीनों के लिए जाना पसंद करता था, और सो भी उस वक्त इस ख्याल से कि एक बार बाहर जाने का पासपोर्ट तो मिल जावे।''

राहुलजी की राजनीतिक गतिविधियों के कारण उन्हें ब्रिटिश सरकार का पासपोर्ट मिलना लगभग असंभव था। श्रीलंका के तत्कालीन प्रधानमंत्री सर जयतिलक को हस्तक्षेप करना पड़ा, तभी बड़ी मुश्किल से पासपोर्ट मिला। राहुलजी को ''पासपोर्ट मिल जाने से उसी तरह का आनंद हुआ, जैसे चिरबंदी को जेल से बाहर जाने की इजाजत मिले।''

कोलंबो बंदरगाह से 5 जुलाई, 1932 को पीतवस्त्रधारी दो भिक्षु—राहुल सांकृत्यायन और आनंद कौसल्यायन— एक फ्रांसीसी जहाज से यूरोप के लिए रवाना हुए। आनंदजी शुद्ध शाकाहारी थे, उन्हें समुद्र-यात्रा में काफी परेशानी हुई। लाल सागर, स्वेज नहर और भूमध्यसागर होता हुआ जहाज 23 जुलाई को फ्रांस के मारसेई बंदरगाह पहुंच गया। ट्रेन से पेरिस पहुंचकर वहां दो दिन रहे, कुछ प्राच्यविदों से मिले, वहां के कुछ स्मारक भी देखे। पेरिस से ट्रेन और जहाज की यात्रा करके राहुलजी और आनंदजी 27 जुलाई को लंदन पहुंच गये। वहां रिजेंट पार्क के नजदीक महाबोधि सभा का भवन था।

राहुलजी लंदन में साढ़े तीन माह रहे। वे आनंदजी की तरह प्रचारक की हैसियत से नहीं गये थे, इसलिए उन्होंने अपने इंग्लैंड-निवास का पूरा-पूरा उपयोग किया। लंदन पहुंचने के दूसरे ही दिन वहां की पत्रकारिता के करामात का अनुभव हुआ। ''डेली मेल'' के संवाददाता ने राहुलजी से उनकी तिब्बत-यात्रा के बारे में कुछ बातें पूछीं, तो उन्होंने साधारण तौर से बतला दीं। दूसरे दिन पत्र में पढ़ने को मिला कि भिक्षु राहुल ने दुनिया के बड़े-बड़े बीहड़ जंगलों में बहुत वर्ष बिताए, लेकिन आज तक किसी जंतु ने उसे कष्ट नहीं पहुंचाया! एक दिन यह भिक्षु तिब्बत के एक घोर जंगल में जा रहा था (तिब्बत में नंगे पहाड़ हैं, न कि घोर जंगल), उस वक्त छह-सात डाकुओं ने आकर चारों ओर से घेर लिया। वह तलवार चलाना ही चाहते थे कि उसी वक्त जंगल से शेर निकला, उसने घोर गर्जना की। डाकू प्राण लेकर भाग गये।

राहुलजी लंदन के दो-तीन समाचार-पत्रों को नियम से पढ़ते थे, परंतु कम्यूनिस्ट पार्टी के पत्र ''डेली वर्कर'' को अधिक चाव से पढ़ते थे। वे अक्सर ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय जाया करते। केंसिंग्टन म्यूजियम जाकर वहां दोनों बौद्ध भिक्षुओं ने बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की अस्थि-धातुओं के दर्शन किये। दोनों ने कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों की भी यात्रा की। हाइगेट कब्रिस्तान जाकर मार्क्स की समाधि पर फूल चढ़ाये।

राहुलजी ने सुल्तानगंज (भागलपुर) से निकलने वाली पत्रिका ''गंगा'' के

पुरातत्वांक के संपादन की जिम्मेदारी संभाली थी। लंदन में उन्होंने उस पत्रिका के लिए कुछ लेख तैयार किये। वे तिब्बत से लाये करीब तीन दर्जन चुनिंदा चित्रपट अपने साथ लंदन ले गये थे। वहां उनका प्रदर्शन हुआ। तभी राहुलजी को उनका असली मूल्य भी मालूम हुआ।

पहले राहुलजी ने सोचा था कि कुछ तिब्बती चित्रपटों को बेचकर वे नालंदा में महाविहार बनाने के लिए जमीन खरीद लेंगे। एक अमरीकी म्यूजियम को चित्र बेचने की बात भी चलायी थी। मगर लंदन में राहुलजी को जब चित्रपटों का वास्तविक महत्व पता चला तो उन्होंने उन्हें बेचने का इरादा छोड़ दिया। लंदन से ही उन्होंने पटना म्यूजियम के अध्यक्ष डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल को पत्र लिखा– ''मैं अपने तिब्बती चित्रपट म्यूजियम को देने को तैयार हूं। किंतु नालंदा में कोई सुरक्षित स्थान बन गया, तो वह वहां चले जायेंगे।''

कुछ दिन बाद, राहुलजी जब पेरिस में थे, तो जायसवालजी का तार मिला–''तिब्बती चित्रों के बारे में आपके 22 अक्तूबर के लिखे पत्र की शर्तें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हैं।'' राहुलजी की टिप्पणी है– ''नालंदा के स्वप्न के लिए मैंने एक अमेरिकन म्यूजियम के हाथ में बेचने के लिए एक पत्र लिख दिया था और यदि मैं लंदन न गया होता, तो उनके महत्व को इतना जल्दी न समझ पाता, और फिर शायद गलती कर बैठता।''

राहुलजी पहली यात्रा में तिब्बत से करीब डेढ़ सौ चित्रपट लाये थे। उस समय भी उनका मूल्य एक लाख रुपए से अधिक था।

महाबोधि सभा वाले चाहते थे कि राहुलजी इंग्लैंड से अमरीका जायें, मगर उनकी धर्मप्रचार में कोई दिलचस्पी नहीं थी। अब साम्यवाद के प्रति उनके मन में ज्यादा आकर्षण था, संभव हो तो सोवियत रूस की भी यात्रा करना चाहते थे। राहुलजी ने 14 नवंबर (1932) को आनंदजी तथा दूसरे मित्रों से विदाई ली और पेरिस पहुंच गये।

पेरिस के मुज़ी-ग्वी (संग्रहालय) में राहुलजी के तिब्बती चित्रपटों की प्रदर्शनी हुई। वहां के कला-समीक्षकों ने चित्रों की बहुत प्रशंसा की। उस संग्रहालय में भारत की कई कला-वस्तुएं हैं।

राहुलजी की पेरिस-यात्रा की एक महत्वपूर्ण घटना थी—आचार्य सिल्वां लेवी से भेंट। वे भारतीय संस्कृति के दुनिया के एक श्रेष्ठ विद्वान थे। उस समय उनकी अवस्था करीब 70 साल की थी, फिर भी अनुसंधान-कार्य में जुटे हुए थे। राहुलजी ने उनसे चार घंटे बातचीत की और उन्हें ''अभिधर्मकोष'' की एक प्रति भी भेंट की। राहुलजी ने ''गंगा'' के पुरातत्वांक के लिए ''महायान की उत्पत्ति'' और ''चौरासी सिद्ध'' दो लेख लिखे थे और अपने लंदन-निवास में उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया था। उन्होंने वे लेख आचार्य सिल्वां लेवी को दिखाये, तो उन्होंने उन्हें बहुत पसंद किया। इतना ही नहीं, उन्होंने उन लेखों को ''जूर्नाल् आसियातिक'' में छापने के लिए मांग लिया, जो बाद में उसमें छपे भी।

वे दोनों मूल हिंदी लेख राहुलजी की प्रसिद्ध पुस्तक 'पुरातत्व निबंधावली' में संकलित हैं। अंग्रेजी में अनूदित वे लेख राहुलजी की पुस्तक 'सिलेक्टेड एसेज' में शामिल किये गये हैं।

पेरिस-निवास के दौरान राहुलजी ने वहां का प्रख्यात राष्ट्रीय पुस्तकालय देखा, सोरबोन विश्वविद्यालय जाकर वहां के प्रो. फूशे आदि भारत-विद्या के कई पंडितों से मिले। वारसाई का महाप्रासाद और मदाम क्यूरी की प्रयोगशाला भी देखी।

राहुलजी सोवियत रूस जाने के लिए उत्सुक थे, इसलिए वे 30 नवंबर को जर्मनी के फ्रांकफुर्त नगर पहुंच गये। करीब पांच साल पहले श्रीलंका के विद्यालंकार विहार में मारबुर्ग विश्वविद्यालय के डा. रुडॉल्फ ओटो से राहुलजी की भेंट हुई थी। इसलिए अब राहुलजी उनसे मिलने मारबुर्ग गये। दोनों पंडितों की पांच घंटे तक शास्त्र-चर्चा चली।

राहुलजी आगे बर्लिन पहुंचे। सोवियत रूस का वीसा प्राप्त करने की कोशिश की, किंतु उसमें काफी देर लगने वाली थी। इसलिए बर्लिन के महत्वपूर्ण स्थानों को देखकर राहुलजी मारसेई (फ्रांस) वापस लौटे, 30 दिसंबर (1932) को जहाज पर सवार हुए और करीब छह महीने की यूरोप-यात्रा के बाद 16 जनवरी (1933) को श्रीलंका वापस पहुंच गये।

राहुलजी को अब भारत लौटना था। 30 जनवरी को भारत के लिए रवाना होने के पहले नायकपाद को प्रणाम करने गये। राहुलजी ने डायरी में लिखा- "विदा होते वक्त उनकी आंखों में आंसू आ गये। उनका बड़ा प्रेम है, कौन जानता है, यही अंतिम दर्शन हो।"

बात सच निकली। उसके बाद राहुलजी 1959 में ही पुनः श्रीलंका जा सके। उन्हें नायकपाद के देहांत का समाचार 1946 में जब मिला, तब वे लेनिनग्राद में थे।

भूकंप-पीड़ितों के बीच

राहुलजी की अब पुरातत्व में ज्यादा दिलचस्पी थी। अब उन्हें भारत में रहना था, इसलिए अपनी पुस्तकें और तिब्बत से लायी सामग्री पैक करके कलकत्ता रवाना कर दी। "गंगा" के पुरातत्वांक के काम को देखना था, इसलिए मद्रास और कलकत्ता होते हुए सुलतानगंज पहुंचे। वहां से फिर पटना गये। स्टेशन पर डा. काशीप्रसाद जायसवाल ने भिक्षु राहुल का स्वागत किया और वे उन्हें अपनी कोठी पर ले गये। दोनों में प्रगाढ़ स्नेह के संबंध स्थापित हुए।

भारत से महायान बौद्ध धर्म के लगभग सारे संस्कृत ग्रंथ लुप्त हो गये थे। कुछ संस्कृत बौद्ध ग्रंथ नेपाल और मध्य एशिया से मिले थे। अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रंथ तिब्बती और चीनी अनुवाद में उपलब्ध थे। ऐसी स्थिति में तत्कालीन कश्मीर राज्य के गिलगित स्थान से 1931 ई. में एक पुराने स्तूप से कई सारी बौद्ध भोजपत्र-पुस्तकें मिलीं, तो दुनियाभर के प्राच्यविदों में खुशी की लहर दौड़ गयी। राहुलजी जब पेरिस में थे, तो आचार्य सिल्वां लेवी ने उनसे उन गिलगित पांडुलिपियों को जाकर देखने का अनुरोध किया था। अब पुनः आचार्य लेवी का पत्र मिला था।

बड़ी संख्या में महायान बौद्ध धर्म की मूल पुस्तकें भारत में मिली थीं, इसलिए राहुलजी भी उन्हें देखने के लिए उत्सुक थे। वे गिलगित पांडुलिपियां गाथा-संस्कृत (प्राकृत मिश्रित संस्कृत) में थीं और पांचवीं-छठी सदी की गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में भोजपत्रों पर लिखी गयी थीं। राहुलजी ने उन्हें देखने के लिए गिलगित जाने का निश्चय किया। जायसवालजी ने कुछ रुपयों का और एक फोटो-कैमरे का इंतजाम कर दिया।

पटना में ही राहुलजी को सारनाथ से सूचना मिली कि अनागरिक धर्मपाल का देहांत हो गया है। इसलिए सारनाथ में धर्मपालजी के शव का सम्मान करके लाहौर और जम्मू होते हुए आगे मोटर से श्रीनगर पहुंचे। गिलगित पांडुलिपियों की कुछ पुस्तकें श्रीनगर पहुंच गयी थी, मगर वहां उनकी बड़ी दुर्दशा थी। राहुलजी लिखते हैं- "वे महत्वपूर्ण हस्तलेख बस्ते बांधकर ऐसे रखे गए थे, कि मालूम होता था, किसी व्यापारी का बहीखाता है। बारह-तेरह सौ वर्ष पुराने, भोजपत्र पर लिखे, उन हस्तलेखों की दुर्गति हो रही थी, उनमें से कितने ही टुकड़े झड़ रहे थे- पुराना भोजपत्र बहुत हल्के दबाव से टूट जाता है।"

राहुलजी को गिलगित जाने का आज्ञापत्र नहीं मिला, इसलिए उन्होंने लदाख की यात्रा करने का तय किया। राहुलजी ने लदाख की पहली यात्रा 1926 ई. में की थी।

श्रीनगर में जर्मन बौद्ध अनागरिक ब्रह्मचारी गोविंद से राहुलजी की भेंट हुई। उन्होंने भी लदाख साथ चलने की इच्छा व्यक्त की।

ब्रह्मचारी गोविंद एक अच्छे चित्रकार थे, अच्छे फोटोग्राफर भी थे। उन्होंने यूरोप, अफ्रीका और एशिया के कितने ही भागों की यात्राएं की थीं। दार्शनिक प्रवृत्ति के थे, स्वभाव अत्यंत मृदुल था। दोनों घुमक्कड़ों की लदाख-यात्रा खूब मजेदार रही। इस बार राहुलजी को लदाख में ज्यादा घूमना नहीं था। इसलिए लेह में हेमिस गुंबा के आश्रय में रहकर 4 जुलाई से 16 सितंबर (1933) तक राहुलजी ने खूब तेजी से काम करते हुए 'मज्झिम निकाय' का हिंदी अनुवाद किया, 'तिब्बत में बौद्धधर्म' पुस्तक लिखी, तिब्बती भाषा सीखने के लिए कुछ प्रारंभिक पुस्तकें (पाठावलियां) तैयार कीं और लदाख-यात्रा के बारे में कई लेख भी लिखे।

राहुलजी लाहौर होते हुए पटना पहुंचे। "मज्झिम निकाय" की छपाई प्रयाग में होने वाली थी, इसलिए वहां गये, और एक महीने के लिए दारागंज में पं. उदयनारायण तिवारी के घर डेरा डाल दिया। "तिब्बत में बौद्धधर्म" को हिंदुस्तानी एकेडमी (प्रयाग) ने ले लिया- अपनी पत्रिका में छापने के लिए।

उस साल (1933) दिसंबर के अंत में बड़ौदा (वड़ोदरा) में प्राच्यविद्या सम्मेलन हुआ। जायसवालजी सभापति थे; राहुलजी को हिंदी विभाग का सभापति चुना गया था। पं. जयचंद्र विद्यालंकार, जायसवालजी आदि अनेक लोगों के साथ अजंता-एलोरा, कार्ला-भाजा, बंबई, अहमदाबाद आदि कई स्थानों की यात्रा करते हुए राहुलजी बड़ौदा पहुंच गये। वहां प्राच्यविद्या सम्मेलन में डा. हीरालाल, डा. हीरानंद, पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, फादर हेरास आदि कई विद्वानों से राहुलजी की भेंट हुई। उन्होंने हिंदी विभाग में अपना भाषण 29 दिसंबर (1933) को पढ़ा। लिखते हैं- "दूसरे विद्वानों ने भी कुछ निबंध पढ़े, किंतु प्राच्य सम्मेलन में तो अंग्रेजी सर्वेसर्वा थी, वहां हिंदी को कौन पूछता था?"

राहुलजी प्रयाग लौटे। जब वे दारागंज में ठहरे थे, तो जनवरी के मध्य में एक दिन दोपहर को भूकंप के झटके महसूस हुए। दूसरे दिन अखबारों से पता चला कि भूकंप ने बिहार के मुजफ्फरपुर, दरभंगा, जमालपुर और मुंगेर के क्षेत्रों में प्रलय-लीला मचाई है। ऐसे वक्त राहुलजी को अपना स्थान भूकंप-पीड़ित जनता में दिखाई दिया और वे पटना के लिए रवाना हो गये। देश के अन्य कई नेता भी पटना में राजेंद्र बाबू के पास पहुंच रहे थे।

भूकंप-पीड़ित क्षेत्र के लिए पटना से रात को जो पहला दल गंगा-पार हुआ उसमें राहुलजी के अलावा पं. जवाहरलाल नेहरू भी थे। राहुलजी ने मुजफ्फरपुर, सीतामढ़ी, चम्पारन और सारन के इलाकों में जाकर भूकंप-पीड़ितों की सेवा में यथासामर्थ्य योग दिया। करीब डेढ़ महीना वे भूकंप-पीड़ितों के क्षेत्र में रहे। भूकंप-सहायता के सिलसिले में गांधीजी भी पटना पहुंचे थे। उनकी परिचिता एक अंग्रेज महिला श्रीलंका से होते हुए स्वदेश लौटना चाहती थी। राजेंद्र बाबू ने बताया कि इसमें

राहुलजी सहायक हो सकते हैं। राहुलजी ने श्रीलंका में सर जयतिलक को पत्र और तार भेज दिया।

यहां गांधीजी के बारे में राहुलजी के विचारों को उन्हीं के शब्दों में जानना बेहतर होगा। लिखते हैं– "इसी काम (सर जयतिलक को तार और पत्र भेजने) के सिलसिले में मैं गांधीजी के पास गया हुआ था। इससे पहले भी गांधीजी से मिलने का मुझे एक से अधिक बार अवसर मिला, लेकिन मुझे कभी कोई अधिक बात जानने की इच्छा नहीं हुई। उनके आदर्शवाद का सम्मान करते हुए भी मैं बौद्धिक तौर से उनसे बहुत दूर था, इसलिए मैं कभी उनके यहां गया भी तो कुछ मिनटों से अधिक नहीं ठहरा।"

पहली तिब्बत-यात्रा में ल्हासा से लौटते समय मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति राहुलजी के साथ सिलिगुड़ी तक आये थे, मगर गर्मी से परेशान होकर वापस चले गये थे। बाद में वे पुन: भारत आये, और पिछले कुछ महीनों से राहुलजी के साथ थे। राहुलजी अब दूसरी बार तिब्बत जा रहे थे, तो धर्मकीर्ति भी उनके साथ थे।

अब दूसरी बार छिपकर तिब्बत जाने की जरूरत नहीं थी। बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी ने राहुलजी को अपना पूजित सदस्य बना लिया था। राहुलजी ने जैसे-तैसे पांच सौ रुपए जोड़े थे। उतनी ही पूंजी के बल पर भिक्षु धर्मकीर्ति को साथ लेकर भिक्षु राहुल दूसरी तिब्बत-यात्रा के लिए 21 मार्च (1934) को कालिंपोङ् पहुंच गये।

तिब्बत की दूसरी यात्रा

राहुलजी ने तिब्बत की पहली यात्रा तिब्बती बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य के अध्ययन के उद्देश्य से की थी। वहां से लौटकर "तिब्बत में बौद्धधर्म" पुस्तक लिखते समय जब उन्होंने तिब्बती ग्रंथों के पन्ने पलटे, तो उन्हें यकीन हो गया कि भारत से गई कई हजार तालपोथियों में से बहुत सी आज भी वहां अवश्य मौजूद होनी चाहिएं। इसलिए उनकी यह दूसरी तिब्बत-यात्रा प्रमुख रूप से संस्कृत पुस्तकों की खोज के लिए हो रही थी।

राहुलजी को कहीं की भी दुबारा यात्रा करनी होती तो वे रास्ता बदलकर जाना पसंद करते थे। पिछली बार नेपाल के रास्ते से तिब्बत गये थे, और फरी-कालिंपोङ् के रास्ते लौटे थे। इस बार कालिंपोङ्-फरी के रास्ते से जा रहे थे। पिछली बार महायानी लामा के छद्मवेश में छिपकर गये थे। इस बार थेरवादी (हीनयानी) बौद्ध भिक्षु के वेश में खुले तौर पर जा रहे थे। पिछली बार दसरतन साहु, डुक्पालामा, मंगोल भिक्षु सुमति आदि का सहयोग लेकर ल्हासा पहुंचे थे। इस बार राहुलजी के संग जा रहे थे– राजनाथ पांडेय और भिक्षु धर्मालोक। राजनाथ पांडेय एम.ए. उत्तीर्ण तरुण थे; इसके अलावा उनके बारे में राहुलजी ने कोई जानकारी नहीं दी है। पहली तिब्बत-यात्रा में राहुलजी को सीमांत के एल्मो गांव तक पहुंचा देने वाले दसरतन साहु अब भिक्षु धर्मालोक थे और कालिंपोङ् में रह रहे थे। राहुलजी को करीब एक महीने कालिंपोङ् में रहना पड़ा, इसलिए मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति शायद पहले ही तिब्बत चले गये।

तिब्बत जाने के लिए गन्तोक स्थित पोलिटिकल अफसर का आज्ञापत्र प्राप्त करना आवश्यक था। उसके मिलने में देर हो रही थी, इसलिए राहुलजी स्वयं गन्तोक गये, अंग्रेज अफसर से मिले और आज्ञापत्र प्राप्त किया। राजनाथ पांडेय बिना आज्ञापत्र के नेपाली भेस में जा रहे थे। रास्ते के लिए आवश्यक चीजें और दवाइयां जमा कर लीं। सामान और सवारी के लिए खच्चरों की व्यवस्था करके 23 अप्रैल, 1934 को सुबह काफिला कालिंपोङ् से रवाना हुआ। रास्ता परिचित था, नेपाल वाले रास्ते से कम कठिन था। इस बार की तिब्बत-यात्रा में राहुलजी 'विनयपिटक' का हिंदी अनुवाद कर डालना चाहते थे, इसलिए रास्ते में ही काम शुरू कर दिया।

राजनाथ रास्ते में दो बार खच्चर से गिरे। एक बार तो मौत के मुंह में जाने से बाल-बाल बच गये। ग्यान्ची में चार दिन ठहरकर 19 मई को सुबह ल्हासा में

धर्मासाहु की कोठी पर पहुंच गये। दूसरे दिन से लिखाई का काम शुरू कर दिया। "विनयपिटक" का अनुवाद चल ही रहा था कि "साम्यवाद ही क्यों?" के लिखने में भी हाथ लगा दिया। इस बार मिलने-जुलने वाले ज्यादा थे, इसलिए रात के दो-दो बजे तक जागकर नियत काम को पूरा करते थे। लिखने के काम में राजनाथ भी मदद कर रहे थे, मगर ल्हासा में 20 दिन रहकर वे भारत वापस चले आये। भिक्षु धर्मालोक ल्हासा पहुंचने के बाद दूसरे ही दिन कहीं अन्यत्र चले गये थे।

राहुलजी को संस्कृत तालपोथियों की तलाश थी, जिनकी खोज के लिए उन्होंने कई मित्रों से कह रखा था। निरीक्षण के लिए इक्की-दुक्की ताल-पोथियां उनके पास पहुंचने लगीं। राहुलजी ने ल्हासा के आसपास के सेरा, डेपुङ आदि प्रसिद्ध मठों की यात्रा की। ल्हासा के नजदीक के कुन्दे-लिङ् विहार में जाकर भोट भाषा के विद्वान गेशे-शेरब् से भेंट की। उस विहार में एक अनमोल पोथी मिली- धमकीर्ति के "वादन्याय" पर आचार्य शांतरक्षित की टीका। राहुलजी ने उसके फोटो लिये। बाद में इसी यात्रा में डोर विहार में उन्हें इस पुस्तक का मूल भी मिल गया, जिसे उन्होंने 1936 में प्रकाशित किया।

इस यात्रा में राहुलजी का डेपुङ में रहने वाले एक चित्रकार गेशे धर्मवर्धन (गेदुन-छोम्फेल) से परिचय हुआ। वह लिखते हैं- "यह पतला-दुबला सीधा-सा आदमी भोट साहित्य और दर्शन का एक अच्छा पंडित, कुशल चित्रकार, ऊंचे दर्जे का कवि और उदारचेता आदर्शवादी पुरुष है।... साहित्य के भी अच्छे जानकार हैं", 'प्रमाणवार्तिक' अच्छा पढ़ा है।... गेशे धर्मवर्धन जैसा विद्वान, गुणी, त्यागी, संस्कृत, आदर्शवादी, सहृदय पुरुष तिब्बत में मिलना बहुत मुश्किल है...।" आगे पूरी तिब्बत-यात्रा में गेशे धर्मवर्धन का साथ रहा और वे राहुलजी के साथ भारत भी आये।

पता चला कि ल्हासा के उत्तर में काफी दूर के रेरिङ् विहार में कुछ तालपोथियां हैं। यात्रा कठिन थी, और खतरनाक भी। फिर भी राहुलजी ने वहां जाने का फैसला किया। साथी थे- गेशे धर्मवर्धन, नेपाली फोटोग्राफर नातीला और खच्चरवाला भोटिया। तीन पिस्तौल और एक राइफल की भी व्यवस्था की गयी थी।

इस यात्रा में राहुलजी को कई परेशानियों का सामना करना पड़ा। रेरिङ् विहार पहुंचकर भी कुछ हाथ नहीं लगा। वहां के प्रबंधक ने पोथियां दिखाने से इनकार कर दिया। रेरिङ् की यात्रा असफल रही। सम्ये महाविहार जाना चाहते थे, मगर पास में अब ज्यादा पैसे नहीं रह गये थे और खच्चर भी नहीं मिल रहे थे, इसलिए उस विचार को छोड़ दिया।

पता चला कि टशील्हुन्पो और साक्या विहारों वाले प्रदेश में तालपोथियां मिल सकती हैं। नेपाल का रास्ता उधर से ही था। जाड़ों में राहुलजी को भारत लौटना था। इसलिए जल्दी-जल्दी 'साम्यवाद ही क्यों?' को पूरा करके और खच्चरों का इंतजाम करके 18 सितम्बर (1934) को राहुलजी और गेशे धर्मवर्धन ल्हासा से साक्या की ओर रवाना हुए।

रास्ते में छोटे-मोटे कई विहारों को भेंट देते हुए पोइखङ् विहार पहुंच गये, जो ग्यान्ची से करीब 35 किलोमीटर पश्चिम में है। विक्रमशिला के अंतिम संघराज शाक्यश्रीभद्र (1127-1235 ई.) तिब्बत के इस विहार में रहे थे। यहां राहुलजी को कुछ महत्वपूर्ण तालपोथियां देखने को मिलीं, जिनकी उन्होंने सूची बनायी, फोटो लिये।

आगे राहुलजी शलू विहार गये। रिसुर रिम्पोछे पहली यात्रा के परिचित थे, प्रेम से मिले। वहां कुछ तालपोथियां देखने को मिलीं, जिनमें विक्रमशिला के नैयायिक ज्ञानश्री के नौ न्यायग्रंथ भी थे।

पता चला कि डोर के विहार में 700 से भी अधिक तालपोथियां हैं। राहुलजी गेशे के साथ वहां गये। वहां का प्रबंधक बड़ा रूखा आदमी निकला। बड़ी मुश्किल से तालपोथियां दिखाने के लिए तैयार हुआ। वहां तालपोथियों के 38 बंडल मिले। उनमें धर्मकीर्ति के "वादन्याय" की दो मूल पोथियां भी थीं। राहुलजी ने भोट अनुवाद से "वादन्याय" को थोड़ा-थोड़ा संस्कृत में करना शुरू कर दिया था, मगर अब तो मूल पुस्तक ही मिल गयी थी। राहुलजी ने चार दिन लगाकर उस पूरी पुस्तक को लिख लिया। वहां धर्मकीर्ति के दो ग्रंथ "हेतुबिंदु" और "न्यायबिंदु" पर दुर्वेक मिश्र की टीकाएं भी मिलीं। राहुलजी लिखते हैं- "धर्मकीर्ति के इन ग्रंथों को देखकर मैं खुशी से उछलने लगा।" वहां राहुलजी को तीन दर्जन से भी ज्यादा संस्कृत पुस्तकें देखने को मिलीं।

डोर विहार के बाद राहुलजी और गेशे साक्या विहार पहुंचे। वहां महंतराज के प्रेमपात्र डोनिर् छेन्पो (महापेशकार) ने दोनों का स्वागत किया। दोनों वहां 17 दिन (अक्तूबर 1934) दिन रहे। विद्या-प्रेमी डोनिर् छेन्पो की 35 वर्षीय संतान-विहीन पत्नी (चाम्-कुशो) छेरिङ् पल्मो (दीर्घायुश्री) ने दोनों यात्रियों की सुख-सुविधा का खूब ध्यान रखा। साक्या के महंतराज ने पुस्तकें देखने की अनुमति दे दी। वहां राहुलजी को एक बड़ी ही महत्वपूर्ण पुस्तक मिली- 'प्रमाणवार्तिक' के डेढ़ परिच्छेदों पर प्रज्ञाकरगुप्त का भाष्य- "वार्तिकालंकार"। राहुलजी ने उसे लिखकर उतार लिया।

साक्या में और भी कुछ संस्कृत पोथियां देखने को मिलीं, मगर वे ज्यादा महत्व की नहीं थीं। एक दिन नजदीक के पुराने ल्हखङ् विहार को देखने गये। वहां एक कोठरी में कई अनमोल संस्कृत ग्रंथ रखे हुए थे, जिनके बारे में वहां के अधिकारियों को भी पता नहीं था। राहुलजी को उनकी अगली तिब्बत-यात्रा (1936) में उन ग्रंथों का पता चला।

राहुलजी और गेशे को अब भारत के लिए रवाना होना था। चार खच्चरों और दो आदमियों की व्यवस्था हो गयी। 27 अक्तूबर (1934) को साक्या छोड़ा। लिखते हैं- "साक्या छोड़ते वक्त हमें अफसोस हुआ। यहां इतने प्रियजन मिले, जितने तिब्बत में कभी नहीं मिले थे। और, यह बात उसी यात्रा में नहीं रही, बल्कि बाद में दो बार मुझे तिब्बत और जाना पड़ा, तब भी वह स्नेह उसी तरह बना रहा। आगे तो वहां 40 से ऊपर संस्कृत की पुस्तकें निकल आयीं, जिन्होंने मेरे लिए साक्या को एक तीर्थ बना दिया।"

आगे का रास्ता परिचित था, क्योंकि पहली यात्रा में राहुलजी इसी रास्ते से होकर ल्हासा पहुंचे थे। मगर इस बार वे भिखमंगे लामा के छद्म-वेश में नहीं थे, न ही उन्हें बदन को मैला-कुचैला रखने की आवश्यकता थी। 16 नवंबर को सूर्यास्त के वक्त महाबोधा (काठमांडू) पहुंच गये। अगले दिन धर्मासाहु की कोठी पर चले गये।

राहुलजी और गेशे धर्मवर्धन काठमांडू में सोलह दिन रहे। पंडित हेमराज शर्मा से मिले, उनसे "प्रमाणवार्तिक" की खंडित फोटो-कापी प्राप्त की। काठमांडू के बौद्ध विहारों में संस्कृत पुस्तकों के बारे में पूछताछ की। कुछ राजपुरुषों से भी मिले। राहुलजी बुखार में ही काठमांडू से चले और 5 दिसंबर को पटना में जायसवालजी की कोठी पर पहुंच गये।

आगे चार महीने (2 अप्रैल 1935 तक) वे भारत में ही रहे। इस अवधि की महत्वपूर्ण घटनाएं हैं: पटना में टांसिल का आपरेशन करवाया। प्रयाग में डा. बद्रीनाथ प्रसाद के घर रहकर "वादन्याय" और "साम्यवाद ही क्यों?" की छपाई की व्यवस्था की। प्रयाग में ही पं. अवध उपाध्याय को गणितीय अन्वेषण के लिए यूरोप भेजने का इंतजाम किया। 42 साल की उम्र में चश्मा लगाना शुरू किया। पहली बोलती फिल्म 'चंडीदास' देखी, जो बिलकुल पसंद नहीं आयी। उसके पहले 1930 में सिर्फ एक अंग्रेजी फिल्म देखी थी, परंतु वह मूक थी। अमरीकी पत्रिका "एशिया" के लिए तिब्बती चित्रकला पर लेख लिखा। कुछ बौद्ध तीर्थों की पुनः यात्रा की। और, जापान की यात्रा के लिए 28 मार्च, 1935 को कलकत्ता पहुंच गये। गेशे धर्मवर्धन दार्जिलिंग चले गये थे। भिक्षु जगदीश काश्यप पेनाङ् तक राहुलजी के साथ जाने वाले थे।



राहुलजी विद्यालंकार विहार (केलानिया, श्रीलंका) के अपने अध्ययन-कक्ष में (1960)



(फोटो : वीरेन्द्र कुमार)



(फोटो : सुनील जाना)



(फोटो : वीरेन्द्र कुमार)



(फोटो : वीरेन्द्र कुमार)

एशिया की महायात्रा

अपने सामने एशिया का नक्शा खोलिए। 42 साल का पीतवस्त्रधारी एक बौद्ध भिक्षु एक दिन कलकत्ता से जहाज में चढ़ता है। रंगून पहुंचता है। वहां से आगे बढ़कर पेनाङ् (मलाया) रुकता है। फिर सिंगापुर से जहाज में चढ़कर हांगकांग और शांघाई होते हुए जापान पहुंचता है। करीब तीन महीने जापान में रहकर वहां की शहरी और ग्रामीण संस्कृति का अध्ययन करता है, मठों-मंदिरों के दर्शन करता है, जापानी बौद्ध विद्वानों से मिलता है।

भारत से चला था तो उस भिक्षु-यात्री के पास जापान पहुंचने तक के ही पैसे थे। थोड़े और पैसों की व्यवस्था हो जाती है, तो वह कोरिया जाता है, मंचूरिया जाता है, आगे साइबेरिया के प्रसिद्ध लंबे रेलमार्ग से एक सप्ताह तक यात्रा करने के बाद मास्को पहुंचता है। लेनिनग्राद जाने की अनुमति नहीं मिलती, तो वह रेल से ही बाकू पहुंचता है। आगे जहाज से कस्पियन सागर पार करके ईरान के प्रसिद्ध नगरों की यात्रा करता है। और, अंत में बलूचिस्तान के अत्यंत कष्टप्रद मार्ग से होकर स्वदेश लौटता है।

यह महापंडित राहुल सांकृत्यायन की एशिया की महायात्रा थी, एक प्रकार से एशिया की महापरिक्रमा थी। प्रस्थान किया था दक्षिण-पूर्वी भारत से, समुद्र के रास्ते से। वापस लौटे पश्चिमोत्तर भारत से, मरुस्थल के मार्ग से। करीब साढ़े छह महीनों की इस महायात्रा में कई स्थानों से राहुलजी को अपार स्नेह व सौहार्द मिला, तो ईरान व बलूचिस्तान के कुछ स्थानों पर काफी कष्ट भी झेलने पड़े । करीब दो सौ दिनों की इस समूची महायात्रा में अध्ययन और लेखन का कार्य सतत जारी रहा। क्या राहुलजी के पहले, और बाद में भी, एशिया की ऐसी विस्तृत यात्रा-परिक्रमा किसी अन्य यायावर ने की होगी?

राहुलजी 2 अप्रैल (1935) को कलकत्ता से 'गंगासागर' जहाज से रवाना हुए। यात्रा के साथी थे भिक्षु जगदीश काश्यप, जिन्हें पेनाङ् पहुंचकर वहीं रुकना था। विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी करने के बाद 1933 में काश्यपजी राहुलजी के सम्पर्क में आये थे। राहुलजी ने उन्हें पालि भाषा और साहित्य के अध्ययन के लिए विद्यालंकार विहार (श्रीलंका) भेज दिया था, जहां वे बौद्ध भिक्षु बने, राहुलजी के गुरुबंधु बने। श्रीलंका में अध्ययन पूरा करने के बाद काश्यपजी अब राहुलजी के साथ पेनाङ् तक जा रहे थे।

दोनों भिक्षु जहाज की डेक के मुसाफिर थे, इसलिए रंगून तक की तीन दिन की समुद्र-यात्रा में काफी तकलीफ हुई। रंगून में पांच दिन रुकना था, इसलिए ट्रेन से उत्तर की ओर मांडले पहुंचकर बर्मा के पुराने स्थानों - अमरपुर और आवा - के ध्वंसावशेष देखे। रंगून लौटकर वहां की हिंदी गोष्ठी के वार्षिक उत्सव में शरीक हुए, भाषण दिया।

आगे जहाज से 14 अप्रैल को पेनाङ् पहुंचे। वहां बुद्धिस्ट एसोसिएशन का खूबसूरत मंदिर-विहार था, जहां काश्यपजी को रहना था। राहुलजी आगे ट्रेन से सिंगापुर पहुंचे, उस द्वीप-शहर के प्रमुख स्थानों को देखा, और वहां से 21 अप्रैल (1935) को "अन्योमारू" जहाज से जापान के लिए रवाना हुए। अब राहुलजी अकेले थे। "वादन्याय" के प्रूफ साथ चल रहे थे। साथ ही, जापान संबंधी पुस्तकों का भी अध्ययन हो रहा था।

सातवें दिन जहाज हांगकांग पहुंचा। नीचे उतरकर टैक्सी की और द्वीप का चक्कर लगाया। उसके छह दिन बाद जहाज शांघाई पहुंचा। किनारे पहुंचकर राहुलजी ने चीन के इस सबसे बड़े महानगर के दर्शन किये। जहाज आगे बढ़ा। 3 मई को दोनों ओर जापान की भूमि दिखाई देने लगी- दाईं ओर क्यूशू द्वीप और बाईं ओर प्रधान होंशू द्वीप। एक अग्निबोट से डाक्टर और कुछ दूसरे अफसर जहाज पर आये। राहुलजी से यात्रा के उद्देश्य के बारे में पूछा, तो उन्होंने बताया- "मैं एक बौद्ध भिक्षु हूं और आपके बौद्ध देश का अध्ययन करने के लिए आया हूं।"

राहुलजी ने याकोहामा तक का जहाज का टिकट लिया था। जहाज को कोबे बंदरगाह में चार दिन रुकना था। राहुलजी ने उसका उपयोग आसपास के नगरों और ऐतिहासिक स्थानों को देखने के लिए किया। ओसाका शहर देखा। फिर नजदीक के होरियोजी बौद्ध मंदिर को देखने गये। यह जापान का सबसे पुराना विहार है। यहां का सबसे पुराना मंदिर ईसा की छठी सदी का है। प्रधान मंदिर की दीवार पर अजंता-शैली के चित्र हैं। इस मंदिर में एक ऐसी भारतीय हस्तलिपि भी सुरक्षित है, जिसमें आरंभ में ही हर्षकालीन कुटिलाक्षरों की पूरी वर्णमाला दी गयी है। राहुलजी नारा नगर भी गये।

क्योतो में राहुलजी ने वहां के विशाल हिगाशी होङ् गन्जी के मंदिर को देखा। वहां के ओतानी विश्वविद्यालय गये। प्रसिद्ध जापानी बौद्ध विद्वान डा. सुजुकी घर पर नहीं थे, श्रीमती सुजुकी ने स्वागत किया।

जहाज 10 मई (1935) को याकोहामा बंदरगाह पहुंचा। वहां से बिजली की गाड़ी पकड़कर राहुलजी तोक्यो (टोकियो) पहुंच गये। बर्लिन में 1932 में जापान के श्री सकाकीबारा से राहुलजी का परिचय हुआ था। उन्होंने यहां तोक्यो में उनके मंदिर में रहने का राहुलजी को निमंत्रण भेजा था। राहुलजी उनके पास पहुंच गये। आगे 26 जून तक वे सवा महीना तोक्यो में सकाकीबारा के साथ ही रहे। उन्होंने राहुलजी के आराम का हर तरह से ख्याल रखा।

राहुलजी का तोक्यो-निवास का काल ज्यादातर विद्वानों से मिलने और विद्यासंस्थाओं को देखने में गुजरा। वे जापान के प्रो. इनोये, नागाई, कावागूची, किमूरा, वतनबे, ताकेदा आदि बौद्ध पंडितों से मिले। राहुलजी ने कावागूची की तिब्बत-यात्रा की पुस्तक पहले ही पढ़ रखी थी। प्रो. किमूरा तोक्यो के रिश्शो बौद्ध विश्वविद्यालय में अध्यापक थे।

राहुलजी के घुमक्कड़ी के जीवन की यह एक खूबी रही कि वे अपने को स्थानीय रीति-रिवाजों के सहज ही अनुकूल बना लेते थे। जहाज में ही उन्होंने पेंसिल-जैसी दो लकड़ियों से खाना खाने का अभ्यास शुरू कर दिया था। वे जापानी भोजन के भी जल्दी ही अभ्यस्त हो गये। लिखते हैं- "भोजन या संगीत का स्वाद अधिकतर अभ्यास से पैदा होता है।"

राजधानी तोक्यो की शहरी संस्कृति को देखने-समझने के बाद राहुलजी को जापान के ग्राम्य जीवन को देखने की इच्छा हुई। दूसरी बार तिब्बत जाते समय कालिंपोङ् में जापानी बौद्ध विद्वान ब्योदो से राहुलजी का परिचय हुआ था। अब उनका आग्रह था कि राहुलजी उनके गांव नित्ता में चलकर रहें। नित्ता में ब्योदो-परिवार का मंदिर- निवास बड़ा रमणीय और शांत स्थान था। राहुलजी वहां करीब डेढ़ महीना रहे।

ब्योदो का परिवार बौद्ध पुरोहितों का था और वे संस्कृत भी जानते थे। राहुलजी का ज्यादा समय 'दीर्घनिकाय' का हिंदी अनुवाद करने और प्रूफ देखने में जाता था। बाकी समय में वे जापान के ग्रामीण जनजीवन को देखने-समझने की कोशिश करते थे। एक दिन जापान में संस्कृत के सबसे बड़े पंडित वोगिहारा से भी मिलकर आये।

जापानी लोग हिमालय के देवदार के सौंदर्य पर मुग्ध हैं। वहां नित्ता में भी हिमालय से लाए देवदार के छोटे-छोटे पौधे बिक रहे थे। नित्ता छोड़ने के पहले श्री ब्योदो का आग्रह हुआ कि राहुलजी अपनी स्मृति के लिए उनके मंदिर के सामने देवदार को लगायें। राहुलजी की टिप्पणी है- "स्मृति पर मुझे विश्वास बहुत नहीं है, लेकिन दो, चार, दस पीढ़ियों के लिए एक सुंदर वस्तु छोड़ जाना अच्छी चीज है।"

राहुलजी तोक्यो लौटे। आगे करीब एक सप्ताह तक सकाकोबारा को साथी बनाकर पुनः क्योतो और नारा की यात्रा की। साककीबारा से बिदा लेते समय राहुलजी को गोसाईंजी की चौपाई याद आ गयी- "बिछुरत एक प्राण हरि लेई।" आगे राहुलजी ने अकेले ही कोयासान् की यात्रा की। वहां संग्रहालय और बौद्ध संस्थाओं को देखा, विद्वानों से मिले। कोयासान् के हिमालय पर्वतस्थली जैसे सौंदर्य पर राहुलजी मोहित हो गये। लिखते हैं- "मुझे मालूम नहीं होता था, कि मैं किसी दूसरे देश में आ गया हूं।"

राहुलजी के घुमक्कड़ी के जीवन का एक नियम यह था कि गये रास्ते से न लौटा जाय। वे आगे मंचूरिया से होकर सोवियत रूस जाना चाहते थे। यूरोप-यात्रा के समय (1932) भी उन्होंने रूस जाने की कोशिश की थी। इस बार वे सोवियत के रास्ते लौटना चाहते थे, मगर उनके पास पूरा पैसा नहीं था। उसी वक्त अमरीकी पत्रिका "एशिया"

के लिए तिब्बती चित्रकला पर लिखे लेख का 80 डालर (300 रु.) पारिश्रमिक आ गया। फिर आनंदजी द्वारा भारत से भेजे करीब उतने ही रुपए और आ गये, तो रूस जाना निश्चित हो गया। मंचूरिया और रूस का वीसा भी मिल गया। उस समय कोरिया पर जापान का ही शासन था, इसलिए वहां जाने में कोई कठिनाई नहीं थी।

9 अगस्त (1935) को जहाज पर चढ़कर 9 घंटे की समुद्र-यात्रा के बाद राहुलजी कोरिया के फूसन बंदरगाह पहुंच गये। वहां से ट्रेन पकड़कर राजधानी केयिजो जाकर वहां के हीगाशी मंदिर पहुंचे। दूसरे दिन वहां के धर्माचार्य के साथ कोङ्शान् (वज्रपर्वत) के लिए रवाना हुए। सात-आठ सौ साल के लंबे अंतराल के बाद ही अब राहुलजी के रूप में एक भारतीय बौद्ध भिक्षु का कोरिया में आगमन हुआ था।

कोङ् शान् पर्वत-क्षेत्र के शिखरों और बौद्ध विहारों को देखने के बाद राहुल जी केइजो (सियोल) पहुंचे। शहर को देखा। फिर ट्रेन से कोरिया की सीमा पार करके मंचूरिया में प्रवेश किया और राजधानी मुक्दन् (शेन्याङ्) पहुंचे। बौद्ध विहारों को देखा; वहां के एक लामा मंदिर में मंगोल भिक्षुओं से मिले। राहुलजी को 1958 में पुनः एक बार मंचूरिया (चीन) की यात्रा करने का मौका मिला।

आगे राहुलजी ने ट्रेन से सिङ्किङ् और हर्बिन् की यात्रा की। बौद्ध मठों में भारतीय भिक्षु का खूब स्वागत हुआ। 28 अगस्त को राहुलजी मंचूरिया के आखिरी स्टेशन मनचूली पहुंच गये। वहां से उन्हें मास्को तक की लंबी यात्रा के लिए दूसरी ट्रेन पकड़नी थी। साइबेरिया की सर्दी से गुजरना था, इसलिए राहुलजी ने बौद्ध भिक्षु के वस्त्र बक्से में बंद कर दिये। दूसरे कपड़े खरीदे। एक ओवरकोट भी खरीदा।

मनचूली से 29 अगस्त (1935) को ट्रेन रवाना हुई। आगे एक सप्ताह तक इसी ट्रेन में सफर करके मास्को पहुंचना था। अगले सोवियत के पहले स्टेशन पर सामान देखा गया, वीसा की मियाद बढ़ा दी गयी और राहुलजी के रोलैफ्लैक्स कैमरे को बांधकर उस पर मुहर लगा दी गयी। रेलयात्रा में अच्छे संगी-साथी मिल गये।

ट्रेन 4 सितंबर को आधी रात को मास्को पहुंची। अगले दिन सुबह राहुलजी एक होटल में पहुंचे। लेनिनग्राद जाना चाहते थे, मगर इजाजत नहीं मिली। लिखते हैं कि, दिल में बहुत बुरा लगा। डा. श्चेरवात्स्की और डा. ओल्देनबर्ग से मिलने की बड़ी इच्छा थी। पता चला कि ओल्देनबर्ग का देहांत हो गया है, और श्चेरवात्स्की लेनिनग्राद में हैं।

उसी दिन रात को बाकू की गाड़ी पकड़ी। व्यस्तता के कारण मास्को में डालर को रूसी सिक्के में बदल लेने का मौका नहीं मिला था। इसलिए खाने-पीने की चीजें खरीदने तक के लिए भी पास में रूसी पैसा नहीं था। परंतु सहयात्रियों ने कोई तकलीफ नहीं होने दी। 8 सितंबर की रात को ट्रेन बाकू पहुंच गयी। आगे के तीन दिन बाकू में रहकर अनेक दर्शनीय स्थानों को देखा। बाकू के नजदीक के ज्वालादेवी के मंदिर (अग्निपूजकों के मंदिर) पहुंचकर वहां के नागरी शिलालेखों को सुगमता से पढ़ना शुरू किया तो पथप्रदर्शिका को बड़ा आश्चर्य हुआ।

अब तेल के कुओं की इस नगरी से जहाज पकड़कर कस्पियन सागर पार करके ईरान में प्रवेश करना था। 12 सितंबर को सवेरे जहाज ईरान के पहलवी बंदरगाह पहुंच गया। राहुलजी फारसी अच्छी जानते थे, इसलिए अब भाषा की दिक्कत नहीं थी। ईरान में पहुंचने पर भी अभी वे कोट-पतलून में ही थे।

पहलवी से मोटर द्वारा राहुलजी तेहरान पहुंचे और एक मेहमानखाने (होटल) में जाकर ठहरे। ईरान में उस समय चीजें बड़ी सस्ती थीं। राहुलजी ने ईरान में कुछ दिन रहकर वहां के कुछ प्रमुख शहरों को देखने का निश्चय किया। वे बस से इसफहान गये। इस्लाम के आने के पहले यह ईरान का एक मशहूर शहर था। राहुलजी ने वहां के पुराने स्मारकों को देखा।

राहुलजी इसफहान से आगे दक्षिण की ओर शीराज गये। पास ही हखामनि सम्राटों की नगरी परसेपुलीस (पारसपुरी, तख्तजमशीद) के पुरावशेष थे। वहां के नंगे पहाड़ और सौंदर्य-वंचित नजारे को देखकर राहुलजी लिखते हैं- "ताज्जुब होता था कि प्राकृतिक सौंदर्य से वंचित इस प्रदेश में हाफ़िज और शादी जैसे कवि कैसे हो गए।... क्या ईरान के महान शाहंशाहों के समय भी यह जगह ऐसी ही सूखी और नंगी थी? पारसपुरी उस समय सारी सभ्य दुनिया की राजधानी थी। दारा के राज्य में पूरब में सिंध, पश्चिम में यूनान और मिस्र तक शामिल थे। पहाड़ की जड़ में दारा के महल थे। अब भी उसके बड़े-बड़े खंभे वहां खड़े थे।"

राहुलजी 26 सितंबर को तेहरान लौट आये और अगले दो दिन वहां रहे। मशहद (उत्तर-पूर्वी ईरान) पहुंचकर आगे काबुल (अफगानिस्तान) के रास्ते भारत लौटना चाहते थे, मगर वहां का वीसा नहीं मिला। फिर भी मशहद जाने का निश्चय किया– इस आशा से कि शायद वहां से वीसा मिल जाय। तेहरान से मशहद तक की तीन दिन की रातदिन की बस-यात्रा बड़ी कष्टदायक रही। ड्राइवर के पास बैठना था। पैर रखने की जगह नहीं थी, पीठ की ओर भी कोई सहारा नहीं था।

रास्ते में फीरोजकुह, शाहरूद और नेशापोर शहर मिले। किसी समय नेशापोर ईरान का प्रसिद्ध विद्याकेंद्र रहा है। यहां कवि और गणितज्ञ-ज्योतिषी उमर खैयाम (लगभग 1100 ई.) की समाधि है। राहुलजी बस वाले को अतिरिक्त पैसा देने को तैयार थे, मगर वह बस को उधर ले जाने के लिए तैयार नहीं हुआ।

मशहद से हिरात-काबुल (अफगानिस्तान) का रास्ता खुला था। राहुलजी उसी रास्ते से लौटना चाहते थे, मगर मशहद में पता चला कि दस दिन से पहले वीसा नहीं मिल सकता। विवश होकर राहुलजी को बलूचिस्तान के बोलन दर्रे के कठिन रास्ते से लौटने की तैयारी करनी पड़ी।

मशहद शिया लोगों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। सुंदर शहर है। राहुलजी मशहद से 28 किलोमीटर दूर के तूस स्थान पर जाकर महाकवि फिरदौसी की समाधि देखकर आये। वहां से लौटकर रात को मशहद नगर देखने निकले, तो किसी ने मनीबैग उड़ा लिया। उसमें 90 रु. के बराबर अमरीकी और ईरानी सिक्के थे। चैक भुनाकर पैसों

का इंतजाम करना पड़ा।

3 अक्तूबर (1935) को रात के 9 बजे बस मशहद से रवाना हुई। आगे की लगातार पांच दिन की इस बस-यात्रा के बारे में राहुलजी ने लिखा है- "इस बस की तकलीफ के बारे में मत पूछिए। शायद इतनी तकलीफ जिंदगीभर में किसी यात्रा में न हुई होगी। यह माल लादने की लॉरी थी। नीचे दो हिस्सा माल भरा हुआ था। पीछे की एक-चौथाई जगह माल से पूरी पटी थी। छत भी बोझ से टूटी जा रही थी। लॉरी पर लिखा था "मख्सूस हम्ल-बार" (सिर्फ बोझा ढोने के लिए), तो भी अठारह मुसाफिर इसमें ठूंस दिए गए थे... 9 हिंदुस्तानी थे, 9 ईरानी। पहिली रात बैठने के बाद सोने का नाम आया। मैंने राय पेश की- हमें सिर को सिर्फ अपना समझना चाहिए, बाकी शरीर को बोरों का ढेर मान लेना चाहिए। वही हुआ।"

रास्ते में तुरबते-हैदरी, काईन, विरजंद होते लॉरी 7 अक्तूबर को ज़ाहिदान पहुंची। दो दिन बाद नोककुंडी के लिए बस मिली। रास्ते में ईरान और तत्कालीन ब्रिटिश भारत (बलूचिस्तान) की सीमा मिली। आगे बढ़ने पर तीन जगह बस बालू में फंसी। राहुलजी लिखते हैं- "शताब्दियों से यह निर्जल, निर्जन सैकड़ों मीलों का कांतार हिंदुस्तान की रक्षा करता था; शत्रु की हिम्मत नहीं होती थी कि भारी सेना लेकर इधर से आए। लेकिन अब तो लॉरियों ने इस बयाबान को चंद घंटों का रास्ता बना दिया है। हम (10 अक्तूबर को) एक बजे नोककुंडी पहुंच गए।"

नोककुंडी से राहुलजी रेलगाड़ी में सवार हुए। गाड़ी से बाहर झांकने पर नंगे पहाड़ और रेतीली भूमि दिखाई दे रही थी। दोपहर को गाड़ी बोलन दर्रे में घुसी, और उसने कई सुरंगों को पार किया। आगे स्पेजंद जंक्शन से क्वेटा की ओर जाने वाली गाड़ी में सवार होकर राहुलजी 12 अक्तूबर (1935) को शाम को लाहौर पहुंच गये। लाहौर में छह दिन रहकर दिल्ली ठहरते हुए प्रयाग पहुंच गये। लगता है कि लाहौर पहुंचने के पहले ही राहुलजी ने कोट-पतलून को छोड़कर पुन: बौद्ध भिक्षु के वस्त्र पहन लिये थे!

इस यात्रा में राहुलजी ने 'दीर्घनिकाय' का हिंदी अनुवाद पूरा कर लिया था। 'जापान' पुस्तक भी लिख डाली थी। प्रयाग में इन पुस्तकों को प्रेस में दे दिया। उन दिनों राहुलजी अपनी ओर से ही पुस्तक प्रेस में कंपोजिंग के लिए दे देते थे- इलाहाबाद के मशहूर लॉ जर्नल प्रेस में और उसके बाद किसी प्रकाशक को पक्का करते थे।

टांसिल उभड़ पड़ी थी, इसलिए उसके आपरेशन के लिए राहुलजी पटना गये, जायसवालजी के घर। धूपनाथजी और आनंदजी भी वहीं पहुंच गये थे। तीनों सारनाथ आये, तो वहां 18 साल बाद राहुलजी ने अपने तीनों सहोदरों (श्यामलाल, रामधारी और श्रीनाथ) को देखा।

उसके बाद राहुलजी करीब एक महीने प्रयाग में रहकर किताबों के प्रूफ देखते रहे। फिर जायसवालजी के पास पटना चले गये। आगामी गर्मियों में उन्हें पुन: तिब्बत जाना था।

राहुलजी पटना ही में थे कि 23 दिसंबर (1935) को उन्हें ज्वर आना शुरू हो गया। जायसवालजी को मैसूर में होने वाले प्राच्य सम्मेलन में जाना था। पूछा भी– ''मैं रह जाऊं?'' मगर उस समय खतरे जैसी कोई बात नजर नहीं आ रही थी।

बुखार बढ़ता गया। तीन दिन बाद 105 डिग्री पर पहुंचा। राहुलजी ने अस्पताल में भर्ती होना ठीक समझा। संयोग से धूपनाथ भी आ गये। बुखार नहीं उतरा और बदन पर लाल दाग निकल आये, तो स्पष्ट हो गया कि यह टाइफाइड (मोतीझरा) है।

आगे पांच दिन राहुलजी बेहोश रहे। पाखाना-पेशाब की भी सुध नहीं रही। धूपनाथजी ने रात-दिन सेवा की। अखबारों में खबर छप गयी थी, इसलिए बहुत से मित्र मिलने आये। राहुलजी लिखते हैं– ''30 दिसंबर से 3 जनवरी (1936) के पांच दिनों में मैं जिंदगी और मौत के बीच झूल रहा था। धूपनाथ बहुत खिन्न थे, मालूम होता था किसी वक्त भी मेरे प्राण निकल जाएंगे। उन्होंने तो यहां तक सोच लिया था कि शरीर को जलाकर हड्डियों को अपने गांव में ले जा उस पर स्तूप बनाएंगे।... मैं सारी बीमारी में न चिल्लाता, न आह करता, न अकबक बोलता था। यह सुनकर बड़ी खुशी हुई कि मैंने राम या भगवान का नाम बेहोशी में भी नहीं लिया– मेरे नास्तिक होने का यह एक पक्का सबूत था। धूपनाथ ने बतलाया– एक बार आपके मुंह से धर्मकीर्ति का नाम निकला था। यह निकलना स्वाभाविक था। मौत के लिए मुझे जरा भी हर्ष-विषाद नहीं था, लेकिन यह ख्याल जरूर आता था, कि धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' को पूरा संपादित करके मैं प्रकाशित नहीं कर सका।''

बीस दिन अस्पताल में रहकर राहुलजी जायसवालजी के घर लौटे। जायसवालजी भी मैसूर से आ गये थे। राहुलजी बहुत कमजोर हो गये थे। मगर महाशिवरात्रि के समय नेपाल पहुंचना जरूरी था। 1 फरवरी को मुंगेर साहित्य सम्मेलन में सभापति-पद से भाषण देकर नेपाल में प्रवेश करने के लिए राहुलजी, कमजोरी की हालत में ही, 17 फरवरी (1936) को रक्सौल पहुंच गये। नेपाल-यात्रा के लिए धूपनाथ भी साथ चल रहे थे।

तिब्बत की तीसरी यात्रा

पिछली बार (1934 ई.) राहुलजी कालिंपोङ्-फरी के रास्ते तिब्बत गये थे और नेपाल के रास्ते भारत लौटे थे। अब तीसरी बार, पहली तिब्बती-यात्रा की तरह, नेपाल के रास्ते तिब्बत जा रहे थे। दूसरी तिब्बत-यात्रा में राहुलजी को पोइखङ्, शलू, ङोर और साक्या के मठों में कई महत्वपूर्ण तालपोथियां देखने को मिली थीं। इस तीसरी यात्रा में उन्हें साक्या के समीप के ल्हखङ् छेन्पो विहार की एक पुरानी कोठरी में 'प्रमाणवार्तिक' (टीका व भाष्य) और 'योगाचारभूमि' जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथों की तालपोथियां मिलीं।

मौत के मुंह से बच निकले थे; अभी शरीर में इतनी ताकत नहीं थी कि पहाड़ की चढ़ाई पैदल चलकर पार कर सकें, इसलिए चार कुलियों वाला खटोला किराये पर करके काठमांडू पहुंचे- धर्ममान साहु के घर, 18 फरवरी (1936) की रात को। आगे 14 अप्रैल तक, करीब दो महीने, राहुलजी काठमांडू में ही रहे। लिखते हैं- "मैंने अपने दो महीने के निवास में जहां "दीर्घनिकाय" और "जापान" के प्रूफ का काम किया, वहां नेपाल की वंशावलियों, सिक्कों, तालपत्रों का भी अध्ययन करता रहा।" बाद में जाकर राहुलजी ने नेपाल के इतिहास के बारे में एक बड़ा ग्रंथ लिखा।

नेपाल-यात्रा के लिए धूपनाथ भी राहुलजी के साथ गये थे। बाद में जायसवालजी भी नेपाल पहुंचे। राहुलजी ने उन्हें काठमांडू और आसपास के ऐतिहासिक स्मारकों के दर्शन कराये। स्वयंभू चैत्य के एक शिलालेख से पता चला कि 1350 ई. में बंगाल का 'सुरत्राण शमसदीन भांगरा' (सुलतान शमसुद्दीन बागरा) नेपाल आया और उसने वहां बहुत-से देवालय तोड़े। मगर राजगुरु पं. हेमराज शर्मा यही कह रहे थे कि नेपाल में किसी मुसलमान विजेता ने पैर नहीं रखा। खैर, जायसवालजी ने भारत लौटकर इस ऐतिहासिक तथ्य को उजागर कर दिया।

इस बार की तिब्बत-यात्रा में श्रीलंका के अभयसिंह परेरा राहुलजी के साथ जा रहे थे। वे दस-बारह साल से वाराणसी में संस्कृत पढ़ रहे थे और अब "न्यायाचार्य" की अंतिम परीक्षा दे रहे थे। राहुलजी ने उनसे कहा- "भोटभाषा में बौद्धन्याय के कितने ही महत्वपूर्ण और दुर्लभ ग्रंथ मौजूद हैं। भारतीय न्याय के विकास को अच्छी तरह समझने के लिए इन ग्रंथों का पढ़ना जरूरी है, क्योंकि उनके संस्कृत मूल लुप्त हो चुके हैं। यदि आप तिब्बत जाना चाहें, तो परीक्षा देकर नेपाल चले आयें। मैं अपने साथ ले चलूंगा, और टशील्हुन्पो में एक विद्वान के पास पढ़ने का इन्तिजाम कर दूंगा।"

अभयसिंह तिब्बत जाने के लिए काठमांडू पहुंचे।

राहुलजी अब शरीर में बल महसूस करते थे, फिर भी सीमा की ओर यात्रा के लिए राजगुरु ने दो घोड़ों की व्यवस्था कर दी। राहुलजी भिक्षु के पीतवस्त्रों में थे। रास्ता परिचित था। तातपानी के आगे भोट की सीमा में पहुंचने पर चढ़ाई शुरू हुई। ञेनम् पहुंचे। वहां शिगर्चे के फोटेग्राफर तेजरतन अपनी भोटिया पत्नी के साथ लौट रहे थे, इसलिए रास्ते के दो और साथी मिल गये। अभयसिंह अपने को तिब्बत की परिस्थितियों और रीति-रिवाजों के अनुकूल नहीं बना पा रहे थे।

6 मई को सुबह राहुलजी और अभयसिंह साक्या पहुंच गये। इस बार भी डोनिर् छेन्पो ने दिल खोलकर स्वागत किया। राहुलजी इस बार साक्या में करीब ढाई महीने रहे। सवा महीने बाद अभयसिंह को टशील्हुन्पो रवाना कर दिया।

पिछली बार के साक्या-निवास में राहुलजी को यहां 'वार्तिकालंकार' (प्रज्ञाकरगुप्त-कृत प्रमाणवार्तिक-भाष्य) के डेढ़ परिच्छेद की हस्तलिपि मिली थी, मगर उसका वे आधा परिच्छेद ही लिखकर ले गये थे। इस बार, जुकाम और ज्वर के बावजूद, शेष ग्रंथ लिख डाला।

डोनिर् छेन्पो, उनकी पत्नी, (चामकुशो) छेरिङ् पल्मो और परिवार के अन्य सदस्य भिक्षु राहुल की सुख-सुविधाओं का बहुत ध्यान रखते थे। साक्या मठ के महंतराज हर तरह से सहायता देने के लिए तैयार थे। एक दिन बोले- "एक बार ल्हाखङ् छेन्मो के कोठे पर छग्पे-ल्हाखङ् नामक छोटा-सा पुस्तकालय भी खुलवाकर देख लो।" पिछली यात्रा में राहुलजी इस कोठे के दरवाजे तक पहुंचे थे, परंतु भीतर अमूल्य ग्रंथराशि हो सकती है, इसका उन्हें तनिक भी अंदेशा नहीं था। राहुलजी को अपनी चारों तिब्बत-यात्राओं में सबसे महत्वपूर्ण तालपोथियां इसी स्थान पर मिलीं, इसलिए इसका विवरण उन्हीं के शब्दों में पढ़ना ज्यादा उपयुक्त होगा-

"25 मई (1936) का स्मरणीय दिवस आया।... मैं छग्पे-ल्हाखङ् में दोपहर को गया। उन सीधी, लंबी, डरावनी सीढ़ियों पर चढ़ते वक्त मुझे बहुत कम आशा थी कि वहां कोई संस्कृत की पुस्तक होगी। कोठे पर पहुंचकर दाहिनी ओर घुमा। पहिली कोठरी थी। बाहर देखने से बिल्कुल मामूली-सी मालूम होती थी। सैकड़ों वर्ष पुराना किवाड़ और चौखट विद्रूप-सा दिखाई देता था। भिक्षु अफसर ने मुहर तोड़ा, ताले पर लिपटे कपड़े को अलग किया, कुंजी घुमाई, ताला खुल गया। किवाड़ों को पीछे की ओर ढकेला। न जाने कितने वर्षों की धूल जमी हुई थी। एक बार इतनी धूल उड़ी कि कोठरी में धुआं-सा भर गया। जरा-सा ठहरकर हम भीतर घुसे। फर्श पर भी पैरों की छाप लगाने के लिए धूल मौजूद थी। धरम-दीवारों के सहारे चारों ओर लकड़ी के तितल्ले-चौतल्ले ढांचे खड़े थे। इनके ऊपर कपड़े में लिपटी या खुली बंधी हजारों पुस्तकें थीं। इनमें सात-सात सौ आठ-आठ सौ वर्ष की पुरानी पुस्तकें थीं। यह वह पुस्तकें थीं, जिन्हें तिब्बत के ऐतिहासिक विद्वानों ने अपने हाथ से लिखा या पढ़ा था। तिब्बती साहित्य और इतिहास के लिए ये अनमोल रत्न हैं।

''लेकिन मैं तो अपने समय और शक्ति के ही अनुसार काम कर सकता था। मुझे जरूरत थी, संस्कृत तालपोथियों की। इधर-उधर हाथ मारने के बाद तालपोथियों पर हाथ पड़ा। इन पर कपड़ा नहीं लिपटा था, दो लकड़ी की तख्तियों के बीच में मोटे डोरे से आरपार छेद करके बंधी ये पुस्तकें एक जगह मिलीं– एक, दो, तीन, चार,... बीस पोथियां निकल आईं। कुछ तो तिब्बती पोथियों के बीच में थीं। मैंने खोलकर देखना शुरू किया। मेरे आनंद की सीमा न रही, जब देखा कि 'वार्तिकालंकार' (प्रमाणवार्तिक-भाष्य) संपूर्ण वहां मौजूद है। कर्णकगोमि कृत 'स्ववृत्तिटीका' भी है। अर्थात्, प्रमाणवार्तिक की टीका और भाष्य! महान दार्शनिक असंग की महत्वपूर्ण पुस्तक 'योगाचारभूमि' भी वहां मौजूद थी। 'चांद्र-व्याकरण' की टीका भी देखी।... अब सिर्फ लिखने ही की धुन थी।''

बौद्ध दार्शनिक असंग (350 ई.) का 'योगाचारभूमि' ग्रंथ चीनी और तिब्बती अनुवाद में उपलब्ध था। राहुलजी को उसका संस्कृत मूल यहां साक्या में मिला।

असंग के छोटे भाई वसुबंधु (400 ई.) के महान ग्रंथ 'अभिधर्मकोष' पर राहुलजी अपनी संस्कृत टीका (वृत्ति) प्रथम तिब्बत-यात्रा के पहले ही लिख चुके थे। दूसरी तिब्बत-यात्रा में उन्हें साक्या में अभिधर्मकोष-मूल भी मिल गया था। तीसरी तिब्बत-यात्रा में राहुलजी को डोर के गुम्बा में वसुबंधु का ही अभिधर्मकोष पर लिखा विस्तृत भाष्य भी मिल गया, जिसके वे फोटो उतारकर ले आये।

वसुबंधु के शिष्य दिङ्नाग (425 ई.) का 'प्रमाणसमुच्चय' ग्रंथ सिर्फ तिब्बती अनुवाद में ही मिलता है। राहुलजी ने अपनी चारों तिब्बत-यात्राओं में इस ग्रंथ को ढूंढने में बहुत परिश्रम किया, किंतु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। उन्हें यकीन था कि मूल 'प्रमाणसमुच्चय' तिब्बत के किसी मठ, स्तूप या मूर्ति के भीतर से कभी न कभी जरूर मिलेगा।

दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' पर धर्मकीर्ति (600 ई.) ने वार्तिक (प्रमाणवार्तिक) लिखा, जिसमें खंडन करने की स्वतंत्रता रहती है। धर्मकीर्ति का वार्तिक दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय की स्वतंत्र व्याख्या है। प्रमाणवार्तिक बौद्ध न्याय का एक प्रौढ़ ग्रंथ है। धर्मकीर्ति के प्रतिद्वंद्वियों ने भी उनकी प्रतिभा का लोहा माना है। रूस के आचार्य श्चेरबात्स्की ने धर्मकीर्ति को भारत का कान्ट कहा, तो राहुलजी उनके दर्शन को हेगेल के नजदीक पाते थे।

धर्मकीर्ति चोळ (तमिल) प्रदेश के ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों के शास्त्रों और वेद-वेदांगों का अध्ययन करने के बाद वे बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार किया, तो नालंदा महाविहार में जाकर बौद्ध संघ में शामिल हो गये।

धर्मकीर्ति का 'न्यायबिंदु' ग्रंथ उपलब्ध था। राहुलजी ने अपनी दूसरी तिब्बत-यात्रा में धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' की तालपोथी प्राप्त की थी, और उसे प्रकाशित किया था। तीसरी तिब्बत-यात्रा में राहुलजी को धर्मकीर्ति का प्रमुख ग्रंथ 'प्रमाणवार्तिक' मूल

संस्कृत में पूरा मिल गया। इतना ही नहीं, इस पर लेखक की वृत्ति (स्ववृत्ति), कर्णकगोमि की टीका, प्रज्ञाकरगुप्त का भाष्य (वार्तिकालंकार) और शलू मठ से मनोरथनंदीकृत एक बहुत सुंदर वृत्ति भी मिल गयी। धर्मकीर्ति के एक अन्य ग्रंथ 'हेतुबिंदु' को बाद में राहुलजी ने तिब्बती अनुवाद और संस्कृत टीका के सहारे मूल संस्कृत में प्रस्तुत कर दिया। इस प्रकार, धर्मकीर्ति के सात ग्रंथों में से पांच ग्रंथ उपलब्ध हो गये। शेष दो पुस्तकें तिब्बती अनुवाद में मिलती हैं।

इस प्रकार, धर्मकीर्ति के उद्धार का राहुलजी का एक बहुत बड़ा सपना पूरा हो गया। इस तीसरी तिब्बत-यात्रा में ञेनम् से चलने के बाद उन्होंने एक रात सपना भी देखा था कि किसी ने उनके हाथ में दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' को रख दिया है। साक्या पहुंचने पर आधा सपना पूरा हो गया।

धर्मकीर्ति को भारतीय (बौद्ध) न्याय का महान उद्धारक माना जाता है। आधुनिक काल में धर्मकीर्ति के उद्धार का महान कार्य राहुलजी ने किया।

आगे करीब एक महीने तक राहुलजी साक्या में प्राप्त पोथियों को लिखने में जुटे रहे। उन्होंने पुस्तकों का सूचीपत्र भी तैयार किया। फिर 23 जुलाई को एक मार्गदर्शक को साथ लेकर शलू के लिए रवाना हुए। शलू विहार में पहुंचने पर रिसुरलामा ने स्वागत किया। नजदीक के गुंबा के पुस्तकालय में राहुलजी को जो तालपोथियां मिलीं, उनमें दो महत्वपूर्ण पुस्तकें थीं— मनोरथनंदी की 'प्रमाणवार्तिक-वृत्ति', और 'प्रमाणवार्तिक-मूल' के तीन परिच्छेद।

राहुलजी तिब्बत में जिस तरह यात्रा कर रहे थे, उसमें कई तरह के खतरे थे। साक्या के महंतराज के छोटे भाई ने उन्हें समझाया भी था– "तिब्बत की खतरनाक जोतों में हर जगह खूनी डाकू रहते हैं। आप इस तरह दो-एक आदमियों के साथ घूमते हैं, यह अच्छी बात नहीं है।"

राहलुजी का उत्तर था– "अभी तक तो कोई ऐसा डाकू मिला नहीं, और अगर इस डर का ख्याल करता, तो मैं तिब्बत में आ नहीं सकता था। मैं खतरे को उठाकर जो काम कर पाया हूं, उससे मुझे पूरा संतोष है। रहा मरना, सो तो मैं इस साल अभी मरके बचा हूं। मुझे उस वक्त अफसोस सिर्फ इसी बात का होता था कि मैं धर्मकीर्ति के महान ग्रंथ 'प्रमाणवार्तिक' को दुनिया के सामने रख नहीं पाया।"

राहुलजी को जल्दी ही डाकुओं का भी सामना करना पड़ा। वे शलू से आगे शिगर्चे गये। वहां पता चला कि करीब तीन घंटे के रास्ते पर नेरीकाछा गुंबा में कुछ तालपोथियां हैं। राहुलजी घोड़ा लेकर अकेले ही वहां पहुंच गये। पोथियां नहीं मिलीं। लौटते वक्त आधे रास्ते में घोड़ा भी छीन लिया गया, घोड़े का मालिक उसे जबरदस्ती ले गया। अब राहुलजी, बौद्ध भिक्षु के पीले वस्त्रों में, अकेले थे। आगे उन्हीं के शब्दों में—

"साढ़े पांच बज गया था। रास्ते में अंधेरा होने का डर था। मैं अकेला था, और तिब्बत में बस्ती से बाहर सभी जगह जान का खतरा रहता है। मैं जल्दी-जल्दी चला। यदि तिब्बती भिक्षुओं का वेष होता, तो कोई मेरी ओर ताकने की हिम्मत न करता,

किंतु मेरे शरीर पर तो पीले चीवर थे। आगे दो आदमी– जो शायद पास में भेड़ चरा रहे थे– मेरे नजदीक आये और कहने लगे– 'सौदा! छङ् रिन् (शराब का दाम) दे।' उनके स्वर से ही मालूम होता था कि वह भिखमंगी नहीं कर रहे हैं। मैं पैसा देकर उन्हें क्यों बतलाता कि मेरे पास पैसा है। मैंने कहा, मेरे पास पैसा नहीं है। फिर उन्होंने धमकाने के स्वर में उसी वाक्य को दुहराया। मैंने चीवर को जरा-सा खिसका दिया, और कैमरा का चमड़े वाला फीता साफ दिखलाई देने लगा। दाहिने हाथ को भी मैंने बगल में डाला। उनका रुख बदल गया और रास्ता छोड़कर चले गये। उनको क्या मालूम था कि यह पिस्तौल नहीं, फोटो का कैमरा है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि रोलैफ्लैक्स ने उस दिन जबर्दस्त तावीज का काम किया। मेरे पास कोई हथियार नहीं था, और उन दोनों के पास तिब्बती छुरे थे। मैं जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते अंधेरे से पहिले ही शिगर्चे पहुंच गया।''

अभयसिंह शिगर्चे (टशील्हुन्पो) में पहले से मौजूद थे। फोटोग्राफर और अभयसिंह को लेकर राहुलजी पुनः शलू पहुंचे। करीब एक सप्ताह तक पोथियों के फोटो लेने का काम चला। बाकी की कुछ महत्वपूर्ण पोथियों को तीन महीने साथ रखने की गुंबा के अधिकारी लामाओं ने इजाजत दे दी। यह एक बहुत बड़ी बात थी।

राहुलजी ग्यान्ची पहुंचे। वहां पोथियों को लिखने और उनके फोटो उतारने का काम चलता रहा। ग्यान्ची से भारत के साथ संपर्क रखने में भी सुविधा थी। साक्या में अत्यंत महत्वपूर्ण पोथियां मिलने की खबर जायसवालजी और रूस के आचार्य श्चेरवात्स्की को मिल गयी थी। जायसवालजी ने वह खबर एसोसिएटेड प्रेस को दी, जो भारत भर के अखबारों में छप गयी। श्चेरवात्स्की का पत्र आया कि पुस्तकों को देखने के लिए वे डा. वोस्त्रीकोफ के साथ भारत आना चाहते हैं। ग्यान्ची से राहुलजी ने महत्वपूर्ण पुस्तकों के हस्तलेख और फोटो जायसवालजी को भेज दिये। उन्हें साथ लेकर तिब्बत में घूमना ठीक नहीं था।

राहुलजी ङोर गये, और वहां से नर्थङ । वहां से शिगर्चे जाकर पुनः ङोर गये। इस बार वहां वसुबंधु का 'अभिधर्मकोष-भाष्य' सम्पूर्ण और अन्य कुछ खंडित न्यायग्रंथ मिले। आगे राहुलजी पुनः साक्या गये, और वहां 'योगाचार-भूमि' के लिखने का काम पूरा किया। साक्या में डोनिर् छेन्पो, उनकी चाम्कुशो और उस परिवार के अन्य सदस्यों का राहुलजी को बड़ा सहारा और स्नेह मिला।

राहुलजी 30 अक्तूबर (1936) को साक्या से भारत के लिए रवाना हुए। डोनिर्ला ने एक आदमी साथ कर दिया था। साक्या के महंतराज ने भी तीन खच्चरों और एक आदमी का इंतजाम कर दिया था। राहुलजी इस बार लाछेन-गन्तोक (सिक्किम) के छोटे रास्ते से लौट रहे थे। लाछेन से साक्या वाले वापस लौट गये। अब राहुलजी अकेले थे। 7 नवंबर को लिखते हैं– ''मैंने उस दिन गरम पानी से साबुन लगाकर सबेरे और शाम को दो बार स्नान किया। नहीं कह सकता, महीनों की जमी मैल शरीर से उसी दिन छूट गयी। कपड़ों को धुलवाया, लेकिन जुएं अब भी बाकी थीं।''

आगे गन्तोक की ओर बढ़ना था। घोड़े मिलने की कोई उम्मीद नहीं थी। भिक्षु राहुल लाछेन के जिस वृद्ध व्यक्ति के घर ठहरे थे, उसने कहा- "मेरे पास दो गदहे हैं। मेरी लड़की मेतोक् (फूल) गदहों के साथ जा सकती है, मगर सामान लादने-उतारने में आपको मदद करनी पड़ेगी।"

आगे की यात्रा के बारे में राहुलजी स्वयं लिखते हैं- "8 नवंबर को चाय पीकर साढ़े सात बजे हम चार जीव लाछेन से रवाना हुए। चार जीव थे- मैं, मेतोक् (20 साल की स्वस्थ तरुणी), नोर्बू (मणि) और छेरिङ् (दीर्घायु)- नोर्बू और छेरिङ् हमारे गधों के नाम थे! मैं सोच रहा था- कई साल से एक साध थी, कि गधे-खच्चर या भेड़ों पर अपना थोड़ा-सा सामान लादे तिब्बत में स्वच्छंद विचरा जाए। समय बीतने के साथ काम इतने बढ़ गये कि उस साध के पूरने की आशा जाती रही। लेकिन अब दो-चार दिन के लिए तो मेरा गधों वाला परिवार बन ही गया था। मैं था सिद्ध गदहपा-84 सिद्धों के जमाने में मैं यदि इसी तरह कुछ साल स्वच्छंद विचरता, तो मुझे लोग उसी नाम से पुकारते।"

रास्ते में मेतोक् बीमार पड़ी, उसे जोर का बुखार रहा। राहुलजी को न केवल उस तरुणी की, बल्कि गदहों की भी देखभाल करनी पड़ी। किसी तरह दिक्छू पहुंच गये। वहां से मेतोक् और उसके गदहों को लाछेन वापस भेज दिया। राहुलजी गन्तोक और वहां से 14 नवंबर को सिलिगुड़ी पहुंच गये। दार्जिलिङ् से गेशे धर्मवर्धन भी आ गये तो दोनों रेलगाड़ी से कलकत्ता पहुंचे।

कलकत्ता से राहुलजी पटना गये और 21 अप्रैल (1937) तक पांच महीने वहीं रहे, जायसवालजी के घर। दोनो पंडित अनुसंधान-कार्य में जुटे रहे। राहुलजी के प्रयास से पटना की बिहार रिसर्च सोसायटी में तिब्बती साहित्य का जितना अच्छा संग्रह तैयार हो गया था, उतना तिब्बत के बाहर अन्यत्र कहीं नहीं था।

आचार्य श्चेरवात्स्की राहुलजी को सोवियत रूस बुलाने के प्रयास में थे। इधर राहुलजी भी तैयारी में जुट गये थे। प्रयाग जाकर किताबों की छपाई के काम को देखा। फिर गर्मियों में आनंदजी को साथ लेकर लाहुल की ओर निकल गये। जून में दो सप्ताह उरुस्वाती (नगर) में रोइरिक परिवार के साथ रहे। वहीं पर जायसवालजी की बीमारी का तार मिला, तो राहुलजी पटना चले गये।

जायसवालजी को थोड़ा स्वास्थ्यलाभ हुआ, तो राहुलजी सारनाथ-प्रयाग-लखनऊ की यात्रा करके 5 अगस्त (1937) को सवेरे वापस पटना स्टेशन उतरे। जायसवालजी की कोठी के भीतर कदम रखे तो वहां बांस की अर्थी पड़ी दिखाई दी!

पिछली शाम को जायसवालजी का देहांत हो गया था। राहुलजी ने उनकी अर्थी को कंधा दिया। उस दिन डायरी में लिखा--"हा मित्र! हा बंधु ! हा गुरो! ... तुम नहीं जानते कि मैंने तुमसे कितना सीखा है। इतनी जल्दी प्रयाण! अभी तो अवसर आया था..... सभी आशाएं खाक में मिल गईं... दुनिया के लिए कुछ करना ही होगा, तुम्हारे बहुत से स्नेहभाजन थे, मैं भी उनमें एक था।"

दूसरी सोवियत-यात्रा

राहुलजी अभी पटना ही में थे कि डा. श्चेरवात्स्की का पत्र मिला कि सोवियत रूस आने के लिए तेहरान (ईरान) में वीसा तैयार है। अब रूस जाने की तैयारी करनी थी। राहुलजी प्रयाग पहुंचे। वहां विश्वविद्यालय में पं. जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में 'हमारी कमजोरियों' पर भाषण दिया, जिसकी चर्चा हमने पुस्तक के आरंभ में की है।

राहुलजी दिल्ली पहुंचे। शिमला जाकर ईरान का वीसा प्राप्त किया। 19 सितंबर (1937) को ट्रेन से क्वेटा पहुंच गये। संभवत: यहीं पर राहुलजी ने भिक्षु के पीतवस्त्र उतारकर पैंट-कोट-चढ़ा लिया था। आगे नोककुंडी तक ट्रेन में यात्रा की। दो साल पहले बिरजंद , मशहद और जाहिदान के जिस जटिल रास्ते के होकर नोककुंडी पहुंचे थे, उसी पूर्व-परिचित रास्ते से लारी में सवारी करके राहुलजी सितंबर 1937 को तेहरान पहुंच गये।

राहुलजी सोवियत वीसा लेने गये तो पता चला कि वह जून में ही दे दिया गया था, लेकिन अब रद्द हो गया है। दौड़-धूप करने और तार खट-खटाने के बाद ही दुबारा वीसा मिला, जिसके लिए राहुलजी को तेहरान में सवा महीना रुकना पड़ा। समय काटना मुश्किल हो गया। प्राय: रोज ही किसी न किसी भाषा की फिल्म देखने चले जाते थे। कुछ दिनों के लिए फारसी के प्रोफेसर आगा हुमाई का सत्संग रहा, उनके साथ फारसी व संस्कृत के संबंधों पर चर्चा चलती रही; राहुलजी का समय अच्छा कटा।

राहुलजी तेहरान से मोटर द्वारा पहलवी बंदर पहुंचे। जहाज से कस्पियन सागर को पार करके बाकू उतरे। दो सालों में बाकू का नजारा काफी कुछ बदल गया था। वहां से तीन दिन की रेलयात्रा के बाद 15 नवंबर (1937) को मास्को पहुंच गये। वे सोवियत एकादमी के निमंत्रण पर लेनिनग्राद जा रहे थे, इसलिए सोवियत भूमि में पैर रखने के बाद उन्हें सब तरह की सुविधाएं सहज उपलब्ध हो रही थीं। एक दिन मास्को रहकर, वहां के कुछ स्मारकों को देखकर, राहुलजी रेल से 17 नवंबर को लेनिनग्राद पहुंच गये। वहां के एक अच्छे होटल में ठहरने की व्यवस्था हुई।

राहुलजी इस ख्याल से लेनिनग्राद पहुंचे थे कि डा. श्चेरवात्स्की के साथ रहकर बौद्ध-न्याय के कुछ ग्रंथों का उद्धार किया जाये, कुछ का यूरोपीय भाषाओं में भी अनुवाद किया जाये। सोवियत विज्ञान एकादमी के प्राच्य संस्थान के इंदो-तिब्बती विभाग में राहुलजी को मेज-कुर्सी मिल गयी।

डा. श्चेरवात्स्की ने सारी व्यवस्था करके जून में राहुलजी को तार भेजा था। मगर उनके पहुंचने में काफी देर हुई, इसलिए एकादमी को फिर से सारी बातें तय करनी थीं। उधर भारत में बिहार सरकार ने राहुलजी के तिब्बत-अभियान के लिए छह हजार रुपए मंजूर किये थे। जाड़ा समाप्त होते ही तिब्बत के लिए चल पड़ना था। इधर सोवियत एकादमी द्वारा फैसला करने का काम बड़ी मंथर गति से चल रहा था। अंत में राहुलजी ने भारत लौटने का निश्चय किया। वे मुश्किल से दो ही महीने लेनिनग्राद में रहे। परंतु इतने ही समय का उन्होंने भरपूर सदुपयोग किया।

लेनिनग्राद पहुंचने पर पहले ही दिन डा. श्चेरवात्स्की से भेंट की। पैर में चोट आने के कारण वे पलंग पर लेटे हुए थे, बोले– " स्वागतम्, इदमासनं उपविश्यताम्।" उन्होंने अपने शिष्य रविनोविच को राहुलजी की देख-भाल का जिम्मा सौंपा। राहुलजी ने लेनिनग्राद के कई स्मारक देखे, संग्रहालय देखे। लेनिनग्राद पहुंचने के बाद चौथे दिन से राहुलजी संस्थान में जाने लगे। वहां उन्होंने तिब्बती अनुवाद से 'वार्तिकालंकार' की संस्कृत पोथी को मिलाने का काम शुरू कर दिया। जाड़े के दिन थे, इसलिए अपने तिब्बती पट्टू के सफेद सूट को पहनकर और ऊपर से चमड़े का ओवरकोट चढ़ाकर अक्सर पैदल ही होटल से संस्थान जाते थे।

इंदो-तिब्बती विभाग की सेक्रेटरी ऐलेना (लोला) कोजेरोवस्काया की तबीयत ठीक नहीं थी, इसलिए राहुलजी की उससे पहली भेंट वहां पहुंचने के दस दिन बाद हुई। जैसा कि राहुलजी ने लिखा है, वह फ्रेंच, अंग्रेजी, रूसी और मंगोल बोल सकती थी। वह भोट-रूसी कोष भी बना रही थी। तय हुआ कि लोला राहुलजी को रूसी पढ़ायेगी और राहुलजी उसे संस्कृत पढ़ायेंगे।

राहुलजी ने लोला के लिए संस्कृत पाठ लिखे। धीरे-धीरे दोनों एक-दूसरे के नजदीक आते गये। अंत में वह दिन भी आया जब दोनों एक-दूसरे के हो गये। राहुलजी रहते तो थे होटल में ही, लेकिन अक्सर लोला के घर भी चले जाते थे। अपने लेनिनग्राद-निवास में राहुलजी ने वहां कई फिल्में देखीं और "सोवियत भूमि" पुस्तक के लिए काफी सामग्री भी एकत्र की।

सोवियत एकादमी को फैसला करने में देर हो रही थी और उधर तिब्बत-अभियान का समय नजदीक आ रहा था, इसलिए राहुलजी ने भारत लौटने का फैसला किया। विदाई का दिन– 13 जनवरी (1938)– आया। राहुलजी के लिए स्थायी प्रबंध नहीं हो पाया, इसका डा. श्चेरवात्स्की को दुख होना स्वाभाविक था। राहुल से बिछुड़ने का सबसे ज्यादा दुख लोला को था।

लेकिन उस समय शायद किसी को भी इस बात का अंदेशा नहीं था कि लोला आठ महीने बाद राहुल-पुत्र (ईगोर) की माता बनने जा रही है। राहुलजी को ईगोर के जन्म (5 सितंबर 1938) की पहली सूचना संभवत: 14 मार्च, 1939 को ही मिली। उस दिन वे लिखते हैं– "आचार्य श्चेरवात्स्की का पत्र आया, जिसमें लिखा था कि लोला को एक स्वस्थ सुंदर पुत्र हुआ है। पुत्र-जन्म की प्रसन्नता होनी ही

चाहिए, क्योंकि पुत्र ही आदमी का पुनर्जन्म और परलोक है। पत्र के साथ फोटो भी था।'' उस समय राहुलजी अमवारी सत्याग्रह में भाग लेने के बाद छपरा की जेल में बंद थे।

राहुलजी ईगोर को तभी देख पाये, जब वे जून 1945 में पुन: लेनिनग्राद पहुंचे। तब वहां करीब दो साल तक उनकी ''गृहस्थी'' चली। राहुलजी ने भारत में ही खुले तौर पर लोला को अपनी पत्नी और ईगोर को अपना बेटा मान लिया था, मगर लगता है कि लोला के साथ विधिवत 'विवाह' कर लेने की उन्होंने कोई आवश्यकता नहीं समझी। आनंदजी का मेरठ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समय (दिसंबर 1948) का संस्मरण है–

किसी बिहारी सज्जन ने राहुलजी से पूछा– ''बाबा, सुना है शादी की है?''

बोले– ''कौन कहता है, झूठ है, बिल्कुल झूठ।''

''नहीं बाबा, सुना है आप पिता भी बन गए हैं?''

''सो तो सच है, बिल्कुल सच।''

आनंदजी की टिप्पणी है– ''इस तरह का सत्य कोई औपनिषदिक-युग का ऋषि ही बोल सकता था।''

पिछली रूस-यात्रा में राहुलजी बाकू पहुंचकर ईरान-बलूचिस्तान के रास्ते भारत लौटे थे। इस बार काबुल (अफगानिस्तान) और खैबर दर्रे से होकर भारत पहुंचना था, इसलिए मास्को से तेरमिज तक की लंबी रेलयात्रा की। पांच दिन तक तेरमिज और आसपास के क्षेत्रों को देखने के बाद आमू दरिया (वक्षु) पार करके अफगानिस्तान की सीमा में प्रवेश किया। आगे रास्ते के ऐतिहासिक स्थलों को देखते हुए 3 फरवरी (1938) को काबुल पहुंच गये, जहां पांच दिन रहकर राहुलजी ने शहर को अच्छी तरह देखा।

काबुल से पेशावर तक का लारी का पांच रुपए का टिकट लेकर राहुलजी 9 फरवरी को पेशावर पहुंचे। लिखते हैं– ''सोवियत से इतने जल्दी लौटने का मुख्य कारण था पुस्तकों की खोज और फोटो के लिए तिब्बत जाना। अब भिक्षु के वेष में मैं नहीं रहना चाहता था, लेकिन तिब्बत जाने के लिए वह बहुत जरूरी था, नहीं तो वहां की गुंबाओं के अंधेरे पुस्तकालयों का खुलना आसान न होता; इसलिए पेशावर में आकर कोट-पतलून हटाकर मुझे फिर पीले कपड़ों को पहनना पड़ा।''

लेकिन राहुलजी पेशावर से ट्रेन में चढ़कर जब सहारनपुर में उतरे और वहां पं. कन्हैयालाल मिश्र ''प्रभाकर'' के घर पहुंचे तो उनके ''सिर पर बढ़िया ऊनी टोपा, देह में कीमती कपड़े का चैस्टर, वैसी ही बढ़िया पैंट (और) चमचमाता बूट'' था। मिश्रजी और राहुलजी की यह पहली मुलाकात थी।

कौन-सी बात सच है– पेशावर में ही पुन: पीतवस्त्रधारी बनना या आगे सहारनपुर पहुंचकर भी बूट-पैंट में होना?

राहुलजी के जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनके बारे में स्वयं उन्होंने जो बातें लिखीं हैं, वे दूसरों द्वारा लिखी गयी बातों से कुछ भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में राहुलजी की डायरियां ही निर्णायक हो सकती हैं।

भिक्षु राहुल सहारनपुर से पटना पहुंचे। वहां पता लगाया कि तिब्बत-अभियान के बारे में क्या-क्या व्यवस्था हुई है। फिर सारनाथ आकर "सोवियत भूमि" पुस्तक लिखने में जुट गये, और एक महीने में वह काम पूरा कर डाला। प्रयाग जाकर पांडुलिपि लॉ जर्नल प्रेस को कंपोज करने को दे दी। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, राहुलजी के लिए यह प्रेस बड़ा अनुकूल था। एक साथ कई फर्मों का मैटर कंपोज होकर मिलता था, छपाई भी बढ़िया होती थी। प्राय: पुस्तक प्रेस में देने के बाद ही प्रकाशक की तलाश होती थी।

गेशे धर्मवर्धन सारनाथ में ही थे। उन्हें भी तिब्बत लौटना था। 18 अप्रैल (1938) को दोनों यात्री कालिंपोङ् पहुंच गये।

तिब्बत की चौथी यात्रा

राहुलजी ने पहले की तीन तिब्बत-यात्राएं अपने ही बल पर की थीं। इस चौथी यात्रा में उन्हें बिहार और तिब्बत, दोनों ही सरकारों से सुविधाएं मिलीं। बिहार सरकार ने छह हजार रुपयों की व्यवस्था कर दी थी, इसलिए इस बार वे बहुत से साधनों से सज्जित होकर जा रहे थे। उधर तिब्बत सरकार ने पुराने पुस्तकालयों में लगी मुहरों को तोड़कर चीजों के दिखलाने की आज्ञा दे दी थी। साथ ही, सवारी तथा बोझे के लिए 3 घोड़े और 3 गदहे देने का हुकुम भी तिब्बत सरकार ने जारी कर दिया था।

कालिंपोङ् पहुंचने के बाद परमिट लेने के लिए राहुलजी को गन्तोक जाना पड़ा। उसके बाद कलकत्ता जाकर फोटोग्राफी के सामान की व्यवस्था की। राहुलजी 'मेरी जीवन-यात्रा' (2) में लिखते हैं- "कालिंपोङ् से गेशे और दूसरे साथियों के साथ मैं 4 मई (1938) को रवाना हुआ था और 6 महीने बाद 3 अक्तूबर को गन्तोक लौटा था।"

इस चौथी तिब्बत-यात्रा में गेशे धर्मवर्धन के अलावा "दूसरे साथी" कौन थे? 'जीवन-यात्रा' में चौथी तिब्बत-यात्रा के प्रसंग में उन दूसरे साथियों का कोई नामोल्लेख नहीं है। वे सिर्फ इतना ही लिखते हैं कि ".... काम भी काफी हुआ। लेकिन उतना काम नहीं हो सका, जितने के लिए मेरे पास साधन थे। इस सारी यात्रा में जितना तरद्दुद और मानसिक कष्ट उठाना पड़ा, उसको लिखकर पुस्तक को और बढ़ाने की जरूरत नहीं,... व्यक्ति को अलग-अलग दोष देना बेकार है। दोष था, ठीक साधनों के एकत्रित न होने का।"

उसके बाद राहुलजी उन चार-पांच बातों को बताते हैं, जिनका ख्याल न रखने से यात्रा अधिक सफल न रह सकी—

1. तिब्बत में सुकुमार आदमी को ले जाने की जरूरत नहीं। जो आदमी इन दुरूह स्थानों में भी अपने पहले के जीवन के सारे वातावरण को ले जाना चाहता है, उसको जरूर असंतुष्ट होना पड़ेगा।

2. जानेवाला ऐसी स्थायी जीविका में लगा हो कि अपने को अयोग्य साबित करने पर उसे स्थायी हानि का डर हो, या उसी पथ का फकीर हो और काम के महत्व को समझता हो।

3. जमात के अनुशासन को मानता हो, अन्यथा अनुशासन की अवहेलना का रोग दूसरों में भी फैल जाता है।

4. तिब्बत में एक जगह से दूसरी जगह जाने में सवारी और सामान ढोने के लिए खच्चर-घोड़ों का मिलना आसान नहीं है।

5. साथी की रुचि दूसरी बातों में उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि इस काम में आपकी है।

राहुलजी अपने एक-एक साथी का नाम लेकर उसकी कमजोरियों को उजागर नहीं करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपनी "जीवन-यात्रा" में गेशे को छोड़कर किसी अन्य साथी का नामोल्लेख नहीं किया। मगर अपनी इस चौथी तिब्बत-यात्रा के बारे में उन्होंने बाद में एक अंग्रेजी शोध-पत्रिका के लिए जो विवरण लिखा उसमें उन्होंने अपने "दूसरे साथियों" के भी नाम दिये हैं: आरंभ में राहुलजी और गेशे के अलावा दल के तीसरे सदस्य थे- फोटो-आर्टिस्ट फणी मुकर्जी। बाद में दल में दो और सदस्य शामिल हुए- तीसरी तिब्बत-यात्रा के साथी अभयसिंह परेरा और फणी मुकर्जी के सहायक कंवल कृष्ण।

राहुलजी के लिए कालिंपोङ्-फरी-ग्यान्ची का यह रास्ता परिचित था। पहली तिब्बत-यात्रा में वे इसी रास्ते से लौटे थे और दूसरी यात्रा में इसी रास्ते से तिब्बत गये थे। इस बार फरी पहुंचने पर राहुलजी को बुखार आ गया, इसलिए आगे ग्यान्ची तक की यात्रा उन्होंने डंडी में की। ग्यान्ची पहुंचकर तीन-चार दिन विश्राम किया। उसी बीच ल्हासा से खरीद कर भेजे गये तीन खच्चर भी आ गये और तिब्बती सरकार की चिट्ठी भी, जिसके तहत वे 3 गदहे और 3 घोड़े तिब्बत में कहीं पर भी निश्चित किराये पर प्राप्त कर सकते थे।

राहुलजी का दल 27 मई को शलू पहुंचा। रिसूर लामा ने स्वागत किया। इस बार यहां के पुस्तकालय में कुछ नयी महत्वपूर्ण पुस्तकें मिलीं। इनमें नैयायिक ज्ञानश्री (725 ई.) की 12 पुस्तकें थीं। 'योगाचारभूमि' (असंग) के दो प्रकरण मिले। और भी कुछ संस्कृत पुस्तकें मिलीं।

शलू में ही राहुलजी को भारतीय इतिहास की स्रोत-सामग्री के लिए एक महत्वपूर्ण तिब्बती पोथी मिली। यह थी- छग लोचवा (अनुवादक) धर्मस्वामी (1197-1264 ई.) के एक शिष्य द्वारा लिखी गयी उनकी जीवनी। राहुलजी लिखते हैं- "यह (तिब्बती) विद्वान 1220 ई. के आसपास भारत गया था, और नालंदा में राहुलश्रीभद्र के पास रहा। वह लिखता है कि गरलोक (तुर्क) ने नालंदा को नष्ट कर दिया था, तो भी कुछ मकान बाकी थे।"

धर्मस्वामी की यह जीवनी तेरहवीं सदी के पूर्वार्ध के बिहार की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थितियों पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है। बाद में इस तिब्बती पुस्तक का (राहुलजी द्वारा लायी गयी इसकी फोटोकापी से) डा. जॉर्ज रोइरिक ने अंग्रेजी में अनुवाद किया, डा. अलतेकर ने इसकी विस्तृत भूमिका लिखी और यह के.पी. जायसवाल इंस्टीट्यूट (पटना) से प्रकाशित हुई (1959)। पर पता नहीं क्यों इन दोनों विद्वानों ने यह क्यों लिखा कि राहुलजी को यह पुस्तक उनकी तीसरी तिब्बत-यात्रा में नरथङ में मिली थी!

राहुलजी का दल शलू से शिगर्चे और वहां से पोइखङ् पहुंचा। वहां पुस्तकों और चित्रपटों के फोटो लेने के बाद दल शिगर्चे लौटा। राहुलजी लिखते हैं– "5 जुलाई से 30 जुलाई तक बेकार बैठा रहना पड़ा, क्योंकि जिनको ग्यान्ची सामान लेने के लिए भेजा था, वह वहीं बैठे रहे।" राहुलजी को 25 दिनों के इस अपव्यय से कितना मानसिक क्लेश हुआ होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

राहुलजी का दल ङोर पहुंचा। वहां इस बार ईंधन और खच्चरों के चारे की बड़ी तकलीफ हुई। किसी ने उनके दो खच्चरों को पत्थर मार-मार कर लंगड़ा कर दिया!

आगे 16 से 28 अगस्त तक राहुलजी के दल का मुकाम नरथङ में रहा। वहां कोई तालपोथी नहीं मिली। ओले-बारिश-बाढ़ के कारण ही वहां इतने अधिक दिन रुकना पड़ा। वहां स्लेटी-पत्थर पर उकेरे हुए 84 सिद्धों के और कुछ भारतीय चित्रपटों के फोटो लिये।

आगे राहुल-दल साक्या पहुंचा और वहां 15 दिन रहा। फोटो खींचने का काम करना था, इसलिए इस बार राहुलजी अपने पूर्व-परिचित डोनिर् छेनपो के यहां नहीं ठहरे, महंतराज के प्रासाद में डेरा लगाया। मगर साक्या से चलने के पहले राहुलजी डोनिर् छेनपो और उनकी चाम्कुशो से मिलने गये। उनके साथ न ठहरने के लिए चाम्कुशो का क्षोभ प्रकट करना स्वाभविक था। अब डोनिर् छेनपो निस्संतान नहीं थे, उनके पौने दो साल की एक बच्ची थी – अनामिका!

राहुलजी का अभियान-दल 16 सितंबर को साक्या से भारत के लिए रवाना हुआ। मब्जा से आगे बढ़ने पर उन्हें डाकुओं के बारे में सूचना मिली, और फिर जल्दी ही उनका सामना भी करना पड़ा। राहुलजी का दल तीन टुकड़ियों में आगे बढ़ रहा था। आगे की टुकड़ी वालों ने डाकुओं के पूछने पर बताया– 'साक्या के महंत का सामान है। हम आगे जा रहे हैं।'

दूसरी टुकड़ी में राहुलजी और साक्या के एक आदमी थे। दोनों घोड़ों पर चल रहे थे। राहुलजी के पास पिस्तौल थी, और साथी के पास तलवार। पीछे, करीब डेढ़ किलोमीटर दूर, तीन आदमियों की तीसरी टुकड़ी आ रही थी।

राहुलजी को आगे वाली टुकड़ी के बारे में बड़ी चिंता हुई, क्योंकि उतारे गये सारे फोटो (करीब 1400) उन्हीं के साथ थे। राहुलजी ने पिस्तौल हाथ में ली और अपना घोड़ा आगे दौड़ाया। लिखते हैं – "एक छोटी सी धार पार करने पर बालू का भीटा -सा आया। इसके आगे जाने पर ड़ाकुओं का तंबू रास्ते के पास ही मिला। उनके आठ घोड़े वहां चर रहे थे। मैं पिस्तौल हाथ में संभाले चल रहा था। डाकुओं में से एक हमारे पास आया। उसने साथी के कमर में लंबी तलवार देखी और मेरे हाथ में पिस्तौल। कहां से आये हो, पूछने पर साथी ने कहा– 'साक्या से आये हैं।' हमें वह वहीं छोड़कर चला गया।"

राहुलजी ने घोड़ा आगे दौड़ाया और वे अपनी अगली टुकड़ी के पास पहुंच गये। सामान और साथी सुरक्षित थे। अब राहुलजी को पीछे से आ रहे तीन साथियों की चिंता हुई, हालांकि उनमें दो के पास पिस्तौल थे। राहुलजी ने साथी को अगली टुकड़ी

के साथ कर दिया और पिस्तौल हाथ में लेकर घोड़े को पीछे की ओर दौड़ाया। कुछ दूर के एक भीटे के पास पहुंचकर उसकी आड़ में पिस्तौल संभाले खड़े रहे, इस ख्याल से कि कोई आवाज आते ही डाकुओं पर झपट पड़ेंगे। लिखते हैं– ''मैं तो समझता था कि आज मृत्यु से मुकाबला करना है। जितना ही ज्यादा खतरा था, उतना ही ज्यादा मेरे हृदय में निर्भयता और उत्साह था। सारे शरीर में बड़े जोर से खून दौड़ रहा था। कुछ देर बाद साथी आये। गेशे ने बतलाया कि पूछने पर मैंने बतला दिया– साक्या लामा के आदमी अभी और पीछे से आ रहे हैं।''

राहुलजी का दल आगे तङ्गरा गांव पहुंचा। तब तक डाकुओं को पता चल गया था कि साक्या लामा का दल होने की बात झूठी है। तब उन्होंने दल का पीछा किया और तङ्गरा गांव के पास पड़ाव डाला। राहुलजी का दल गांववालों के सहयोग से बड़ी मुश्किल से ही दूसरे दिन वहां से आगे बढ़ पाया।

आगे भारत लौटने के लिए दो रास्ते थे: एक फरी-कालिंपोङ् का कुछ लंबा रास्ता, दूसरा लाछेन-गन्तोक का जल्दी का रास्ता। डाकू पीछा कर रहे थे, इसलिए राहुल-दल ने लाछेन का रास्ता पकड़ा। डाकू काफी दूर तक उनका पीछा करते रहे। मगर दल अंत में 28 सितंबर को लाछेन और 2 अक्तूबर (1938) को गन्तोक पहुंच गया। वहां राहुलजी ने पिस्तौल पुलिस को सौंप दिये और सिलिगुड़ी पहुंचकर कलकत्ता की ट्रेन पकड़ी।

किसानों-मजदूरों के लिए संघर्ष

कलकत्ता पहुंचकर वहां पहले ही दिन राहुलजी ने पत्र-संवाददाताओं को बताया कि अब आगे वे सक्रिय राजनीति में भाग लेने जा रहे हैं।

राहुलजी ने ऐसा फैसला क्यों किया? उनके सामने लिखने-पढ़ने और अनुसंधान-कार्य का मार्ग खुला था। वे तिब्बत से जो बहुमूल्य सामग्री लाये थे, उसी से संबंधित कार्य को आगे कई दशकों तक करते रह सकते थे। फिर क्या वजह थी कि तिब्बत की चार यात्राएं और यूरेशिया के अन्य अनेक देशों का पर्यटन करने के बाद राहुलजी, ग्यारह साल के लंबे अंतराल के बाद, पुनः सक्रिय राजनीति में कूद पड़े?

यह सच है कि राहुलजी को अध्ययन, अनुसंधान और घुमक्कड़ी का जीवन बेहद पसंद था, मगर वे शोषित जनता के उद्धार के लिए किये जाने वाले सामाजिक और राजनीतिक कार्य को ही सबसे ज्यादा महत्व देते थे। राहुलजी को शुद्ध अनुसंधान-कार्य से जोड़े रखने की कोशिश करने वाले डा. काशीप्रसाद जायसवाल ने भी लिखा है कि वे तो वस्तुतः जनता के आदमी हैं।

तिब्बत की अपनी चौथी यात्रा के बाद सीधे राजनीतिक क्षेत्र में पहुंचने के कारण को स्वयं राहुलजी ने भी स्पष्ट किया है--"मैं पहिले भी राजनीति में अपने हृदय की पीड़ा दूर करने आया था। गरीबी और अपमान को मैं भारी अभिशाप समझता था। असहयोग के समय (1921) भी मैं जिस स्वराज्य की कल्पना करता था, वह काले सेठों और बाबुओं का राज नहीं था। वह राज था किसानों और मजदूरों का, क्योंकि तभी गरीबी और अपमान से जनता मुक्त हो सकती थी। अब तो देश-विदेश देखने के बाद और भी पीड़ा को अनुभव करता था।"

राहुलजी के राजनीतिक कार्य का पहला दौर 1921 से 1927 तक चला था। तब उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ काम किया था। वे बिहार के एक प्रमुख नेता के रूप में उभरे थे। बक्सर व हजारीबाग के जेलों में दो साल की सजा भी काटी थी। राहुलजी का तब का आरंभिक लेखन प्रमुखतः राजनीति से ही प्रेरित था।

अब (1938) बिहार में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल का शासन था। कांग्रेसी नेताओं ने किसानों-मजदूरों के बल पर अंग्रेजों से थोड़ी-सी ताकत छीन ली थी। मगर कुर्सियों पर बैठते ही वे किसानों-मजदूरों को भूल गये। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े जमींदार कांग्रेसी नेता मजदूरों-किसानों पर जुल्म करने लगे। राहुलजी ने कलकत्ता पहुंचने से पहले ही इन नर-पिशाचों का कड़ा विरोध करने का निश्चय किया था।

उस समय कम्यूनिस्ट पार्टी गैरकानूनी थी। राहुलजी कलकत्ता में सोमनाथ लाहिड़ी, मुजफ्फर अहमद, भवानी सेन आदि कुछ कम्यूनिस्ट नेताओं से मिले । फिर वे पटना होकर अपने कार्यक्षेत्र छपरा गये। गांव-गांव जाकर परिस्थिति का अध्ययन किया, किसानों - मजदूरों को संगठित करने का काम शुरू कर दिया। वे किसानों की सभाओं में जो भाषण देते थे, वह छपरा की बोली भोजपुरी (मल्लिका) में होते थे। उसी साल राहुलजी ने रांची में प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से जो भाषण दिया, उसमें भी उन्होंने जनभाषा और जनगीतों पर जोर दिया था।

जनवरी 1939 में छपरा में जिले भर के किसान-कार्यकर्ताओं का सम्मेलन हुआ। किसानों ने राहुलजी को अपनी परिस्थिति बतायी। अमवारी गांव के किसानों ने कहा- "हमारे खेत छीन लिये गये हैं। हमने इधर-उधर बहुत दौड़धूप की, कांग्रेसी नेताओं के पास भी गये, मगर कोई नहीं सुनता।"

ज्यादातर झगड़े हरी-बेगारी के कारण हुए थे। पुराने जमाने से प्रथा चली आ रही थी कि किसान अपने हल-बैल से मालिक के खेत पहले जोत दें, फिर उन्हें अपने खेत में ले जायें। मगर कई किसान अब इस तरह की बेगारी, जिसे बिहार में 'हरी-बेगारी' कहते थे, करने के लिए तैयार नहीं थे। तब जमींदार लोग किसानों पर जुल्म करते, उनकी जमीन छीन लेते। कांग्रेसी नेता और प्रशासन, दोनों जमींदारों के ही पक्षधर थे!

राहुलजी ने गांव-गांव जाकर किसानों को संगठित करना शुरू कर दिया। जमींदारों के जुल्मों की बातें अफसरों को बतायीं, मगर कोई फायदा नहीं हुआ। अंत में उन्होंने किसान-सत्याग्रह आयोजित करने का फैसला किया।

राहुलजी चौथी तिब्बत-यात्रा से लौटकर पहले पटना और फिर छपरा पहुंचे, तभी से कवि नागार्जुन उनके साथ थे। नागार्जुन (वैद्यनाथ मिश्र, जन्म : 1911 या 1913 ई.) ने 1931-33 में बनारस में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया था। विवाह 1931 में ही हो चुका था। राहुलजी की प्रेरणा से वे पालि बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने 1936 में विद्यालंकार विहार (श्रीलंका) गये थे। वहीं पर वे बौद्ध भिक्षु बने, राहुलजी के गुरुबंधु नागार्जुन हुए। भिक्षु नागार्जुन 1938 में श्रीलंका से लौटे, तो बिहार के किसान आंदोलन में राहुलजी के सहयोगी बन गये। आगे जेल में जाने तक राहुलजी भी बौद्ध भिक्षु के पीतवस्त्रों में ही थे।

राहुलजी ने सोचा था कि किसान सत्याग्रह की शुरुआत वे छपरा की सबसे बड़ी जमींदारी हथुआ राज से करेंगे, किंतु कुछ ऐसी घटनाएं घटीं कि सत्याग्रह अमवारी गांव में करना पड़ा। राहुलजी और उनके साथी अमवारी न पहुंच सकें, इसलिए वहां दफा 144 लगा दिये जाने की अफवाह फैलायी गयी थी। वहां के जमींदार ने राहुलजी को कुचलवाने के लिए अपने दो हाथी तैयार कर रखे थे, बहुत सारे लठैत भी इकट्ठा किये थे। वहां पचासों सशस्त्र पुलिस और उनके अफसर भी पहुंच गये थे।

भिक्षु राहुल 24 फरवरी (1939) को किसान सत्याग्रहियों के अपने दल के साथ, जिसमें नागार्जुन और जलील जैसे उनके साथी भी थे, अमवारी पहुंचे। सत्याग्रह था– एक किसान के खेत में ऊख काटना। जमींदार ने किसान से उस खेत को छीनकर अपनी बहुरिया (जमींदारिनी) के नाम लिखवा लिया था।

सत्याग्रही एक खेत में जमा हो गये। दस-दस की टोली बनाकर उस पर एक-एक नायक को नियुक्त किया गया। शराब पिलाकर मतवाले किये गये जमींदार के दो हाथी पास ही में खड़े थे। उनके पीछे सैकड़ों लठधारियों की पंक्ति खड़ी थी। मौके पर पुलिस के तीन-चार आदमी ही मौजूद थे, बाकी पुलिस-दल को दूर के एक बाग में रोक दिया गया था। जाहिर है कि पुलिस जमींदार से मिली हुई थी।

राहुलजी का पहला दल ऊख काटने खेत में पहुंचा। जमींदार-परिवार के दो आदमियों ने लठधारियों को लठ चलाने के लिए उकसाया, मगर पीतवस्त्रधारी बौद्ध भिक्षु पर हाथ उठाने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। राहुलजी ने अपने हंसिए से दो ऊख काटीं। थानेदार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। बाकी को भी गिरफ्तार किया जाने लगा, तो राहुलजी ने दूसरी ओर सिर घुमाया। उसी समय जमींदार का हाथीवान कुरबान हाथी से उतरा और उसने लाठी से राहुलजी के सिर पर जोर का प्रहार किया। सिर फूट गया और खून की धारा बह चली! राहुलजी और उनके करीब दो दर्जन साथियों को, जिनमें नागार्जुन भी थे, रात को सीवान ले जाकर वहां जेल में बंद कर दिया गया। जमींदार के कहने पर इंस्पेक्टर ने कुरबान को छोड़ दिया।

तीसरे दिन सत्याग्रहियों को छपरा की बड़ी जेल में स्थानांतरित किया गया। राहुलजी और उनकी पहली टोली के सदस्यों को रस्सी बांधकर जब सीवान की सड़कों से स्टेशन की ओर ले जाया जा रहा था, तब जनता ने खूब नारे लगाये– "इनकलाब जिंदाबाद", "किसान राज कायम हो", "जमींदारी प्रथा का नाश हो"। अपने राहुल बाबा के फटे सिर और रस्सी बंधे हाथों को देखकर लोग कांग्रेसी राज को कोस रहे थे। चार-पांच दिन में ही राहुल बाबा का सिर फूटने की खबर गांव-गांव में पहुंच गयी। छपरा के राजेंद्र कालेज के प्राध्यापक मनोरंजन की कविता "राहुल का खून पुकार रहा" अखबारों में छपी, जिसकी चार पंक्तियां हैं:

"राहुल के सर से खून गिरे,
फिर क्यों वह खून उबल न उठे,
साधू के शोणित से फिर क्यों,
सोने की लंका जल न उठे?"

छपरा जेल में सत्याग्रहियों को जरूरी सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं थीं। राहुलजी ने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। उन्हीं दिनों राहुलजी ने छपरा जेल में "तुम्हारी क्षय" पुस्तक लिखी। वह पुस्तक पूरी हो गयी तो 'जीने के लिए' उपन्यास लिखवाने लगे। राहुलजी बोलते जाते थे, नागार्जुनजी लिखते जाते थे।

उन्हीं दिनों राहुलजी को रूस से आचार्य श्चेरवात्स्की की चिट्ठी मिली, जिसमें लोला को पुत्र (ईगोर) होने का समाचार था।

"तुम्हारी क्षय" पुस्तक है तो काफी छोटी, मगर इसमें राहुलजी ने अपने विचारों को काफी कड़े शब्दों में प्रस्तुत किया है। वे समाज, धर्म, ईश्वर, सदाचार, जात-पांत और पूंजीपति शोषकों (जोकों) से संबंधित पुरानी व्यवस्थाओं पर जबरदस्त प्रहार करते हैं और नयी समाजवादी-साम्यवादी व्यवस्था को स्वीकार करने का आह्वान करते हैं। 'तुम्हारे भगवान की क्षय' में लिखते हैं- "अज्ञान का दूसरा नाम ही ईश्वर है। हम अपने अज्ञान को साफ स्वीकार करने में शर्माते हैं, अतः उसके लिए 'ईश्वर' ढूंढ निकाला गया है। ईश्वर-विश्वास का दूसरा कारण मनुष्य की असमर्थता और बेबसी है।"

आगे, पुरातन के अभिमान के बारे में वे लिखते हैं- "इतिहास-इतिहास', 'संस्कृति-संस्कृति' बहुत चिल्लाया जाता है। मालूम होता है, इतिहास और संस्कृति सिर्फ मधुर और सुखमय चीजें थीं।.... आज जो अंधेर हम देख रहे हैं, क्या हजार साल पहले वह कम था? हमारा इतिहास तो राजाओं और पुरोहितों का इतिहास है जो कि आज की तरह उस जमाने में भी मौज उड़ाया करते थे।"

राहुलजी पर चोरी का अपराध लगाया गया था। मुकदमे के लिए उन्हें सीवान ले जाया जाता था। छपरा से सीवान ले जाते समय उन्हें पहली बार हथकड़ियां लगाई गयीं। सीवान से वापस लौटते समय भी उनके हाथ में हथकड़ियां थीं। जब वे छपरा स्टेशन पर थे, तो किसी ने हथकड़ियों के साथ उनका फोटो ले लिया (2 अप्रैल, 1939), जो कई अखबारों में छपा। राहुलजी इस बार जब जेल गये थे, तो उन्होंने अधबहिया कुरता और जांघिया पहनना शुरू किया था। बाद में जेल में उन्हें कैदियों के कपड़े मिले, तो डायरी में लिखा- "चलो, धर्म से अब नाममात्र का भी संबंध नहीं रहा।"

मुकदमा चलता रहा। अंत में राहुलजी को चोरी के अपराध में छह मास की सख्त सजा सुनाई गयी। जेल की गैरइंतजामी के खिलाफ राहुलजी ने पुनः भूख-हड़ताल की। कांग्रेसी शासन को चिंता हुई, तो उन्हें छोड़ देने का हुक्म जारी हुआ। खाकी हाफ-पैंट और हाफ-शर्ट पहनकर राहुलजी जेल के बाहर आये। उन्होंने गांव-गांव जाकर पुनः सत्याग्रह की स्थिति का अवलोकन किया। कांग्रेसी नेता और मंत्री अब राहुलजी को अपना 'शत्रु' समझने लगे थे, राहुलजी के कारण जनता में उनकी बदनामी हो रही थी।

फिर राहुलजी ने छितौली में सत्याग्रह का नेतृत्व किया। उन्हें गिरफ्तार किया गया। मुकदमा चला और कुल दो साल की सख्त सजा सुनाई गयी। पुलिस को उन्हें सीवान से हजारीबाग जेल ले जाना था। छपरा-पटना के सीधे रास्ते से ले जाने पर लोगों में उत्तेजना फैलती, इसलिए भटनी, मऊ, बनारस और मुगलसराय के लंबे रास्ते से उन्हें हजारीबाग पहुंचाया गया। 23 जून (1939) को मऊ (आजमगढ़) के रास्ते से रेल

गुजरी, तो न ही वे किसी स्टेशन पर उतरे, न ही उन्होंने बाहर झांककर देखा! क्यों?

क्योंकि, प्रतिज्ञा कर रखी थी कि 50 साल की उम्र होने तक आजमगढ़ जिले में पैर नहीं रखेंगे। उस समय राहुलजी 46 साल के थे।

हजारीबाग जेल में पहुंचने के पहले अदालत में ही, राहुलजी ने भूख-हड़ताल शुरू कर दी थी, जो वहां पहुंचने पर कुल 17 दिन तक चली। नागार्जुन, जलील, कार्यानंद शर्मा आदि साथी हजारीबाग में ही बंद थे। अंत में विवश होकर सरकार ने राहुलजी की रिहाई का आदेश दिया। जेल के फाटक से बाहर आकर ही उन्होंने अनशन तोड़ा।

अमवारी सत्याग्रह के समय जमींदार के जिस हाथीवान कुरबान ने राहुलजी के सिर पर लाठी मारी थी, उस पर सरकार ने मुकदमा चलाने का नाटक रचा। 29 अगस्त (1939) को मुकदमे की तारीख थी। राहुलजी को गवाही देनी थी। उन्होंने सोचा- 'कुरबान का क्या कसूर? लाठी तो उसके मालिक ने चलवाई, फिर उसे जेल भिजवाने से क्या फायदा?' राहुलजी ने अदालत में जाकर दरख्वास्त दे दी- "कुरबान को छोड़ दिया जाए, मैं नहीं चाहता कि उस पर मुकदमा चलाया जाए।"

ऐसे थे राहुल बाबा, जिन पर बिहार की किसान-मजदूर जनता कुरबान जाने के लिए जी-जान से तैयार थी।

डेढ़ महीने बाद राहुलजी वर्धा गये। वहां देशभर के प्रमुख कम्यूनिस्ट एकत्र हुए थे। राहुलजी ने उन्हें नजदीक से देखा, समझा, उनके साथ विचार-विमर्श किया। उनके बिहार लौटने पर 19 अक्तूबर (1939) को मुंगेर में बिहार की कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। उस दिन को एक 'स्मरणीय दिवस' कहते हुए कम्यूनिस्ट पार्टी की अपनी सदस्यता के बारे में राहुलजी की टिप्पणी है- "अनुशासन-रहित भीड़ का सेनापति होने की जगह अनुशासन-बद्ध सेना का एक साधारण सैनिक होना ज्यादा अच्छा है।"

उसके बाद राहुलजी करीब दो महीने तक एक प्रकार के 'अज्ञातवास' में रहे। अपने पूर्वजों की भूमि मलांव (गोरखपुर) जाकर वे अपने एक सगोत्र परिवार में ठहरे। वहां कुछ दिन रहकर राहुलजी ने मलांव के इतिहास और अपने सांकृत्यायन वंश के बारे में सामग्री एकत्रित की, जिसे उन्होंने "मेरी जीवन-यात्रा" के प्रथम भाग में परिशिष्ट के रूप में जोड़ा है।

कुछ दिन इलाहाबाद रहकर राहुलजी बिहार चले गये। कम्यूनिस्ट पार्टी गैरकानूनी थी, मगर उसके कार्यकर्ता कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के साथ मिलकर काम कर रहे थे। राहुलजी ने छपरा जिले में पुन: अपना कार्य शुरू कर दिया। इस बार उन्हें बिहार प्रांतीय किसान सभा का सभापति चुना गया। 24-25 फरवरी (1940) को मोतीहारी में उनके सभापतित्व में किसान सम्मेलन हुआ, तो उसमें स्वामी सहजानंद, जयप्रकाश नारायण, नरेंद्रदेव, जैड.ए.अहमद आदि के भी भाषण हुए।

उसी साल राहुलजी पलाशा (आंध्र-प्रदेश) में होने वाले अखिल भारतीय किसान सम्मेलन और सभा के भी सभापति चुने गये। सभापति का भाषण तैयार करने के लिए वे इलाहाबाद पहुंचे। भाषण लगभग पूरा तैयार हो गया था कि 15 मार्च (1940)

को रात को डा. अहमद के घर राहुलजी को भारत-रक्षा कानून के तहत गिरफ्तार कर लिया गया।

राहुलजी ने आगे के दो साल चार महीने (मार्च 1940 से जुलाई 1942) हजारीबाग जेल और देवली कैंप में गुजारे। इस बार जेल में राजनीतिक बंदी थे, पहले के जेल-जीवन की तुलना में 'शाही कैदी' थे। बड़े-बड़े कांग्रेसी, सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट नेता जेल में उनके संगी-साथी थे। राहुलजी ने 29 माह के इस कारावासकाल का अध्ययन और लेखन-कार्य के लिए भरपूर उपयोग किया।

राहुलजी को इलाहाबाद से जल्दी ही हजारीबाग जेल भेज दिया गया। वहां सबसे पहले उन्होंने अपनी "जीवन-यात्रा" लिखना शुरू कर दिया। करीब एक महीने तक लिखते रहने के बाद जब वे 1926-27 से आगे बढ़े, तो आगे मन नहीं लगा, क्योंकि उसके आगे वे डायरियां लिखते गये थे। मगर उस समय (जून 1940) हजारीबाग जेल में "मेरी जीवन-यात्रा" का पहला भाग तैयार हो गया था।

मई (1940) से जेल में कम्यूनिस्टों की जमात बढ़ने लगी थी। अगले महीने हिटलर की फौजों ने फ्रांस पर अधिकार कर लिया और फिर इंग्लैंड पर हवाई हमले भी शुरू हो गये। सोवियत रूस ने भी पश्चिमी यूरोप के ओर की अपनी सीमाएं मजबूत बनानी शुरू कर दी थीं। बीच-बीच में लोला की चिट्ठियां मिल रही थीं, जिनमें ईगोर के बारे में सूचनाएं रहती थीं। आचार्य श्चेरबात्स्की भी राहुलजी को लेनिनग्राद बुलाने के लिए उत्सुक थे।

जेल में थोड़ा सुस्थिर हो जाने के बाद राहुलजी ने साम्यवाद के बारे में एक पुस्तक लिखने के बारे में सोचा और उसके लिए उन्होंने विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों को पढ़ना और नोट लेना शुरू कर दिया। जेल में काफी समय था, इसलिए उन्होंने सोचा कि तिब्बत से लाए फोटो-चित्रों की सहायता से कुछ पुस्तकों का संपादन किया जाये। मगर बिहार रिसर्च सोसायटी ने फोटो-चित्र भेजने से इनकार कर दिया, हालांकि राहुलजी ही उन्हें तिब्बत से लाये थे। लिखते हैं- "अफसोस हुआ कि सरकार ने मेरे शुद्ध अनुसंधान संबंधी कार्यों के लिए भी सुभीता नहीं दिया!"

राहुलजी को, बिहार के कुछ अन्य कम्यूनिस्ट नेताओं सहित, 26 दिसंबर (1940) को देवली कैंप (राजस्थान) स्थानांतरित कर दिया गया। वहां देश के अन्य प्रांतों के राजबंदी भी पहुंच रहे थे, जिनमें कम्यूनिस्टों की संख्या ज्यादा थी। डांगे, रणदिवे, मिरजकर, अजय घोष, घाटे, डा. अहमद, सोहनसिंह जोश, सोहनसिंह भकना, धन्वंतरि, भारद्वाज आदि प्रमुख कम्यूनिस्ट नेताओं को देवली कैंप में पहुंचा दिया गया था। सभी पढ़े-लिखे थे। राहुलजी देवली कैंप में पूरे एक साल रहे। वहां पहुंचते ही साथियों के आग्रह पर उन्होंने भारतीय दर्शन पर लेक्चर देना शुरू कर दिया।

देवली कैंप का सामाजिक जीवन बड़ा दिलचस्प रहा। जायज मांगों के लिए भूख-हड़तालें भी हुईं, जिनमें राहुलजी ने भी जमकर भाग लिया। रूस से लोला की

चिट्ठियां पहुंच रही थीं। जून 1941 में हिटलर की सेनाओं ने सोवियत रूस पर हमला किया। आगे जब लेनिनग्राद की घेराबंदी शुरू हुई और नगर जलने लगा तो राहुलजी की चिंताएं बढ़ने लगीं।

राहुलजी का पढ़ने-लिखने का काम भी जारी रहा। हजारीबाग में 9 महीने और देवली में 7 महीने-- कुल 17 महीनों के सतत अध्ययन के बाद राहुलजी ने 30 जुलाई (1941) को पुस्तक लिखने का काम शुरू कर दिया। वे नियम से रोज स्कूली-कापी के 20 पृष्ठ लिखते थे; इतवार को 10 ही पृष्ठ लिखते थे। इस तरह 20 दिन में 'विश्व की रूपरेखा' पुस्तक लिख डाली। उसके बाद 36 दिन में 'मानव-समाज' पुस्तक लिख डाली। फिर 'दर्शन-दिग्दर्शन' को हाथ लगाया। फिर भूख-हड़ताल का दौर चला।

दिसंबर (1941) के अंत में राहुलजी और बिहार के दूसरे राजबंदियों को देवली कैंप से हजारीबाग जेल में स्थानांतरित कर दिया गया। वहां पहुंच कर राहुलजी ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' (850 पृष्ठ) को पूरा कर डाला। फिर केवल 12 दिन में 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' भी लिख डाला!

ये चारों पुस्तकें - 'विश्व की रूपरेखा,' 'मानव-समाज', 'दर्शन-दिग्दर्शन' और 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' - वस्तुत: एक ही ग्रंथ के चार भाग हैं। राहुलजी 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' का परिचय देने के लिए एक ही ग्रंथ लिखना चाहते थे, मगर वह अंततः चार पुस्तकों में प्रस्तुत हुआ। 'विश्व की रूपरेखा' विज्ञान से संबंधित पुस्तक है। 'मानव-समाज' में मानव-जाति के सर्वतोमुखी विकास की जानकारी दी गयी है, जिसे जाने बगैर मानव-समाज और उसके इतिहास को ठीक से नहीं समझा जा सकता।

'दर्शन-दिग्दर्शन' बड़े महत्व का और हिंदी में अपनी तरह का पहला ग्रंथ है। इसमें न केवल भारतीय दर्शन का, बल्कि यूनानी, इस्लामी और यूरोपीय दर्शन का व्यापक विवेचन है। वैज्ञानिक भौतिकवाद को समझने के लिए विश्वव्यापी दर्शन को जानना जरूरी है। और, राहुलजी ने ठीक ही पहचाना कि विश्वव्यापी दर्शन की धारा राष्ट्रीय की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीय ज्यादा है। अन्य शब्दों में, धार्मिक मतों की तरह दार्शनिक विचारों में भी देशों के बीच खूब आदान-प्रदान हुआ है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद एक तरह से काफी कठिन विषय है, मगर राहुलजी ने भारतीय परंपरा से बहुत सारे उदाहरण देकर इस विषय को सुबोध व सुगम बना दिया है। ये चार पुस्तकें लिखकर राहुलजी को बड़ा संतोष हुआ। उधर रूस में फासिस्ट सेनाएं मास्को के मोर्चे पर करारी चोट खाकर पीछे लौट रही थीं। उससे भी राहुलजी में अब बड़ा उत्साह था।

राहुलजी का ध्यान अब ऐतिहासिक कथानकों की ओर गया। मई 1942 में उन्होंने 19 दिन में 'सिंह सेनापति' उपन्यास लिख डाला। फिर अगले महीने प्रतिदिन एक कहानी के हिसाब से 'वोल्गा से गंगा' की 20 कहानियां लिख डालीं। राहुलजी की यही पुस्तक सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हुई, इसी का देश-विदेश की सबसे अधिक भाषाओं में अनुवाद हुआ।

'सिंह सेनापति' ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें लिच्छवि-गण के वीर सिंह के जीवन-वृत्त का विवरण है। उपन्यास में लिच्छवि-गण के सामूहिक जीवन-संघर्ष का ऐतिहासिक चित्रण है। 'जय यौधेय' भी इसी तरह ऐतिहासिक उपन्यास है।

राहुलजी ने 'वोल्गा से गंगा' की कहानियां मानव-समाज के विकास को सरल व रोचक ढंग से समझाने के उद्देश्य से लिखीं। वे बताते हैं- "मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि भारत की ऐतिहासिक सामग्री को इस्तेमाल करते हुए कुछ ऐसे उपन्यास और कहानियां लिखी जाएं, जिनसे हमारी प्रगतिशीलता को मदद मिले...। कहानियों की किताब में मैं दिखलाना चाहता था कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता की दुहाई देने वाले झूठ-मूठ ही प्राचीनता के नाम पर हमारे रास्ते में रोड़े अटकाते हैं। वस्तुत: भारतीय संस्कृति-सभ्यता कभी अचल नहीं रही, उसके हरेक अंग में घोर परिवर्तन होता रहा।"

इस बार के कारावासकाल में सात पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं। अब आगे क्या करें। जब तक जेल से बाहर नहीं निकलते, तब तक कुछ न कुछ लिखते रहना जरूरी था। राहुलजी ने जून-जुलाई 1942 के 27 दिनों में छपरा की भाषा मल्लिका में 8 नाटक लिख डाले। चार नाटक-'जपनिया राछछ,' 'देस-रच्छक,' 'जरमनवां के हार निहिचय,' 'ई हमार लड़ाई'- फासिस्ट विरोधी विचारों के प्रचार के लिए हैं। 'ढुनमुन नेता' में विभिन्न राजनीतिक विचारों का विश्लेषण है। 'नइकी दुनिया' और 'जोंक' में साम्यवादी विचारों का प्रतिपादन है। 'मेहरारुन की दुरदसा' में स्त्रियों की हीनावस्था को दिखलाया गया है।

इस बार पूरे 29 माह कारावास में रखने के बाद सरकार ने 23 जुलाई, 1942 को राहुलजी को हजारीबाग जेल से रिहा कर दिया।

राहुलजी बिहार में अपने कार्यक्षेत्र में पहुंचे। जगह-जगह जाकर परिस्थिति का अध्ययन किया। स्वामी सहजानंद ने राहुलजी को "हुंकार" पत्र के संपादन की जिम्मेदारी सौंपी। उसी समय इन्द्रदीप सिन्हा जैसे बिहार के तरुण कम्यूनिस्ट राहुलजी के संपर्क में आये। 1 अगस्त (1942) को कम्यूनिस्ट पार्टी को कानूनी घोषित किये जाने के उपलक्ष्य में कलकत्ता में एक विशाल सभा व उत्सव का आयोजन हुआ। राहुलजी उस सभा के सभापति थे।

"अगस्त (1942) की आंधी" का दौर शुरू हुआ। जगह-जगह तोड़-फोड़ और लूट-पाट शुरू हुई। सरकार का दमनचक्र चला। कई जगहों पर जनता ने थोड़े-बहुत दिनों के लिए अपने-अपने "स्वराज्य" स्थापित किये। अमवारी, जयजोरी आदि स्थानों के किसान इस बाढ़ में नहीं बहे। लोगों के जोर देने पर उनका जवाब था- "राहुल बाबा का हुकुम ले आओ, तो हम लड़ाई में भाग लेंगे।"

नवंबर 1942 में राहुलजी प्रयाग, दिल्ली होते हुए बंबई पहुंचे। राहुलजी को लोला और ईगोर की चिंता थी। बंबई पहुंचने पर कुछ दिन बाद उन्हें आचार्य श्चेरबात्स्की के देहांत का समाचार मिला। राहुलजी उन्हें भारतीय दर्शन और संस्कृत भाषा का यूरोप

का सबसे बड़ा विद्वान मानते थे। उनका राहुलजी के प्रति अपार स्नेह था। वे राहुलजी को पुनः लेनिनग्राद बुलाने के लिए प्रयत्नशील थे, परंतु महायुद्ध की परिस्थितियों के कारण वैसा उनके जीवनकाल में संभव न हो सका।

राहुलजी करीब साढ़े तीन महीने बंबई में रहे। उस दौरान उन्होंने कुछ मार्क्सवादी साहित्य के अनुवाद में सहायता दी, कई फिल्में देखीं, "नए भारत के नए नेता" पुस्तक लिखने की योजना बनायी। राहुलजी ने हजारीबाग और देवली के जेलों में ही सिगरेट पीना शुरू कर दिया था।

राहुलजी बंबई से बिहार लौटे। छपरा में पं. गोरखनाथ त्रिवेदी का घर उनके लिए अपने घर-जैसा था। राहुलजी को पता चल गया था कि त्रिवेदीजी के घर हजारों के जेवरों और कपड़ों की चोरी हुई है। उस घर में कागजपत्रों, किताबों और कपड़ों से भरे राहुलजी के भी दो-तीन बड़े बक्से थे। चोरों ने सोचा, उनमें जरूर ही कीमती चीजें होंगी। खेतों में ले जाकर खोला, तो उनमें ढेर सारी किताबें मिलीं, कुछ कपड़े भी। कपड़े ले गये, किताबें वहीं छोड़ दीं। राहुलजी लिखते हैं- "मुझे बड़ी खुशी हुई, जब देखा मेरे असली धन को उन्होंने नहीं छुआ- वहां कई साल की डायरियां थीं।"

9 अप्रैल 1943 का दिन आया।

उस दिन की राहुलजी को जितनी आतुरता से प्रतीक्षा थी, उतनी ही आजमगढ़ जिले के उनके बंधु-बांधवों को भी थी। राहुलजी ने 1916 में, जब वे 23 साल के थे, प्रतीज्ञा की थी कि 50 साल की उम्र पूरी होने तक वे आजमगढ़ जिले की सीमा में कदम नहीं रखेंगे। अब राहुलजी 50 के हो गये थे, इसलिए वे आजमगढ़ जिले में जाने के लिए स्वतंत्र थे।

राहुलजी, नागार्जुन को साथ लेकर, 12 अप्रैल को छपरा से आजमगढ़ की एक सप्ताह की 'तीर्थयात्रा' के लिए रवाना हुए। आजमगढ़ स्टेशन पर मुद्रा-विशेषज्ञ परमेश्वरीलाल गुप्त ने स्वागत किया। आजमगढ़ के पुराने परिचित स्थानों को देखने के बाद राहुलजी और नागार्जुन एक्के से रानीकीसराय पहुंचे। वहां के अपने पुराने स्कूल के स्थान को देखने के बाद जन्मग्राम पन्दहा गये। पहले वृद्ध परिचित लौहर नाना से भेंट होने पर "कुलवंती के पुत्र- केदार" कहते हुए वे गले से लिपट गये, तो राहुलजी के धैर्य ने जवाब दे दिया। उन्होंने पन्दहा और आसपास के क्षेत्र को घूम-घूमकर देखा। निजामाबाद भी गये। आसपास के गांवों की टोलियां महापंडित राहुल सांकृत्यायन को देखने पन्दहा पहुंचने लगीं।

पितृग्राम कनैलावालों को भी खबर मिल गयी थी। अनुज श्यामलाल साइकिल पर, पन्दहा पहुंचे। राहुलजी ने कनैला जाने से इनकार कर दिया। लेकिन जब उन्होंने देखा कि कनैला के लोगों की टोलियां 16 किलोमीटर चलकर पन्दहा पहुंच रही हैं और उनमें उनके वयोवृद्ध संबंधी भी हैं तो वे कनैला गये। वहां वे सिर्फ दिनभर रहे।

भाई श्यामलाल के घर भोजन किया। भोजन के बाद 'कपड़ों से ढँकी एक मूर्ति' ने राहुलजी के पैरों पर गिरकर रोना आरंभ करना चाहा। राहुलजी वहां से तुरंत उठकर चले गये। वह मूर्ति उनकी पत्नी थी, जिसके साथ 11 साल की कच्ची उम्र में उनका ब्याह कर दिया गया था!

उस रात राहुलजी और नागार्जुन बछवल जाकर ठहरे, बालमित्र यागेश से मिले। एक सप्ताह आजमगढ़ जिले में रहकर दोनों 19 अप्रैल को बाहर आ गये।

गर्मी शुरू हो गयी थी। राहुलजी और नागार्जुन उत्तराखंड की यात्रा करने के लिए हरिद्वार पहुंच गये। उत्तरकाशी की ओर बढ़े। राहुलजी को तीन-चार सप्ताह बाद वापस लौटना था, मगर नागार्जुन तिब्बत के सीमा-प्रदेश के थोलिङ् स्थान जाकर वहां तिब्बती भाषा का अध्ययन करना चाहते थे। नेलङ् से थोलिङ् की ओर आगे बढ़े तो रस्से का एक पुल पार करते समय एक दुर्घटना हो गयी। राहुलजी ने वहीं से वापस लौटने का फैसला किया। नागार्जुन को भी वापस चलने को कहा। राहुलजी ने लिखा है- "लेकिन उनका संकल्प बहुत दृढ़ था, और वह उसे छोड़ना नहीं चाहते थे।" नागार्जुन थोलिङ् पहुंचकर ही वापस लौटे।

राहुलजी मसूरी के रास्ते से देहरादून लौटे। वहां आनंदजी से भेंट हुई। फिर दोनों ने जौनसार, कालसी आदि की यात्रा की। फिर कुछ दिन हरिद्वार में रहकर संन्यासी अखाड़ों की व्यवस्था का अध्ययन किया, "संन्यासी अखाड़ों की जनतंत्रता" लेख लिखा, जो "साहित्य निबंधावलि" में संकलित है।

सूचना मिली कि लेनिनग्राद से लोला का तार आया है-"साथ रहना जरूरी, लेनिनग्राद आओ, या हमारे भारत आने का इंतजाम करो।"

रूस जाने के लिए राहुलजी का चित्त उतावला हो उठा। नया पासपोर्ट बनवाने के लिए बंबई पहुंच गये। वहां पार्टी के साथियों की मदद से पासपोर्ट-फार्म भरने की कार्रवाई पूरी कर दी। अब केवल इंतजार ही करना था। राहुलजी ने "नए भारत के नए नेता" के लिए सामग्री जुटानी शुरू कर दी। प्रयाग पहुंचकर वहां कुछ जीवनियां लिख डालीं। फिर जगह-जगह जाकर "नेताओं" से मिलने और जानकारी हासिल करने का दौर शुरू हुआ।

कानपुर में कवि-सम्मेलन का सभापतित्व करने पहुंचे, तो वहां मजदूर-नेता युसुफ (संतसिंह) के साथ रातभर बैठकर उनकी जीवनी के नोट लिये। साथी भारद्वाज भुवाली में थे और पं. सुमित्रानंदन पंत अल्मोड़ा में। राहुलजी उनके पास पहुंच गये। अल्मोड़ा में राहुलजी वह घर भी देखने गये जहां साथी पूरनचंद्र जोशी का जन्म हुआ था। फिर वे बाबा सोहनसिंह भकना और बाबा बसाखासिंह की जीवनियों के नोट लेने पंजाब पहुंच गये। फिर शेख अब्दुल्ला की जीवनी के नोट लेने रावलपिंडी होते हुए उनके पास श्रीनगर पहुंचे। इलाहाबाद वापस लौटकर सारी जीवनियां पूरी करके पुस्तक प्रेस को दे दी!

जनवरी 1944 के आरंभ में बंबई से सूचना मिली कि सरकार ने पासपोर्ट दे दिया है। बंबई पहुंचने पर मालूम हुआ कि सरकार ने केवल ईरान के रास्ते जाने की अनुमति

दी है, और ऊपर से यह शर्त लगा दी है कि जब तक ईरान तथा सोवियत के वीसा नहीं मिल जाते, तब तक पासपोर्ट का इस्तेमाल नहीं किया जा सकता!

भारत में सोवियत का कौंसल नहीं था, ईरान में था। बंबई में ईरान का कौंसल था, मगर उसको लिख दिया गया था कि सोवियत वीसा देखे बगैर ईरान का वीसा मत दो! तात्पर्य यह कि पासपोर्ट देकर भी सरकार ने यह इंतजाम कर दिया था कि राहुलजी हिंदुस्तान से बाहर न जा सकें। फिर से लिखा-पढ़ी शुरू हुई। वीसा का झमेला 9 महीने बाद ही सुलझ सका। मगर तब तक राहुलजी हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रहे। उन्होंने अपने एक-एक मिनट का सदुपयोग किया।

राहुलजी ग्वालियर, इन्दौर, दिल्ली और उज्जैन का चक्कर लगाकर बंबई वापस लौटे। सोवियत सरकार से कहकर तेहरान और काबुल की कौंसलों को वीसा देने की हिदायत देने के लिए लोला को कई तार दिये।

उस साल मार्च में बेजवाड़ा (आंध्र-प्रदेश) में होने वाले किसान सम्मेलन में भाग लेने के लिए राहुलजी ने डा. अधिकारी, सरदार पृथ्वीसिंह आदि के साथ वहां तक की रेलयात्रा की। इसी रेलयात्रा में राहुलजी ने सरदार पृथ्वीसिंह की टाइप की हुई जीवनी को पढ़ा, और उस पर एक पुस्तक लिखने का निर्णय किया।

किसान सम्मेलन के बाद राहुलजी ने आंध्र-प्रदेश के धान्यकटक, नागार्जुन-कोंडा आदि पुराने स्थानों को देखा, आंध्र के ग्रामीण जीवन और लंबाडी बंजारों के जीवन का भी अध्ययन किया। उसके बाद वे केरल और मलाबार क्षेत्र में गये। मलाबार के नंबूतिरी ब्राह्मणों की जीवन-संस्कृति का नजदीक से परिचय प्राप्त किया। सब जगह खूब स्वागत हुआ। तेलुगु और मलयालम में राहुलजी की कई पुस्तकों का अनुवाद हुआ है।

राहुलजी बंबई लौट आये। 14 अप्रैल (1944) को वहां बारूद में भयंकर विस्फोट होने से जहाजों के उड़ने, कई आदमियों के मरने और घायल होने, और मकानों में आग लगने की घटना हुई। उन दिनों राहुलजी अक्सर फिल्म देखने चले जाते थे।

बंबई-निवास के उन्हीं दिनों में राहुलजी ने 'सरदार पृथ्वीसिंह' पुस्तक लिखवायी। वीसा मिलने में देर हो रही थी, इसलिए भारतीय विद्याभवन में ठहरकर 'हिन्दी काव्यधारा' के लेखन में हाथ लगाया। वह पुस्तक समाप्त हो गयी, तो 'जय यौधेय' उपन्यास लिख डाला। फिर 'भागो नहीं (दुनिया को) बदलो' पुस्तक लिखी। उसके बाद 'जीवन-यात्रा' का सितंबर 1944 तक का दूसरा भाग भी लिख डाला!

"हिन्दी काव्य-धारा" वस्तुतः "अपभ्रंश काव्य-धारा" है, जिसमें राहुलजी ने सिद्ध-सामंत-युग' के सरहपा, स्वयंभू, कण्हपा आदि अनेक कवियों के काव्य के नमूने (हिंदी छायानुवाद साहित) प्रस्तुत किये हैं और विस्तृत भूमिका लिखी है।

ऐतिहासिक उपन्यास 'जय यौधेय' में यौधेय गण के वीर जय का जीवन-वृत्त है।

'भागो नहीं (दुनिया को) बदलो' एक क्रांतिकारी कृति है। कम पढ़े-लिखे लोगों को राजनीति के दांव-पेंच समझाने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गयी है। इसलिए

पुस्तक का शीर्षक एक नारे के रूप में है। इसमें जनबोली के सरल शब्दों का प्रयोग है, और पुस्तक खूब लोकप्रिय हुई है।

अंतत: 29 सितंबर (1944) को वीसा आ गया। राहुलजी ईरान के रास्ते सोवियत रूस जाने की तैयारी करने लगे। तैयारी हो जाने पर 27 अक्तूबर (1944) को वे बंबई सेंट्रल स्टेशन पहुंचकर अहमदाबाद जाने वाली ट्रेन में जा बैठे। बहुत से साथी विदाई देने स्टेशन आये थे।

अहमदाबाद और हैदराबाद में गाड़ियां बदलने के बाद राहुलजी 31 अक्तूबर को क्वेटा पहुंच गये। साथ में दो मन से अधिक सामान था। रोलैफ्लैक्स कैमरा आगे साथ ले जाने की इजाजत नहीं मिल रही थी। उसे क्वेटा के एक व्यक्ति के पास छोड़ने में राहुलजी को बड़ा दुख हुआ। वह कैमरा जापान, रूस तथा तिब्बत की यात्राओं में उनके साथ था। उस कैमरे ने एक बार तिब्बत में उन की जान बचाने में भी योग दिया था। बाद में राहुलजी को वह कैमरा नहीं मिला!

क्वेटा से राहुलजी ने नोककुंडी जानेवाली ट्रेन पकड़ी। 1 नवंबर, 1944 की रात को ट्रेन ईरान के पहले स्टेशन मीरजावा पहुंच गयी।

रूस में पच्चीस मास

बलूचिस्तान-ईरान होकर सोवियत रूस पहुंचने वाले रास्ते से राहुलजी पूर्व-परिचित थे। अपनी पहली सोवियत-यात्रा (1935) में वे इसी रास्ते से भारत वापस लौटे थे। इसी रास्ते से होकर वे दूसरी बार (1937) सोवियत रूस गये थे। अब ईरान और सोवियत भूमि की उनकी यह तीसरी यात्रा थी।

काफी दौड़-धूप और इंतजार के बाद इस बार राहुल जी को पासपोर्ट और ईरान का वीसा मिला था। मगर परेशानियां खत्म नहीं हुई थीं। तेहरान पहुंचकर रूस का वीसा प्राप्त करना था। केवल 125 पौंड विनियम मिला था, जिसमें 100 पौंड रूस में खर्च करने के लिए थे। ईरान में खर्च करने के लिए केवल 25 पौंड थे। संकट की स्थिति के लिए, बंबई से चलने से पहले, एक अंगूठी और घड़ी की चेन के रूप में तीन-चार तोला सोना भी साथ ले लिया था।

राहुलजी 27 अक्तूबर को बंबई से चले थे, 7 नवंबर (1944) की रात को तेहरान पहुंच गये। युद्ध के कारण हर चीज बड़ी महंगी थी। रात को एक मुसाफिरखाने में पहुंचकर हिसाब लगाया तो स्पष्ट हुआ कि शेष बची पूंजी से अधिक से अधिक दस दिन ही ईरान में रहा जा सकता है।

दूसरे दिन सोवियत कौंसल गये तो मालूम हुआ कि वीसा जल्दी मिलने की कोई उम्मीद नहीं है। अब क्या किया जाय? राहुलजी ने अपने खर्च को न्यूनतम कर दिया। पहले भी दो बार ईरान-यात्रा कर चुके थे। फारसी अच्छी जानते थे। अपने को हर परिस्थिति के अनुकूल बना लेने की अद्‌भुत क्षमता उन में थी ही। सहयोग-सहायता देने वाले बंधु सहज ही मिल गये।

बंबई से चलते समय सोचा था कि तेहरान में सोवियत का वीसा प्राप्त करने में बहुत ज्यादा दिन नहीं लगेंगे। मगर यूरोप में महायुद्ध समाप्त होने के बाद ही अंतत: 2 जून (1945) को सोवियत का वीसा मिला। अर्थात्, राहुलजी को करीब सात महीने तेहरान में रहना पड़ा। मददगार मित्र मिले, एक ईरानी परिवार का स्नेहपूर्ण आतिथ्य मिला, बाद में भारत से पैसा भी आ गया। फिर दिन अच्छे कटे—नाटक व फिल्म देखने में, पढ़ने में, वहां के लोक-जीवन को देखने समझने में, जिसका बाद में 'ईरान' पुस्तक लिखने में उपयोग हुआ।

मगर क्या वजह थी कि राहुलजी महायुद्ध के संकटमय दिनों में सोवियत रूस जा रहे थे? आचार्य श्चेरवात्स्की का स्वर्गवास हो चुका था (1942 ई.)। रूस जाने

के लिए पासपोर्ट प्राप्त करने के बाद ही लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद पर राहुलजी की नियुक्ति हुई थी। परंतु प्राध्यापकी में उनकी कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। मध्य-एशिया के इतिहास के लिए सामग्री जुटाने का विचार लेनिनग्राद पहुंचने के बाद आया।

सोवियत रूस जाने की मुख्य वजह थी—लोला और ईगोर के पास पहुंचना। लोला ने लेनिनग्राद की नौ सौ दिनों की घेराबंदी के घोर संकट के दिनों में बड़ी मुश्किल से ही अपनी और अपने बेटे की जान बचायी थी।

मगर इधर भारत में क्या हुआ था? राहुल बाबा बिहार में जब किसानों-मजदूरों के सत्याग्रह का नेतृत्व कर रहे थे, तब उनके राजनीतिक विरोधियों ने उन्हें 'पतित' सिद्ध करने के लिए उनके खिलाफ बाकायदा अभियान चलाया था। विरोधियों को पता चल गया था कि रूस में राहुल बाबा की बीवी है, बेटा है। उन्होंने लोला की चिट्ठियों के फोटो लिये। बीवी-बेटे के फोटो की कापियां करायीं। फिर उन्हें अखबारों में छापकर साबित करने के प्रयास किये गये कि राहुल बाबा पतित हैं!

राहुलजी ऐसी बातों से विचलित होने वाले व्यक्ति नहीं थे। फिर भी उन्हें कुछ न कुछ मानसिक क्लेश पहुंचा ही होगा। किसान सत्याग्रह में जेल की सजा काटकर वे बाहर आते हैं और बनारस पहुंचते हैं, तो लिखते हैं—"रायकृष्णदासजी छाती से लगाकर मिले—पतित का स्वागत!"

लोला ने लेनिनग्राद आने के लिए आग्रहपूर्वक लिखा, तो राहुलजी का वहां पहुंचने के लिए लालायित होना स्वाभाविक था। वे कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य बन चुके थे। उनके सोवियत रूस जाने के प्रयास के पीछे कम्यूनिस्ट साथियों की भी प्रेरणाएं थीं। उन्होंने लिखा भी है—"8 नवंबर 1944 से 3 जून 1945 ई. तक ईरान में सात महीने मुझे जिस स्थिति में रहकर काटने पड़े, उसे असह्य प्रतीक्षा ही कह सकते हैं। कभी-कभी भारत लौट आने का मन करता था, हमारे भारतीय मित्र अपनी चिट्ठियों में और ठहरने को कहते। और वहां सोवियत दूतावास की चौखट अगोरते-अगोरते मन उकता गया था।"

खैर। जर्मनी के आत्मसमर्पण के कुछ दिन बाद राहुलजी को सोवियत वीसा मिल गया। पैसों की व्यवस्था हो गयी थी। इसलिए राहुलजी ने 3 जून (1945) को तेहरान से मास्को तक की यात्रा एक फौजी विमान में की। वह उनकी पहली विमान-यात्रा थी। अगले दिन लेनिनग्राद का दूसरी श्रेणी का 301 रूबल (करीब 200 रु.) का रेल टिकट लेकर मास्को से रवाना हुए। बिना राशन-कार्ड के लेने पर हर चीज बड़ी महंगी थी। मास्को से लेनिनग्राद तक की रेलयात्रा के एक अनुभव के बारे में लिखते हैं—"एक लेमनाद की बोतल के लिए जब सोलह रूबल (दस रुपया) देना पड़ा, तो न जाने कैसा मालूम हुआ।"

जल्दी के कारण तार नहीं दे पाये थे, इसलिए लेनिनग्राद पहुंचने पर राहुलजी सबसे पहले एक होटल में गये और वहां से टेलीफोन करके विश्वविद्यालय को अपने

आगमन की सूचना दी। कुछ समय बाद लोला और ईगोर से भी भेंट हो गयी। लिखते हैं-"लड़के ईगोर को सिगान (रोमनी) कहते, तो वह इनकार करते हुए अपने को इन्दुस् (हिन्दू) कहता। ईगोर अपने समवयस्क (पौने सात साल) लड़कों में सबसे अधिक लंबा था, यद्यपि उतना मोटा-ताजा नहीं था। हम बात क्या कर सकते थे, अभी तो भाषा की पूंजी बहुत कम थी, किंतु स्नेह प्रकट करने के लिए भाषा की आवश्यकता नहीं होती।

"लोला अब वही लोला नहीं थी, जिसे सात बरस पहले हमने देखा था। लेनिनग्राद के नौ सौ दिनों के घिरावे का प्रभाव पुराने परिचित प्राय: सभी चेहरों पर दिखाई पड़ता था। लोला बूढ़ी मालूम होती थी।"

राहुलजी की पहली सोवियत-यात्रा (1935) सिर्फ रेलयात्रा थी। दूसरी सोवियत-यात्रा (1937-38) करीब दो महीने चली। मगर यह तीसरी सोवियत-यात्रा, न चाहने पर भी, पूरे पच्चीस महीने लंबी खिंच गयी। इन पच्चीस महीनों का विवरण राहुलजी ने 'रूस में पच्चीस मास' पुस्तक में 1951 में प्रस्तुत किया। यही प्रकाशित पुस्तक बाद में उनकी "जीवन-यात्रा" का तीसरा खंड बन गयी।

इस बार राहुलजी लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग के इंदो-तिब्बती उपविभाग में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए थे। अकादमिक बरान्निकोफ उपविभाग के अध्यक्ष थे, राहुलजी प्रोफेसर थे और बाकी चार-पांच लेक्चरर (दात्सेन्त) थे-कलियानोफ संस्कृत के, दीना गोल्दमान हिंदी की, इत्यादि। राहुलजी को सप्ताह में 12 घंटे पढ़ाना पड़ता था-पहले साल संस्कृत और हिंदी, दूसरे साल तिब्बती भी। विश्वविद्यालय सितंबर के आरंभ में खुलने वाला था, इसलिए शुरू के तीन महीने उन्होंने रूसी भाषा सीखने में लगाये।

लेनिनग्राद के उपनगर त्काचेई मुहल्ले का दो कमरों का एक फ्लैट अब राहुलजी, लोला और उनके बेटे का घर था। 52 साल की उम्र में राहुलजी की यह पहली "गृहस्थी"थी; 'नून-तेल-लकड़ी' की समस्या का वे पहली बार सामना कर रहे थे -वह भी विदेश में, और महायुद्ध के बाद। वेतन काफी था-करीब साढ़े चार हजार रूबल प्रतिमाह। लोला विश्वविद्यालय में ग्रंथपाल थी, बाद में उसे सहायक प्रोफेसर का पद मिला। उसे भी राहुलजी के करीब आधे के बराबर वेतन मिलता था। राशन की चीजों के दामों में और हाट की उन्हीं चीजों के दामों में जमीन-आसमान का अंतर था। राशन की दुकान में एक किलो चीनी 5 रूबल में और एक किलो आलू 2 रूबल में मिलता था, तो हाट की खुली दूकानों में यही दो चीजें क्रमश: 200 रू. और 6 रू. प्रतिकिलो मिलती थीं।

प्रोफेसर होने के नाते राहुलजी को एक विशेष राशन-कार्ड भी मिला था, जिससे वे विश्वविद्यालय के कोऑपरेटिव स्टोर से चीजें खरीद सकते थे। परंतु केवल राशन की चीजों से "गृहस्थी" थोड़े ही चलती है? कोई मेहमान आ जाय या नौकरानी रखनी पड़े तो राशन की चीजें पूरी नहीं पड़ती थीं।

पहले साल नौकरानी नहीं थी, इसलिए घर के कामों में राहुलजी को भी हाथ बंटाना पड़ता था। लकड़ी चीरना लोला का काम था, तो बर्तन धोने और बिस्तर ठीक-ठाक करने की ड्यूटी राहुलजी की थी। राशन की दूकान से बीस-पच्चीस किलो बोझ पीठ पर उठाकर लाना वहां एक प्रोफेसर के लिए अप्रतिष्ठा की बात नहीं थी। राहुलजी ट्राम से ही विश्वविद्यालय जाते-आते थे, जिसमें तीन घंटे खर्च होते थे।

लेनिनग्राद-निवास के आरंभिक तीन महीनों में, विश्वविद्यालय खुलने तक, राहुलजी की दिनचर्या थी ज्यादातर घर में रहकर पुस्तकें पढ़ना, पुस्तकालय जाना, कभी-कभी फिल्म या नाटक देखने जाना। जल्दी ही निश्चय कर लिया कि सोवियत मध्य-एशिया के अतीत और वर्तमान के बारे में एक ग्रंथ लिखना है।

दूसरी सोवियत-यात्रा के बाद राहुलजी ने एक पुस्तक लिखी थी–'सोवियत-भूमि', जो इस बार उनके वहां पहुंचने के पहले ही छप चुकी थी। सोवियत मध्य-एशिया की वर्तमान स्थिति के बारे में पुस्तक लिखने में कोई कठिनाई नहीं थी, उसके लिए प्रचुर स्रोत-सामग्री उपलब्ध थी। राहुलजी ने भारत लौटते ही 'सोवियत मध्य-एशिया' पुस्तक लिख डाली थी।

मगर मध्य-एशिया का इतिहास लिखना, उसके लिए स्रोत-सामग्री एकत्रित करना सरल काम नहीं था। राहुलजी को जल्दी ही यह भी पता चल गया कि यूरोप की उन्नत भाषाओं-अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन और रूसी-में मध्य-एशिया का कोई सुसंबद्ध इतिहास नहीं लिखा गया। उन्होंने मध्य-एशिया संबंधी पुस्तकें पढ़नी शुरू कर दीं। फिर उनके सिर पर मध्य-एशिया जाने की धुन सवार हो गयी। खूब कोशिश की, मास्को जाकर भी प्रयास किया, किंतु मध्य-एशिया जाने की अनुमति उन्हें नहीं मिली।

फिर भी राहुलजी ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने थोड़ी-बहुत उम्मीद बनाये रखी, और उस बीच मध्य-एशिया के इतिहास के बारे में अपना अध्ययन जारी रखा, पुस्तकें एकत्र करते रहे, नोट उतारते रहे। वे मध्य-एशिया के इतिहास व पुरातत्व के डा. तोल्स्तोफ, प्रो. बेर्नश्ताम और प्रो. याकूबोव्सकी जैसे विख्यात विशेषज्ञों से मिले, उनसे घंटों बातचीत की। राहुलजी ने लेनिनग्राद और मास्को के संग्रहालयों में पहुंची हुई मध्य-एशिया की पुरावस्तुओं का अध्ययन किया। मध्य-एशिया के इतिहास के बारे में बहुत-सी पुस्तकें खरीदीं-पुरानी किताबों की दूकानों से भी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सोवियत रूस में राहुलजी के दो साल मुख्यतः 'मध्य-एशिया का इतिहास' लिखने की तैयारी करने में गुजरे।

भारत से संपर्क नहीं के बराबर रह गया था। छह-छह महीने बाद चिट्ठियां मिलती थीं, सेंसर होती थीं। सोवियत अखबारों में भारत के बारे में कोई समाचार नहीं होता था। राहुलजी कुछ ही महीने बाद भारत लौटने के बारे में सोचने लगे। फिर 10 मई (1946) को एक साल और सोवियत रूस में रहने का निश्चत किया। सोचा, मध्य-एशिया नहीं गये, मगर मध्य-एशिया के इतिहास की भरपूर सामग्री इतने समय में जमा हो जायेगी। उन्होंने उसी दिन 3500 रूबल में एक नया शक्तिशाली रेडियो खरीदा।

उसी दिन दिल्ली और लंदन के स्टेशन सुने। टिप्पणी है–"मन में संतोष किया–चलो अब निश्चिंत होकर एक साल और रहा जा सकेगा।"

राहुलजी "गृहस्थी" के लिए शायद नहीं बने थे। लगता है कि विवश होकर ही उन्हें गृहस्थ का जीवन स्वीकार करना पड़ा–पहले रूस में, और तदंतर भारत में। कोई व्यवधान न हो तो वे पढ़ने-लिखने के काम में सतत जुटे रह सकते थे। पढ़ने-लिखने में खो जाने पर गृहस्थी की क्या हालत हो सकती है, इसका लेनिनग्राद के दिनों का एक जायजा स्वयं राहुलजी ने ही प्रस्तुत किया है–"स्वाध्याय और घरू काम के संभालने में विरोध है, इसका 24 जुलाई (1945) को पता लगा। बिजली की केतली में पानी गरम करने के लिए रखकर में लिखने-पढ़ने के लिए चला गया। दो घंटे बाद होश आया, तो देखा पानी सारा सूख गया है, बर्तन का रांगा गल गया है, और तार भी जलने लगा है। केतली चौपट हुई, 300 रूबल का चपत लगा!"

इस घटना पर लोला की क्या प्रतिक्रिया रही, इसके बारे में राहुलजी हमें कोई जानकारी नहीं देते। मगर लोला के हर ऐसे व्यवहार पर जो राहुलजी को पसंद नहीं था, वे अपनी व्यंग्यपूर्ण प्रतिक्रिया अवश्य प्रस्तुत करते हैं। लोला का अपने पुत्र ईगोर पर असाधारण प्रेम था, वह उसे बहुत अधिक लाड़-प्यार से पाल रही थी, इसलिए राहुलजी उसे बार-बार "कांगारू मां" कहते हैं! वे उसे श्रृंगार-प्रिय, लेट-लतीफ, चर्बी-पूर्ण भोजन-प्रेमी, पढ़ने-लिखने को पसंद न करने वाली, आदि-आदि कहते हैं। वस्तुत: "रूस में पच्चीस मास" में लोला के लिए प्रशंसा के शब्द मुश्किल से दो-चार ही मिलते हैं।

इसकी वजह थी, दोनों के आचार-विचार में जमीन-आसमान का अंतर होना। राहुलजी पुस्तकों के एकांत प्रेमी थे, 'बैठे-बैठे रात के एक-दो बजे तक पढ़ते और नोट लेते रहते, जिसे वह बेकार समझती।' राहुलजी घोर नास्तिक थे, तो लोला कैथोलिक ईसाई थी और बेटे ईगोर को भी आस्तिक बनाना चाहती थी। राहुलजी ने जीवनभर शराब नहीं पी, मगर वहां सुरापान इतना सहज था कि आठ-नौ साल का ईगोर भी पार्टियों में शामिल होने पर चषक के लिए आग्रह कर बैठता था!

इसलिए मन-मुटाव हो जाना एक स्वाभाविक बात थी। मगर दोनों का ही झगड़ा करने का स्वभाव नहीं था, इसलिए कहा जा सकता है कि राहुलजी ने रूस में पच्चीस मास के अपने निवासकाल का यथासंभव भरपूर लाभ उठाया, भले ही उन्हें कविरत्न सत्यनारायण की यह पंक्ति याद आती रही हो–"भयो क्यों अनचाहत के संग।" राहुलजी के ग्रंथ 'मध्य-एशिया का इतिहास' की कुल 1192 पृष्ठों की दो बड़ी जिल्दों को, उनके भीतर की सामग्री को देखते हैं, तो सहज ही उद्‌गार निकलते हैं–राहुलजी का रूस में पच्चीस मास का गृहस्थ-जीवन सार्थक रहा। इसका काफी श्रेय लोला को ही देना पड़ेगा।

रूस में राहुलजी के पच्चीस मास केवल अध्ययन-अध्यापन में ही व्यतीत नहीं हुए। उन्होंने वहां के जीवन को भी नजदीक से देखा-परखा। मास्को जाकर भी रहे–जुलाई

1945 में एक पखवाड़ा और 1946 में सवा महीना। मास्को में आठ-नौ दिन वहां के एक बड़े अस्पताल में भी रहे, जिसकी सुव्यवस्था की उन्होंने बड़ी तारीफ की है।

जुलाई 1946 का लगभग पूरा महीना राहुलजी ने सपरिवार तिरयोकी में बिताया। वहां लेनिनग्राद विश्वविद्यालय का विश्रामोपवन (सेनिटोरियम) था, समुद्र के किनारे। उस समय तिरयोकी लेनिनग्राद से करीब 60 किलोमीटर दूर फिनलैंड की सीमा के पास था। वहां से करीब 100 किलोमीटर दूर के फिनलैंड के सीमांत के वीबुर्ग नगर की भी राहुलजी ने यात्रा की।

राहुलजी सबसे ज्यादा परेशान थे सोवियत सेंसरशिप से। भारत से उनका संबंध लगभग पूरी तरह कट गया था। चिट्ठियां पहुंचने में महीनों लगते थे। मेरे सामने राहुलजी की लेनिनग्राद से आनंदजी को लिखी तीन लंबी चिट्ठियां हैं—एक हिंदी में और दो अंग्रेजी में। अंगेजी में इसलिए कि मेंसरवाले उन्हें ठीस के पढ़कर-समझकर अविलंब आगे भेज दें। तब भी 25.10.45 को लिखी राहुलजी की चिट्ठी आनंदजी को करीब पांच महीने बाद मिली। और, आनंदजी की वर्धा से लिखी 20.3.46 की चिट्ठी राहुलजी को लेनिनग्राद में 18.5.46 को मिली, जिसका दो दिन बाद अंग्रेजी में लंबा उत्तर देते हुए वे लिखते हैं—"आप सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि पत्र पाकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई होगी। मेरे पत्रों का भारत से प्राप्त यह पहला उत्तर है, और वह भी आपका! पिछले जून (1945) में यहां आने के बाद से मैंने मित्रों को करीब दो दर्जन पत्र लिखे, मगर पता नहीं वे उन्हें मिले या नहीं।"

राहुलजी को इस बात का बड़ा अफसोस रहा कि उन्हें सोवियत शासन ने मध्य-एशिया जाने की इजाजत नहीं दी। उसी संदर्भ में वे लिखते हैं—"वस्तुत: सोवियत-शासन में अगर कोई बड़ा दोष है, तो यही कि वहां संदेह की मात्रा चरम सीमा तक पहुंच गयी है। मुझे मध्य-एशिया जाने का अनुज्ञापत्र न मिले इसका कोई कारण नहीं था। वहां के पार्टी वाले चाहते थे, 'वोक्स' संस्था हर तरह की सहायता देने के लिए तैयार थी, लेकिन विदेश-विभाग किसी निर्णय पर ही नहीं पहुंच रहा था।"

किसी की बुद्धिहीनता को बतलाने के लिए राहुलजी के शब्दकोश में कई व्यंग्यपूर्ण शब्द थे। किसी के लिए सीधे ही 'मूर्ख' शब्द का प्रयोग वे प्राय: नहीं ही करते थे। मगर वे स्पष्ट लिखते हैं कि "लेनिनग्राद में कुछ मूर्ख उस समय पार्टी के सर्वेसर्वा हो गए थे।" उन मूर्खों में ही एक था विश्वविद्यालय के उनके विभाग का दल-सेक्रेटरी, जिसे राहुलजी ने दो बार मूर्ख कहा। उसके कारण दो विद्वानों को भयंकर यातनाएं झेलनी पड़ीं, जिससे राहुलजी को मानसिक क्लेश पहुंचना स्वाभाविक था।

राहुलजी भारत में किसी रेडियो-स्टेशन पर भाषण देने कभी नहीं गए। उनका कहना था—'जब तक रेडियो का अनुबंध-पत्र अंग्रेजी में होगा, तब तक मैं रेडियो के किसी कार्यक्रम में नहीं जाऊंगा।' यही वजह है कि आकाशवाणी के पास राहुलजी के भाषण का कोई रिकार्ड नहीं है, किसी व्यक्ति ने निजी तौर पर उनका कोई भाषण भले ही रिकार्ड करके रखा हो।

मगर लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग में राहुलजी द्वारा रिकार्ड कराए गये संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी, उर्दू और तिब्बती भाषा के ग्रंथों के पाठ आज भी सुरक्षित हैं। डा. कलियानोफ ने लिखा है–"राहुलजी शुद्ध उच्चारण पर बहुत ध्यान दिया करते थे। इसालिए 'नलोपाख्यान' की कहानियों से लेकर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' तक संस्कृत के विभिन्न ग्रंथों के राहुलजी के पठन के ग्रामोफोन रिकार्डों का निर्माण किया गया। तथापि प्राकृत के 'सेतुबंध' के रिकार्ड भी बने। उनमें से कई रिकार्ड तो आज भी सुरक्षित हैं और राहुलजी का परिचित और मधुर स्वर विश्वविद्यालय के ध्वनिशास्त्र कक्ष में आज भी सुना जा सकता है।"

10 दिसंबर, 1946 को विश्वविद्यालय में 'रवीन्द्र दिवस' मनाया गया। कई विद्वानों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में लेख पढ़े। राहुलजी ने अपना लेख हिंदी में पढ़ा, जिसका रूसी अनुवाद सुनाया गया। सारी कार्यवाही की फिल्म उतारी गयी। डा. कलियानोफ की सूचना के अनुसार, उस "स्मरणीय कार्यक्रम की फिल्म आज भी विश्वविद्यालय में देखी जा सकती है।"

राहुलजी के सोवियत रूस के पच्चीस मास के निवासकाल में उनकी पढ़ाई तो खूब हुई, किंतु लिखाई नहीं के बराबर हुई। फिर भी उन्होंने ताजिक भाषा (फारसी की एक बोली) के उपन्यासकार सदरुद्दीन ऐनी के 'दाखुंदा' और 'गुलामान (जो दास थे) का उर्दू में अनुवाद कर डाला। भारत वापस लौटकर उन्होंने इन्हें हिंदी में उल्था किया। फिर बाद में ऐनी के 'अदीना', 'यतीम' (अनाथ) और 'सूदखोर की मौत' का भी हिंदी में अनुवाद किया। डाक और सेंसर की गड़बड़ी के कारण राहुलजी अपनी कोई भी रचना भारत भेजना खतरे से खाली नहीं समझते थे। लेनिनग्राद में रहकर पुस्तकें लिखने में भी खतरा था। भारत लौटते समय उन पांडुलिपियों पर भी प्रतिबंध लगने की काफी संभावना थी।

राहुलजी को रूस में आर्थिक कठिनाई नहीं थी। 1947 के आरंभ से आर्थिक आय के और भी कुछ स्रोत खुल गये थे। उन्हें रूसी फिल्मों का हिंदी भाषांतर करने का काम मिलने लगा। रेडियो की भी मांग शुरू हो गयी। उन्हें लेनिनग्राद के हर्मिताज और मानवतत्व संग्रहालयों की भारतीय वस्तुओं का विशेषज्ञ-परामर्शदाता नियुक्त करने की भी बात चल रही थी। राहुलजी लिखते हैं–"इसलिए जहां तक पैसे का सवाल था, उसकी बाढ़-सी आने वाली थी।... हमारे सामने अब प्रश्न था–क्या यहां रहकर आराम का जीवन बिताएं, या भारत लौटकर अपने साहित्यिक काम को जारी करें। पहला रास्ता मुझे जीवन-मृत्यु जैसा मालूम होता था। ऐसी आराम की जिंदगी लेकर क्या करना था, जब कि वास्तविक काम को मैं यहां रहकर ठीक तरह से कर नहीं सकता था। भारत से आए ढाई वर्ष से अधिक हो गए थे। भारत में रहते इतने समय में दो-ढाई हजार पृष्ठ तो जरूर लिखा होता। इन दो-ढाई वर्षों में मेरा दिमाग खाली बैठा नहीं था, कितनी ही पुस्तकों की कल्पना मन में तैयार हो रही थी, जिनको यहां रहकर कागज पर उतारना बेकार था, क्योंकि इसमें बहुत संदेह था कि सेंसरों की मार

से बचकर वह प्रेस में पहुंचने में सफल होतीं। मुझे यह निश्चय करने में जरा भी कठिनाई नहीं हुई कि मैं जीवन-मृत्यु को कभी पसंद नहीं करता।"

भारत लौटने का फैसला तो कर लिया, किंतु उसमें एक बड़ी कठिनाई थी। राहुलजी को रूस में खर्च करने के लिए 100 पौड मिले थे, जिनमें से अब 60 पौंड ही शेष बचे थे। ये 60 पौंड भी रूस में या भारत में ही भुनाए जा सकते थे। रूस में भी इनके केवल रूबल ही मिल सकते थे, जिनकी राहुलजी के पास कोई कमी नहीं थी। काबुल के रास्ते से जाने में इन पौंडों का कोई उपयोग नहीं था। और भी कुछ दिक्कतें थीं। राहुलजी ने रूस में रहते छह-सात मन पुस्तकें जमा की थीं, जिनमें से करीब चार मन चुनिंदा पुस्तकें उन्हें अपने साथ ले जानी थीं।

अंत में उन्होंने लंदन के रास्ते ही भारत लौटने का निर्णय किया। 60 पौंड का चेक उनके पास था। लेनिनग्राद में एक मित्र ने और साढ़े तीन पौंड की व्यवस्था कर दी। पता चला कि लंदन से बंबई तक का जहाज का दूसरे दर्जे का किराया 52 पौंड है। यह भी पता चला कि लंदन-निवास में प्रति-सप्ताह 4 पौंड खर्च होंगे। राहुलजी ने सोचा-जैसे-तैसे चला लेंगे। लंदन तक की जहाज-यात्रा का टिकट वे रूबल में ले ही सकते थे। लंदन के अपने एक परिचित डा. बांके बिहारी मिश्र को राहुलजी ने लिख दिया-"5 जुलाई के जहाज से यहां से चलूंगा और 19 जुलाई (1947) को लंदन पहुंच जाऊंगा।"

विदाई का दिन आया। ईगोर तिरयोकी में था। राहुलजी उससे मिलकर आये। विदाई के समय वह खूब रोया। अब वह नौ साल का था। राहुलजी लिखते हैं-"कहता था-'तुम नहीं आओगे।' क्या जाने उसकी भविष्यवाणी ठीक निकले, यह ख्याल मेरे मन भी आया। लेकिन जीवन-कर्तव्य किसी माया-मोह के फंदे को मानने के लिए तैयार नहीं था। द्रवित हृदय को कुछ कड़ा करके उससे छुट्टी ली।... लोला को मेरी यात्रा पसंद नहीं थी, यह स्वाभाविक था।"

बंदरगाह के फाटक पर राहुलजी ने लोला से विदाई ली। सबसे अंत में कलियानोफ से विदाई ली। जहाज 5 जुलाई को लेनिनग्राद से चला और हेलसिंकी तथा स्टाकहोम में रुकता हुआ 14 जुलाई (1947) को लंदन की डॉक पर पहुंच गया।

राहुलजी की लंदन की यह दूसरी यात्रा थी। पहली बार वे 1932 में लंदन में आये थे, भदंत आनंद कौसल्यायन के साथ, बौद्ध भिक्षु के भेष में। तब की यात्रा में उन्हें पैसों की कोई कठिनाई नहीं थी। इस बार लंदन में राहुलजी को आरंभ के कुछ दिनों तक बड़ी ही मितव्ययिता से गुजारा करना पड़ा। 21 जुलाई को 54 पौंड देकर उन्होंने 1 अगस्त को लंदन से बंबई के लिए रवाना होने वाले जहाज का टिकट खरीदा तो उनके पास पैसा नहीं रह गया था। 'इंडिया हाउस' से जल्दी कर्जा मिलने की कोई आशा नहीं थी। मगर संकट टल गया। टॉमस कुक के दफ्तर गये तो वहां भारत से भेजे गये 50-50 पौंड के दो ड्राफ्ट मिल गये। फिर तो राहुलजी के आगे के आठ-नौ दिन सैर-सपाटे में गुजरे। एक रेडियो खरीदा। लंदन के म्यूजियम देखे। लंदन के बाहर के टेम्सडिक्टन गांव की भी सैर की।

राहुलजी लंदन के नजदीक के साउथम्पटन बंदरगाह से 1 अगस्त (1947) को "स्ट्रेथमोर" जहाज में सवार हुए। यात्रा में पढ़ने-लिखने का काम नहीं हो सकता था। ज्यादातर समय सहयात्रियों के साथ बातचीत में ही गुजरता। चर्चा का मुख्य विषय था-15 अगस्त (1947) को भारत को मिलने वाली आजादी।

राहुलजी ने 1940-42 के जेल-जीवन में सिगरेट पीना शुरू कर दिया था। ईरान के सात महीनों के निवास में भी वह उनके दिल-बहलाव का साधन बना रहा। मगर 3 जून (45) को तेहरान में सोवियत विमान में पैर रखा, तो सिगरेट छोड़ दी। सारे सोवियत और लंदन-निवास में उन्होंने सिगरेट नहीं पी। मगर "स्ट्रेथमोर" जहाज पर सस्ते दामों पर बढ़िया सिगरेट मिलने लगी, तो सिगरेट का शौक फिर शुरू हो गया, जो भारत पहुंचने पर भी आगे करीब सवा साल तक चला।

जहाज के यात्रियों को, जिनमें हिंदू-मुसलमानों की संख्या ज्यादा थी, आजादी का उत्सव जहाज पर ही मनाना था। यह उत्सव सम्मिलित रूप से ही मनाने का फैसला किया गया। उन्हें भारत में मचने वाली भयंकर मार-काट का कोई अंदेशा नहीं था। जहाज 14 अगस्त को अरब सागर में था। उस दिन और गले दिन भी समुद्र बड़ा उद्वेलित रहा। फिर भी 15 अगस्त को सभी भारतीयों (हिदू-मुसलमानों) ने जहाज पर आजादी का उत्सव मनाया।

दो दिन बाद, 17 अगस्त (47) को भारत-भूमि के दर्शन हुए। 12 बजे जहाज तट पर लगा तो नीचे बहुत से कमकरों को हाथ में लाल झंडा लिए कामरेड राहुल के स्वागत में नारे लगाते हुए सुना गया। उस नजारे को देखकर जहाज के 17 दिन के सहयात्रियों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। मिरजकर, डा. अधिकारी, रमेश सिन्हा, महेंद्र आचार्य आदि कुछ कामरेड-मित्र राहुलजी को लेने आए थे। निवास-स्थान पहुंचकर देखा कि बंबई नगरी उस दिन भी काफी सजी हुई है। लिखते हैं- "मुझे भी नए भारत लौट आने का बड़ा आनंद हुआ।"

सम्मेलन में सभापति

राहुलजी पौने तीन साल बाद 17 अगस्त, 1947 को स्वदेश लौटे थे–स्वतंत्रता-प्राप्ति के दो दिन बाद। उन्हें इस बात का अफसोस था कि उस पुण्य पर्व के दो दिन बाद वे बंबई पहुंचे। देश में हुए परिवर्तन को प्रत्यक्ष देखने के लिए वे उतावले हो उठे। लिखते हैं–''अंग्रेजों के शासन की कालरात्रि के अंत के रूप में देश में जो ऐतिहासिक परिवर्तन हुआ था, उसे भी देखना था।... सबसे दिल हिलाने वाली बात यह थी कि 15 अगस्त के महोत्सव के साथ ही बंटे हुए भारत में आग लग गई।''

राहुलजी दो सप्ताह बंबई में रहे। बारिश के दिन थे, फिर भी रोज ही कहीं न कहीं व्याख्यान देने जाना पड़ता था। मगर देश को देखने के लिए बंबई से प्रस्थान करना जरूरी था। 2 सितंवर को प्रयाग पहुंचे, साथ में करीब चार मन पुस्तकें भी थीं। प्रयाग में 6 से 8 सितंबर तक होने वाले प्रगतिशील लेखक संघ का राहुलजी को सभापति बनाया गया था। शहर में छुरेबाजी की घटनाएं होने के कारण कर्फ्यू लगा दिया था। फिर भी सम्मेलन सम्पन्न हुआ।

प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के सभापति-पद से दिया गया राहुलजी का भाषण उनकी पुस्तक ''साहित्य निबंधावलि'' में संकलित है। प्रगितिवाद के साहित्यिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा–''प्रगतिवाद कोई 'कल्ट' या संकीर्ण संप्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रूंधे रास्ते को खोलना, उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतंत्रता का नहीं, परतंत्रता का शत्रु है।'' राहुलजी ने साहित्य ही नहीं, साइंस-संबंधी प्रचुर साहित्य के निर्माण पर विशेष बल देते हुए कहा–''साइंस ही हमारे समाज के दैविक और भौतिक तापों को मिटा सकता है... साइंस सिर्फ विशेषज्ञों तक ही सीमित रहने वाला ज्ञान नहीं, उसे जनसाधारण तक जनभाषा में पहुंचना है।''

पंजाब से कत्लेआम की खबरें आ रही थीं। रेलयात्रा निरापद नहीं थी। ट्रेन में जगह आसानी से नहीं मिलती थी। फिर भी राहुलजी पहले वाराणसी-सारनाथ और फिर छपरा पहुंचे। छपरा तो राहुलजी का राजनीतिक कार्यक्षेत्र ही था। कई पुराने साथियों से मिले, कई जगह भाषण दिये। राहुलजी अब कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य थे, इसलिए सोशलिस्ट मित्रों ने उनका पूरा बायकाट किया, पटना में भी। पटना में वे कई पुराने मित्रों से मिले, कई सारे सार्वजनिक भाषण दिये।

पटना म्यूजियम को देखने गये। लिखते हैं–''म्यूजियम के साथ वर्षों से मेरा संबंध रहा है, तिब्बत से लाई अपनी चीजें मैंने इसी को प्रदान की हैं। तिब्बत की चौथी

और अंतिम यात्रा में मैं बहुत-सी संस्कृत की तालपोथियों का फोटो उतरवाकर लाया था, जिनके प्रकाशित करने का कोई प्रबंध नहीं हुआ था। यह जानकर संतोष हुआ कि फोटो खराब नहीं हुए हैं।'' राहुलजी द्वारा पटना संग्रहालय को प्रदान की गयी अमूल्य सामग्री की आज बड़ी दुर्दशा है।

पटना से राहुलजी कलकत्ता गये। डा. सुनीतिकुमार चटर्जी से मिले। पं. विधुशेखर भट्टाचार्य से मिलने गये तो पता चला कि वे असंग की महान कृति ''योगाचारभूमि'' के संपादन में जुटे हुए हैं, अपने जीर्ण शरीर के बावजूद। राहुलजी लिखते हैं– ''महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य विद्वानों और शोध-प्रेमियों के लिए आदर्श पुरुष हैं। खेद यही है कि उनके ज्ञान और शक्ति का पूरा उपयोग हमारा देश नहीं ले सका।''

राहुलजी महाकवि नजरुल इस्लाम को भी देखने गये। उस समय वे 49 के थे। छह साल पहले उनका मस्तिष्क सुन्न हो गया था, तब से वे जीवित-मृत थे। राहुलजी ने लिखा है–''उस मस्तिष्क ने, जिसने कभी अग्निवीणा बजाई थी, अब इस तरह अकर्मण्य हो गया है। सुन्न हो जाने से उन्हें सुख-दुख का क्या अनुभव हो सकता है? आज के समाज के लिए क्या यह शोभा की बात है कि उनकी पुस्तकें प्रकाशित कर लोग लाभ उठा रहे हैं, और कवि आर्थिक कठिनाइयों में जीवन बिता रहे हैं?'' कितनी विडंबना है कि नजरुल इस्लाम के बारे में कहे गये राहुलजी के ये शब्द बाद में, स्मृतिलोप के दिनों में, उन पर भी लागू होते हैं!

कलकत्ता से आगे कटक पहुंचने पर वहां भी बड़ा व्यस्त कार्यक्रम रहा। कई सभाओं में भाषण देने पड़े। वहां से राहुलजी पहले बालासोर और फिर खड़कपुर गये। खड़कपुर से राहुलजी ने वर्धा की ट्रेन पकड़ी। आनंदजी की देख-रेख में वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने काफी तरक्की की थी। राहुलजी वहां दो दिन रहे। सेवाग्राम भी घूम आये। वर्धा से वे जबलपुर गये, आनंदजी भी साथ थे। भेड़ाघाट और उसके नजदीक के चौसठयोगिनी मंदिर को देखा।

जबलपुर से आनंदजी वर्धा वापस लौटे और राहुलजी ने आगे बढ़कर बुंदेलखंड के कोंच, महेशपुरा आदि उन स्थानों की यात्रा की जहां कभी उन्होंने आर्यसमाज के एक प्रचारक के रूप में कार्य किया था। आगे कानपुर होते हुए प्रयाग पहुंच गये। 11 सितंबर (1947) को प्रयाग से चले थे। देश के एक बड़े हिस्से का चक्कर लगाकर पूरे एक महीने बाद प्रयाग वापस लौटे। दूसरे दिन से ही जोर-शोर से लिखाई के काम में जुट गये।

प्रयाग में गणितज्ञ डा. बदरीनाथ प्रसाद का निवास राहुलजी के लिए अपने घर-जैसा था। मगर वहां मिलने-जुलने वाले बहुत आते थे, इसलिए दारागंज में राय रामचरण के निवास में चले गये। लिखने के लिए नागार्जुन ने अपनी सेवाएं अर्पित कीं।

सदरुद्दीन ऐनी के दो ताजिक उपन्यासों–''दाखुंदा'' और ''गुलामान''–का उर्दू अनुवाद राहुलजी लेनिनग्राद में ही कर चुके थे। अब प्रयाग-निवास के तेरह दिनों में

उन्होंने "दाखुंदा" का हिंदी अनुवाद कर डाला और उसे प्रेस में भी दे दिया। फिर "सोवियत भूमि" के दूसरे संस्करण में काफी सारी नयी सामग्री जोड़कर उसे ड्योढ़ा कर दिया। उसके बाद "सोवियत मध्य-एशिया" को हाथ में लिया। राहुलजी लंदन से अपने साथ एक छोटा किंतु शक्तिशाली रेडियो लाये थे। शाम को भारत और पाकिस्तान की खबरें नियमपूर्वक सुनते थे।

साहित्यिक मित्रों से मिलना-जुलना भी जारी रहा। दारागंज में ही पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी का निवास था, जहां साहित्यकारों का दरबार लगा रहता था। राहुलजी "सरस्वती" के भूतपूर्व संपादक पं. देवीदत्त शुक्ल से मिलने गये। 1927-28 में श्रीलंका से भेजे गये राहुलजी के लेखों का शुक्लजी ने स्वागत किया था, उन्हें "सरस्वती" में छापा था। अब शुक्लजी आंखों की ज्योति से वंचित थे। राहुलजी लिखते हैं-"जीवनभर साहित्य की सेवा करते आज जिस तरह का जीवन उन्हें बिताना पड़ रहा था, उससे दुःख हो रहा था।... हमारे यहां मृतक-श्राद्ध की प्रथा है, शायद इसीलिए हम जीवित-श्राद्ध करना नहीं जानते।"

उन्हीं दिनों राहुलजी महादेवीजी से भी मिले। उनकी दृष्टि में पंत-प्रसाद-निराला के बाद उस पीढ़ी के सर्वोच्च कवियों में महादेवीजी का स्थान प्रथम है। महादेवीजी के साथ चली बातचीत में निराला का जिक्र उठना स्वाभाविक था। राहुलजी कहते हैं-"निरालाजी को कितने ही लोग पागल समझते थे, और उनके विचार से उन्हें रांची ले जाना चाहिए। मैं ऐसा नहीं समझता। मैं उन्हें चौरासी सिद्धों की कोटि में समझता हूं, जिनका जाग्रत और स्वप्न का भेद मिट गया है। निराला कवि के तौर पर ही नहीं, मानव के तौर पर भी बेजोड़ हैं।"

भिक्षु राहुल जब तीसरी तिब्बत-यात्रा से भारत वापस लौटे, तो दिसंबर 1937 उन्हें बलिया जिला साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से भाषण देना पड़ा था। उसी महीने पटना पहुंचने पर उन्हें पता चला था कि उस साल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व के लिए उनका भी नाम है। मगर राहुलजी ने बिहार के साथियों को अपनी सम्मति नहीं दी, क्योंकि उन्हें देश के बाहर जाना था। फिर भी दूसरे प्रांतवालों ने उन्हें वोट दिये। राहुलजी के विरोध में सेठ जमनालाल बजाज बड़ी मुश्किल से ही चुने गये, गांधीजी के पुरजोर समर्थन के बावजूद।

अब 1947 में सम्मेलन के सभापति पद के लिए राहुलजी का नाम पुनः पेश हुआ। इस बार राहुलजी के मित्रों ने उन्हें आरंभ में पता ही नहीं लगने दिया। 1 नवंबर को पहली बार उन्हें इसके बारे में पता चला, और 3 नवंबर को नतीजा घोषित हुआ : सेठ गोविंददास को 145 और राहुलजी को 180 वोट मिले। इस बार सम्मेलन का अधिवेशन बंबई में होने वाला था।

सम्मेलन के सभापतिपद का मतलब था कई नयी जिम्मेदारियों को संभालना, जिसके लिए राहुलजी को लिखने-पढ़ने की अपनी योजना में परिवर्तन करना पड़ा। उनका स्वास्थ्य अच्छा था। परंतु पेचिस की पुरानी बीमारी बार-बार परेशान करती।

दिसंबर 1947 के मध्य में पेट में दर्द शुरू हुआ। कुछ बाद में जाकर ही स्पष्ट हुआ कि वह मधुमेह (डायबेटीज) की पूर्व-सूचना थी।

राहुलजी ने सभापति का अपना भाषण तैयार किया और 24 दिसंबर (47) को प्रयाग से बंबई के लिए रवाना हुए। नागार्जुन और अन्य कई मित्र साथ थे। दो दिन बाद राहुलजी बंबई पहुंचे तो उनके ठहरने की व्यवस्था मलाबार हिल के सेठ घनश्यामदास पोद्दार के निवास पर हुई। उसी दिन आनंदजी भी वहां पहुंच गये। स्वतंत्रता के बाद सम्मेलन का यह पहला अधिवेशन था, इसलिए प्रतिनिधियों की संख्या पहले से अधिक थी।

राहुलजी कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। अधिवेशन शुरू होने के पहले वे बंबई-स्थित पार्टी के केंद्रीय आफिस गये। वहां के साथियों ने राहुलजी के छपे हुए भाषण की कापी पढ़ ली थी। उसमें हिंदी-उर्दू के संबंध में और "इस्लाम को भारतीय बनाना चाहिए" उपशीर्षक के अंतर्गत जो बातें कही गयी थीं, उनसे साथी सहमत नहीं थे। साथी चाहते थे कि राहुलजी उन अंशों को भाषण से निकाल दें। लेकिन, चाहने पर भी, भाषण के छप जाने पर अब उन बातों को निकाल देना राहुलजी के लिए संभव नहीं था।

28 दिसंबर को सम्मेलन का अधिवेशन शुरू हुआ। पं. गोविंदवल्लभ पंत का उद्घाटन-भाषण हुआ। फिर श्री वियोगी हरि, श्री माखनलाल चतुर्वेदी और श्री कन्हैयालाल मुंशी ने राहुलजी का नाम सभापति के लिए औपचारिक तौर पर प्रस्तावित किया। भाषण के पहले साथी डा. अधिकारी ने पुन: राहुलजी को लिखा था कि वे स्पष्ट कर दें कि उनके उर्दू संबंधी विचार पार्टी के विचार नहीं हैं।

राहुलजी ने उसी दिन डा. अधिकारी को लिखा कि पार्टी की नीति के साथ न होने के कारण वे अपने को पार्टी में रहने लायक नहीं समझते। इस तरह राहुलजी का पार्टी से संबंध-विच्छेद हो गया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बंबई अधिवेशन के सभापति-पद से दिया गया राहुलजी का भाषण "हमारा साहित्य" शीर्षक से उनकी पुस्तक "साहित्य निबंधावलि" में संकलित है। भाषण की आरंभिक पंक्तियां हैं-"आपने हिन्दी के इस सर्वोच्च सम्मेलन का सभापति बनाकर जो मेरा स्वागत किया है, उसके लिए मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूं। एक बौद्ध और वामपक्षी विचार वाले व्यक्ति को यह सम्मान देकर आपने यह भी सिद्ध कर दिया है कि हिंदी जगत में संकीर्णता के लिए स्थान नहीं।"

राहुलजी बताते हैं-"मेरा भाषण लंबा था, लेकिन उसके कुछ अंशों को ही पढ़कर मैंने 30 मिनट में समाप्त कर दिया।" अधिवेशन में उपस्थित श्रोता ही बता सकते हैं कि उन 30 मिनटों में राहुलजी ने अपने भाषण के उन अंशों को भी पढ़ा या नहीं जिनके कारण उन्हें पार्टी से अलग होना पड़ा। भाषण के उन विवादास्पद अंशों के दो नमूने हैं-

"... सारे संघ की राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि हिंदी ही होनी चाहिए। उर्दू भाषा और लिपि के लिए वहां कोई स्थान नहीं है।"

"**इस्लाम को भारतीय बनाना चाहिए**—उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियों से चला आया है सही, किंतु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूर्णतया स्वीकार किए बिना फल-फूल नहीं सकता। ईसाइयों, पारसियों और बौद्धों को भारतीयता से एतराज नहीं, फिर इस्लाम ही को क्यों? इस्लाम की आत्मरक्षा के लिए भी आवश्यक है कि वह उसी तरह हिन्दुस्तान की सभ्यता, साहित्य, इतिहास, वेषभूषा, मनोभाव के साथ समझौता करे, जैसे उसने तुर्की, ईरान और सोवियत मध्य-एशिया के प्रजातंत्रों में किया...।"

राहुलजी नें ऊपर के दूसरे अंश में जो बात कही है वह सचमुच ही एक संप्रदाय विशेष के लिए कड़वे जहर की तरह हो सकती है। मगर हम यह क्यों भूल जाते हैं कि राहुलजी ने अपने ब्राह्मणधर्मियों को और हिंदुत्ववादियों को इससे भी हजार गुना अधिक जहरीली बातें अनेक बार सुनाई हैं। राहुलजी नें अपने भाषण में जिस भारतीयता की बात की है, वह हिंदुत्ववादियों की 'भारतीयता' नहीं है।

31 दिसंबर को अधिवेशन समाप्त हो गया, साथ ही 1947 का साल भी। वर्ष के अंत के साथ राहुलजी अपने लिखने-पढ़ने का लेखा-जोखा भी प्राय: प्रस्तुत कर देते थे। भारत लौटे करीब साढ़े चार महीने हुए थे। करीब डेढ़ महीना देश-दर्शन में गया। तीन महीनों में कुछ लेख और तीन पुस्तकें लिख डालीं-'दाखुंदा', 'सोवियत भूमि' (दूसरा संस्करण) और 'सोवियत मध्य-एशिया'।

बंबई-निवास में यह भी स्पष्ट हो गया कि राहुलजी को अपने शेष जीवन में अब मधुमेह (डायबेटीज) की बीमारी को भी साथ लेकर चलना है। वह उनका 54वां साल चल रहा था।

राहुलजी ने सम्मेलन के अधिवेशन में खुद ही परिभाषाओं के निर्माण के बारे में प्रस्ताव रखा था। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने वह जिम्मेदारी राहुलजी को ही सौंप दी, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

राहुलजी और नागार्जुन बंबई से रायपुर पहुंचे, वहां विद्यार्थियों के एक कार्यक्रम में भाग लिया, और फिर 6 जनवरी (1948) को प्रयाग वापस पहुंच गये। राहुलजी को सम्मेलन के सभापति के नाते अब देश की साहित्य-यात्रा करनी थी, परिभाषाओं के निर्माण का कार्य शुरू करना था और अपना लेखन-कार्य भी जारी रखना था।

परिभाषा-कार्य

सन 1948 के साल का आरंभ। सम्मेलन के सभापति के नाते राहुलजी को अब आगे कम-से-कम एक साल तक हिंदी के काम को सबसे अधिक महत्व देना था, साहित्यिक यात्राएं करनी थीं और परिभाषा-निर्माण के कार्य को भी संभालना था। इनके अलावा, गर्मियों में किसी नये हिमालय-क्षेत्र की यात्रा करनी थी। और, अपना लेखन-कार्य भी जारी रखना था, अर्थार्जन के लिए भी।

थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि राहुलजी सम्मेलन के सभापति नहीं बनते (उनके सभापति निर्वाचित होने में सबसे बड़ी भूमिका आनंदजी और उदयनारायण तिवारी ने अदा की थी; उस साल बंबई अधिवेशन में तिवारीजी बड़ी मुश्किल से ही सम्मेलन के प्रधानमंत्री चुने गये थे) और उनका कम्यूनिस्ट पार्टी से संबंध-विच्छेद नहीं होता। तब शायद वे अपने लेखन-कार्य को जारी रखते हुए सक्रिय राजनीति में भी पुन: भाग लेते। पार्टी से पृथक होना राहुलजी के लिए सुख की बात नहीं थी। उन्हें लेखन-कार्य से सामाजिक-राजनीतिक कार्य कम प्रिय नहीं था।

राहुलजी ने सोचा था कि दो साल के बाद वे पुन: लेनिनग्राद लौटेंगे। मगर अब उसकी कम ही संभावना रह गयी थी। दो साल के भीतर ही वे भारत में एक नयी "गृहस्थी" बसा लेते हैं। तात्पर्य यह कि लेनिनग्राद से लौटकर सम्मेलन का सभापति बनने पर स्वतंत्र भारत की नयी परिस्थितियां राहुलजी के जीवन को एक नया मोड़ देती हैं।

बढ़ती उम्र ने, जीवन-संगिनी बनी मधुमेह की व्याधि ने और बदली परिस्थितियों ने राहुलजी की विचार-शैली को भी कुछ हद तक प्रभावित किया, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। बंबई सम्मेलन से प्रयाग लौटने पर दो-चार दिन के बाद वे लिखते है-"आत्म-निरीक्षण करते मुझे मालूम हुआ कि जरा-जरा बात में चित्त विकल हो जाता है। 'काजीजी दुबले शहर के अंदेशे' के अनुसार विश्व में कहीं पर भी समान आदर्श और आदर्शवादियों के ऊपर प्रहार या खतरा पैदा होने पर मन चिंतित हो उठता। किसी भी अयुक्त कार्य या विचार को देखकर अंतर उत्तेजित हो जाता-कार्य चाहे सामाजिक दवाब हो, रूढि हो, या और कोई बात।"

राहुलजी को जगह-जगह से निमंत्रण मिल रहे थे। अब उन्हें साहित्य-यात्रा पर निकलना था, सम्मेलन के सभापति के रूप में ऐसे कई स्थानों पर पुन: पहुंचना था जहां पहले कभी वे एक घुमक्कड़ साधु या बौद्ध भिक्षु के रूप में गये थे। सबसे

पहले इंदौर में आयोजित साहित्य परिषद के अधिवेशन में भाग लेने जाना था। नागार्जुन बिहार चले गये थे। साहित्याचार्य बलभद्र ठाकुर को साथी बनाकर राहुलजी 15 जनवरी (48) को इंदौर और उधर के अन्य स्थानों की एक पखवाड़े की यात्रा के लिए प्रयाग से रवाना हुए।

इंदौर के साहित्यिक कार्यक्रम में पं. माखनलाल चतुर्वेदी भी उपस्थित थे। कहीं भी जाने पर राहुलजी वहां के और आसपास के ऐतिहासिक-पुरातात्विक स्मारकों को, दुबारा-तिबारा भी, देखने का अवसर यथासंभव हाथ से नहीं ही जाने देते थे। वे इंदौर से माहिष्मति (महेश्वर) गये, वहां का दुर्ग देखा। दूसरे दिन नर्मदा की नौकायात्रा करके सहस्रधार के मनोरम दृश्य को देखा। इंदौर लौटकर दोपहर को उज्जैन के लिए रवाना हुए। अब राहुलजी के लिए मोटरकार की सुविधा सहज उपलब्ध थी। उज्जैन में, लिखते हैं, "महाकाल का दर्शन किया, यद्यपि उतने भक्तिभाव से नहीं, जितना कि बाण-वर्णित महाकाल का करता।" उज्जैन में सार्वजनिक भाषण भी हुआ।

इंदौर लौटकर राहुलजी रतलाम, चित्तौड़गढ़ और उदयपुर गये। सब जगह समारोह और भाषण हुए, ऐतिहासिक स्थानों के भी दर्शन किये। उदयपुर के नजदीक के एकलिंग और नागदा (नागह्रद) स्थानों के स्मारक देखे। जावर जाकर वहां सीसे व जस्ते की पुरानी खानें देखीं। उदयपुर से वे आगे जोधपुर गये। वहां स्वागत-संभार के कई कार्यक्रम हुए।

आगरा पहुंचकर वहां तीन दिन रहे। अब उनके निवास की व्यवस्था प्राय: विद्या-प्रेमी सेठों के यहां ही हुआ करती थी। राहुलजी ने दयालबाग, सिकंदरा, फतेहपुर-सीकरी आदि कुछ स्थानों को देखा। रांगेय राघव के यहां आयोजित एक साहित्यिक गोष्ठी में शरीक हुए।

अगला पड़ाव मथुरा में था। 30 जनवरी को पुरातत्व की अनमोल धरोहर से भरा वहां का संग्रहालय राहुलजी देखने न जाते, यह संभव नहीं था। वृंदावन गये, वहां का गुरुकुल देखा। फिर दोपहर को मथुरा के कुछ टीले देखने के बाद सायंकाल को एक जगह भाषण देने जा रहे थे, तो बाजार में लोगों की भीड़ को रेडियो सुनते देखा : गांधीजी को किसी हिंदू आततायी ने आज दिल्ली में मार डाला!

गांधीजी के राजनीतिक विचारों से स्पष्ट मतभेद रखनेवाले राहुलजी लिखते हैं- "भला यह विश्वास करनेवाली बात थी? गांधीजी अजातशत्रु थे, वह किसी का अनिष्ट नहीं चाहते थे।... बुद्ध के बाद क्या भारत में कोई इतना महान व्यक्ति पैदा हुआ?" राहुलजी को जिस सभा में भाषण देना था, वह शोक-सभा में परिणत हो गयी।

अगले दिन ट्रेनों में बड़ी भीड़ थी। राहुलजी और ठाकुर मोशाय बड़ी मुश्किल से ही प्रयाग पहुंचे। ढेर सारी डाक जमा हो गयी थी। "नवजीवन" (लखनऊ) का संपादक होने के लिए राहुलजी से आग्रह किया जा रहा था। उन्होंने लिख दिया— मैं उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

फरवरी का महीना था। प्रयाग में वे माघ मेले के दिन थे। राहुलजी मेले में जाने के लिए बड़े उत्सुक रहते थे, इस आशा से कि घुमक्कड़ साधुओं में शायद कोई पुराना परिचित मिल जाये। राहुलजी दो बार मेला देखने गये। एक बुढ़िया अपने साथियों से बिछुड़ गयी थी। वह अपने जिले का नहीं, केवल अपने गांव का नाम बता सकती थी। राहुलजी ने उसकी बोली से उसके गोरखपुर जिले को पहचान लिया और उसे उसके जिले के आदमियों के पास पहुंचा दिया। दूसरी बार मेले में गये, तो तीस साल पहले के परिचित पं. भागवताचार्य मिल गये। दिल खोलकर मिले, उनकी संत-मंडली के सामने भाषण भी दिया। मेले में और भी कई पूर्व-परिचित साधुओं से भेंट हुई।

12 फरवरी (1948) को त्रिवेणी-संगम में गांधीजी की अस्थियां विसर्जित होने वाली थीं, इसलिए उस दिन निश्चित मार्ग पर बड़ी भीड़ थी। राहुलजी भी रास्ते की एक कोठी पर जाकर डट गये। जुलूस में पं. जवाहरलाल नेहरू पैदल चल रहे थे। उसी समय राहुलजी ने सिगरेट छोड़ देने का संकल्प किया। लंदन से बंबई तक जहाज-यात्रा करते समय (अगस्त 1947) उन्होंने पुनः सिगरेट पीना शुरू कर दिया था। वह बला अब भी उनके पीछे पड़ी हुई थी। लिखते हैं-"मैं उसे छोड़ना चाहता था, और इस पुण्य दिन मैंने उसे छोड़ दिया।"

हिंदी साहित्य सम्मेलन ने परिभाषाओं के निर्माण की जिम्मेदारी राहुलजी को सौंपकर उसके लिए एक उप-समिति बना दी थी। डा. रघुवीर भी इस दिशा में कार्य कर रहे थे, जिसकी समीक्षा करते हुए राहुलजी लिखते हैं- "उनकी धारणा थी कि संस्कृत में 22 उपसर्ग, 2000 धातु और 300 के करीब प्रत्यय हैं; इनके घटाव-बढ़ाव से हम अरबों अलग-अगल शब्द बना सकते हैं, और उन्हें एक-एक अंग्रेजी शब्द के लिए इस्तेमाल करके उन वस्तुओं के साथ चिपका सकते हैं। इस तरीके को हमारे यहां या कहीं भी इस्तेमाल नहीं किया गया। ऐसे शब्द सर्वथा अज्ञात होते हैं; अज्ञात में अज्ञात का परिचय अति दुष्कर है, यह सभी जानते हैं।"

चूंकि राहुलजी ने परिभाषा-निर्माण के लिए काफी जद्दोजहद की, इसलिए इस कार्य के बारे में उनके अपने विचार भी जान लेना उपयोगी होगा-"भारत में ढाई हजार वर्ष से परिभाषाएं बनती आई है। उसके परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न विषयों के दस हजार से अधिक पारिभाषिक शब्द हमारे पास मौजूद है। उनसे अधिकतर ज्ञात से अज्ञात के परिचय कराने की कोशिश की गई है, और कभी-कभी बहुप्रचलित विदेशी शब्दों को लेने में भी आनाकानी नहीं की गई। उदाहरणार्थ, 'केन्द्र' ग्रीक शब्द है। यह जिस अर्थ का प्रतिपादन करता है, वह 'मध्य-बिंदु' से प्रकट नहीं हो सकता था, इसलिए विदेशी शब्द को ही हमारे पूर्वजों ने ले लिया। केन्द्र, केन्द्रित, केन्द्रीकरण आदि इसके रूपों को देखकर कौन कह सकता है कि यह संस्कृत का शब्द नहीं है। मेरी यही धारणा रही कि हमें नये शब्दों को ज्ञात से अज्ञात की प्रक्रिया से गढ़ना चाहिए और बहुप्रचलित विदेशी शब्दों को भी स्वीकार करने से परहेज नहीं करना चाहिए।"

परिभाषाओं का काम शुरू होने के पहले राहुलजी लखनऊ, बरेली और बनारस का चक्कर लगाकर आये। लखनऊ जाने पर भदंत बोधानंद महास्थविर से भेंट सुनिश्चित थी। उन्हीं से राहुलजी को सर्वप्रथम बौद्ध वाङ्मय के बारे में आरंभिक जानकारी मिली थी। यशपालजी और आचार्य नरेन्द्रदेव से भी भेंट की। आगे बरेली जाकर वहां अपने घुमक्कड़ी के दिनों के परिचित स्थान देखें। बनारस गये, तो वहां भी अपने पूर्व-परिचय के कई स्थान देखें। निरालाजी उन दिनों वहीं गायघाट में रह रहे थे। राहुलजी मिलने गये। लिखते हैं-"उन्निद्रता का इस वक्त आधिक्य था, जिसके साथ-साथ दिमाग भी गरम था। लेकिन कुछ भी हो, उनका सौजन्य सदा उनके पास रहता था।" बनारस में ही पूर्व-परिचित पं. जयचंद विद्यालंकार और मौलवी महेशप्रसाद से पुन: भेंट हुई।

प्रयाग लौटकर मार्च के प्रथम पखवाड़े में पं. क्षत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय के घर रहकर राहुलजी ने ऐनी के "गुलामान" उपन्यास को "जो दास थे" के नाम से हिंदी में लिख डाला; इसका उर्दू अनुवाद वे लेनिनग्राद में ही कर चुके थे। राहुलजी पं. क्षेत्रेशचंद्रजी के बारे में लिखते हैं-"वह अद्भुत पुरुष हैं। उनकी विद्या और विद्याप्रेम के प्रति मेरी भारी श्रद्धा है। किंतु अपने इस ज्ञान का वह लेखनी द्वारा उपयोग नहीं करते, इसका मैं बराबर उलाहना देता था।" राहुलजी की 1956 में लिखित "ऋग्वेदिक आर्य" पुस्तक का 'समर्पण' है: "वेद के महान मर्मज्ञ और लेखनी के परम आलसी श्री श्री श्री क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय के करकमलों में सादर-सस्नेह"।

आखिर परिभाषाओं का काम भी शुरू हो गया। टंडनजी के सुझाव पर सबसे पहले राजकीय परिभाषाओं ("शासन शब्दकोश") को हाथ में लेने का निर्णय हुआ। दो अच्छे सहयोगी भी मिल गये- विद्यानिवास मिश्र और प्रभाकर माचवे। राहुलजी सम्मेलन की सत्यनारायण कुटीर में रहने चले आये और परिभाषाओं का काम जोर-शोर से शुरू हो गया। गर्मी शुरू होने पर मई के आरंभ में उन्होंने हिमाचल प्रदेश (किन्नर देश) जाकर वहां चार महीने बिताने का निर्णय किया था। इसलिए शेष डेढ़ महीने में "शासन शब्दकोश" का काम पूरा कर डालना था।

उस दौरान राहुलजी की यात्राएं भी जारी रहीं। प्रयाग के कुछ साहित्यकारों के साथ तुलसीदास के जन्म-स्थान राजापुर की यात्रा कर आये। उदयनारायण तिवारी के साथ बलिया हो आये। कवि शील के आग्रह पर एक कार्यक्रम के लिए कानपुर गये। सभा के बाद स्व. गणेश शंकर विद्यार्थी के घर गये। कानपुर में ही बहुत दिनों बाद पुन: पं. संतराम और पं. लक्ष्मीधर वाजपेयी से भेंट हुई। राहुलजी ने कानपुर में एक नया कैमरा (आर्गोफ्लेक्स) खरीदा। कानपुर में दो दिन बिताकर वे प्रयाग लौटे।

राहुलजी सम्मेलन के सभापति थे, सम्मेलन का काम कर रहे थे, किंतु वे सम्मेलन से कोई पैसा नहीं लेते थे। उनकी आय का मुख्य स्रोत था—लेख व पुस्तकें। लोला और ईगोर के पत्र आ रहे थे—पैसा भेजने के लिए, और रूस आने के लिए या भारत बुलाने के लिए। मगर अब इनमें से कोई भी बात संभव नहीं थी।

अप्रैल (48) में वैशाली महोत्सव का आयोजन था। वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) लिच्छवियों की प्रधान नगरी थी। वैशाली के क्षत्रिय ज्ञातृ-कुल में ही श्रमण महावीर का जन्म हुआ था, इसीलिए उन्हें ज्ञातृपुत्र (नातपुत्र) कहते हैं। भगवान बुद्ध ने अगने कई वर्षावास वैशाली में बिताये थे। राहुलजी वैशाली गये, 21 अप्रैल को महोत्सव में अपना भाषण पढ़ा और वहां के पुरातात्विक स्मारकों को देखा। महोत्सव में पढ़ा गया राहुलजी का भाषण 'वैशाली का प्रजातंत्र' शीर्षक से "साहित्य निबंधावलि" और "वैशाली अभिनंदन ग्रंथ" (वैशाली संघ, 1948) में संकलित है। राहुलजी की "पुरातत्व निबंधावली" में भी वैशाली के बारे में उनका एक लेख है–'बसाढ़ की खुदाई'।

राहुलजी ने अपने 'बसाढ़ की खुदाई' लेख में ज्ञातृ-जथरिया समीकरण स्थापित किया था। वैशाली के ज्ञातृ क्षत्रिय थे, परंतु वर्तमान बिहार के जथरिया भूमिहार अपने को ब्राह्मण मानते हैं। इसलिए राहुलजी के समीकरण से उनको क्लेश होना स्वाभाविक था। राहुलजी ने भरपूर प्रमाण देकर एक और लेख लिखा: "ज्ञातृ-जथरिया" यह लेख भी "पुरातत्व निबंधावली" में ही संकलित है।

गर्मी राहुलजी के लिए असह्य थी, उन्हें ऊंचे पहाड़ों की सर्दी पंसद थी। पहाड़ों में भी अधिक पसंद था, भारत और तिब्बत का सीमा-प्रदेश। इस बार उन्होंने गर्मी के चार महीने (मई-अगस्त, '48) किन्नर देश (हिमाचल प्रदेश के कन्नौर, रामपुर-बुशहर इलाके) में, मुख्यत: चिनी में, बिताने का निश्चय किया।

कन्नौर का इलाका राहुलजी के लिए नया नहीं था। 1926 में जब उन्होंने लदाख की पहली बार यात्रा की थी, और तिब्बत के पश्चिमी क्षेत्र में भी प्रवेश किया था, तब वे इसी इलाके से होकर शिमला लौटे थे। 1929 में भोटिया भेस धारण करके पहली बार तिब्बत की यात्रा की, तो राहुलजी ने अपने को खुन्नू (कन्नौर, रामपुर-बुशहर) वासी ही बताया था, और उनका छद्मनाम था–खुन्नू छेवङ् । इस सीमांत प्रदेश के लोग बौद्ध हैं तथा इनकी भाषा तिब्बती है। राहुलजी का इस प्रदेश से विशेष लगाव होना स्वाभाविक था।

राहुलजी के चार महीने इस सीमान्त प्रदेश में अच्छे कटे, हालांकि कुछ कठिनाइयां भी हुईं। इसी यात्रा में उन्होंने अपनी पुस्तक "किन्नर देश में" का काफी अंश लिख डाला। आगे 1954 की गर्मियों में उन्होंने पुन: हिमाचल प्रदेश की यात्रा की, "हिमाचल प्रदेश" ग्रंथ लिखा, जो अभी तक अप्रकाशित पड़ा हुआ है।

सितंबर के आरंभ में राहुलजी प्रयाग वापस लौटे।

प्रयाग पहुंचकर राहुलजी फिर परिभाषाओं के काम में जुट गये। विद्यानिवास मिश्र तत्परता से काम कर रहे थे। आखिरी बार जांच करके "शासन शब्दकोष" को प्रेस में दे दिया गया। "किन्नर देश में " को भी पूरा करके प्रेस को सौंप दिया गया था। टंडनजी के सुझाव पर संविधान के मसौदे के हिंदी अनुवाद को प्रस्तुत कर देने की नयी जिम्मेदारी भी राहुलजी ने स्वीकार कर ली। प्रशासनिक शब्दावली का काम पूरा

हो जाने के बाद अब विज्ञान-शब्दावली का संग्रह करना था, विशेषज्ञों से मिलकर उनका सहयोग प्राप्त करना था।

अक्तूबर (48) में राहुलजी दरभंगा में आयोजित प्राच्य सम्मेलन में शरीक हुए। डा. बाबूराम सक्सेना, डा. उदयनारायण तिवारी, पं. माखनलाल चतुर्वेदी, डा. अमरनाथ झा, डा. उमेश मिश्र, कवि नागार्जुन आदि भी सम्मेलन में मौजूद थे। पं. माखनलाल चतुर्वेदी के भाषण के बारे में राहुलजी लिखते हैं-"चतुर्वेदीजी जैसा हिंदी का सुवक्ता इस वक्त कोई नहीं है, वह हिंदी के सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं।"

सम्मेलन में राहुलजी ने परिभाषाओं के बारे में एक लेख पढ़ा। वहां की एक सभा में कुछ वक्ताओं ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने का सुझाव रखा, तो राहुलजी ने अपने भाषण में कहा-"हमारी भाषाओं के उपजीवक की तरह संस्कृत का स्थान सदा बना रहेगा। लेकिन, अब बेटी के समय में माता को सिंहासन का लोभ छोड़ना ही अच्छा होगा।"

नवंबर के आरंभ में राहुलजी दिल्ली गये। परिभाषाओं के काम के संदर्भ में वहां कई विद्वानों से भेंट की। वहां के मध्य-एशिया म्यूजियम में गये, तो डा. वासुदेवशरण अग्रवाल से भेंट हुई। बाद में वासुदेवशरणजी को वह जगह छोड़नी पड़ी, जिसके बारे में राहुलजी की टिप्पणी है-"डा अग्रवाल जैसे सुयोग्य पुरुष को दिल्ली अपने पास नहीं रख सकी, इसमें दिल्ली का ही दोष है। दिल्ली को खुशामदी दरबारी ही पसंद आते हैं, वहां आत्मसम्मान रखने वाले पंडित का कैसे गुजारा हो सकता है?"

दिल्ली में ही, 18 साल बाद डा. अनंतराम भट्ट से भेंट हुई। भट्ट से राहुलजी की पहली भेंट 1928 ई. में श्रीलंका के विद्यालंकार विहार में हुई थी। 1930 में राहुलजी ने उन्हें अध्ययन-अन्वेषण के लिए जर्मनी भेजा था। भट्ट संस्कृत के विद्वान थे, जर्मनी में उन्होंने 'डाक्टरेट' प्राप्त की, और महायुद्ध के जमाने में वे वहां बड़े प्रभावशाली पदों पर रहे । स्वतंत्र भारत में लौटे, तो अब उनकी दशा काफी दयनीय थी। राहुलजी ने उनके सामने परिभाषाओं के काम में सहयोग देने का प्रस्ताव रखा।

दिल्ली से प्रयाग लौटकर राहुलजी ने नवंबर में पहले शृंगवेरपुर के ऐतिहासिक स्थान की यात्रा की और फिर सारनाथ पहुंचे। राहुलजी आसपास होते थे तो नवंबर में होने वाले मूलगंधकुटी उत्सव के अवसर पर सारनाथ अवश्य पहुंच जाते थे, क्योंकि तब वहां देश-विदेश के बौद्ध मित्रों से भेंट-मुलाकात हो जाती थी। आनंदजी और काश्यपजी भी सारनाथ पहुंच गये थे। सारनाथ से ही राहुलजी गोरखपुर भी गये। वहां से वे बनारस आये और घूम-घूमकर वहां के अपने विद्यार्थी-जीवन के स्मृति -स्थानों को देखा।

प्रयाग लौटकर दो-चार दिन बाद फिर दिल्ली के लिए रवाना हुए। वहां परिभाषाओं के बारे में पूसा इंस्टीट्यूट के कुछ वैज्ञानिकों से बातचीत की। एक साहित्य-गोष्ठी में दिल्ली के कई साहित्यकारों से एक साथ भेंट हुई।

इस बार का हिंदी साहित्य सम्मेलन मेरठ में हो रहा था। सेठ गोविंददास को सभापति चुना गया था। राहुलजी मेरठ गये, उनका सभापति का कार्यकाल अब समाप्त हो गया। मगर परिभाषा-निर्माण की जिम्मेदारी उन्हीं के ऊपर थी। मेरठ के बाद उन्होंने दिसंबर (48) में मुख्यतः परिभाषाओं के ही काम से रुड़की, देहरादून, लखनऊ और कलकत्ता की यात्रा की, अनेकानेक वैज्ञानिकों से मिले, कई जगह भाषण भी देने पड़े।

राहुलजी ने प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडमी में "बौद्ध-संस्कृति" पर भाषण देना स्वीकार किया था, जिसे उन्हें पुस्तक रूप में भी लिखना था। स्रोत-सामग्री की शांतिनिकेतन में बड़ी सुविधा थी, इसलिए राहुलजी ने करीब एक महीने बाद वहां जाकर रहने की योजना बनाई थी। कलकत्ता पहुंच गये थे, इसलिए पुस्तकालय देखने शांतिनिकेतन चले गये, एक दिन के लिए। वहां आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और शांति भिक्षु से भेंट हुई।

नये साल (1949) के प्रथम सप्ताह में राहुलजी प्रयाग वापस पहुंच गये थे।

कालिंपोङ्- निवास

सारनाथ (वाराणसी) से राहुलजी को विशेष लगाव था। वह उनके अपने काशी जनपद का और बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश (धर्मचक्र-प्रवर्तन) का पुनीत स्थान था। राहुलजी ने स्वयं लिखा है- ''सारनाथ में जाड़ों में देश-देशांतरों के बौद्ध यात्री आया करते हैं। लंका और तिब्बत के यात्रियों से मिलने की मेरी आकांक्षा रहा करती थी।''

8 जनवरी (49) को सारनाथ पहुंचकर वहां की धर्मशाला के एक कमरे में राहुलजी ने अपना आसन लगाया और दूसरे दिन से ''बौद्ध संस्कृति'' के लेखन को शुरू कर दिया। लिपिक भी मिल गये-पहले लल्लन, और फिर अवधबिहारी सिंह सुमन। रोज सवेरे भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमने चले जाते थे--कभी मुंशी प्रेमचंद के गांव लमही-ललाम की ओर, कभी लाट-भैरव की ओर, तो कभी ओड़ाझार की पहाड़ियों की ओर। घूमने के साथ-साथ ही पुरानी ईंटों और खंडित मूर्तियों को देखने-पहचानने का भी काम होता रहता था।

राहुलजी तीन सप्ताह सारनाथ में रहे। कई पूर्व-परिचितों से भेंट हुई। किसी समय उनसे संस्कृत पढ़नेवाले श्रीलंका के भदंत देवानंद स्थविर मिले। ल्हासा के जेनरल शोगाङ् सपरिवार सारनाथ आये, तो राहुलजी को उनसे तिब्बत के बारे में ताजा जानकारी मिली। उन्हीं से पता चला कि गेशे धर्मवर्धन अब जेल से बाहर हैं और तिब्बत का इतिहास लिखने में लगे हुए हैं। गेशे राहुलजी की तीन तिब्बत-यात्राओं में उनके साथी थे।

सारनाथ की भूमि कुछ ऐसी है कि वहां बड़ा सकून मिलता है, मनुष्य सहज ही संवेदनशील बन जाता है। भगवान बुद्ध ने भी अपने जीवन के अंतिम क्षणों में सारनाथ, बोधगया, कुशीनगर और लुंबिनी, इन चार स्थलों को 'संवेजनीय' बताया था। सारनाथ में बैठकर राहुलजी ने भी सोचा : ''आज चारों ओर जो स्थिति मैं देख रहा था, उसमें बुद्ध का उपदेश 'आदीप्त पर्याय' याद आ रहा था। सभी चीजें आदीप्त हैं, जल रही हैं। पुराना ढांचा जलकर ढह रहा है, यह बुरा नहीं, पर नये की नींव पड़ती नहीं दिखलाई देती, यह चिंता की बात थी।''

सारनाथ-निवास के तीन सप्ताह सिर्फ लिखने और मिलने-जुलने में ही नहीं गये। उस दौरान राहुलजी ने सागर और बक्सर की भी यात्रा की। सागर में विश्वविद्यालय के साहित्यिक समारोह में भाग लिया, परिभाषाओं के बारे में वहां के विद्वानों से विचार-विमर्श किया। सागर से लौटते वक्त कटनी में उतरकर स्व. डा. हीरालाल के घर जाकर उनके परिवार वालों से मिले, उनका पुस्तकालय देखा।

बक्सर में आयोजित जिला हिंदी सम्मेलन का राहुलजी को सभापति बनाया गया था। इंतजाम अच्छा नहीं था, मगर वहां के ऐतिहासिक स्मारकों को देखकर उन्हें बड़ी खुशी हुई।

सारनाथ में रहकर राहुलजी ने "बौद्ध संस्कृति" का काफी हिस्सा लिख डाला। शेष पुस्तक शांतिनिकेतन में जाकर लिखनी थी। प्रयाग और पटना ठहरते हुए राहुलजी लिपिक सुमनजी को साथ लेकर 8 फरवरी को शांतिनिकेतन पहुंच गये, और आगे 17 दिन तक वहां पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अतिथि रहे। द्विवेद्वीजी के बारे में राहुलजी लिखते हैं- "मैं उनकी विद्या, लेखनी और निर्णय-शक्ति का भारी प्रशंसक हूं। कहा करता था, हिंदी के साहित्यकार जब ऐसी गंभीरता प्राप्त करेंगे, तब हिंदी तेजी से आगे बढ़ेगी।"

राहुलजी सामिष या निरामिष, जैसा भी भोजन मिलता, ग्रहण कर लेते थे। मगर अपने सामिषाहारी होने का ढिंढोरा पीटने में उन्हें बड़ा आनंद आता था। वे अपने निरामिषाहारी मित्रों-परिचितों पर व्यंग्यवाण छोड़ने से प्राय: नहीं ही चूकते थे। "बौद्ध संस्कृति" के प्राक्कथन में लिखते हैं- "द्विवेदीजी कहने को तो उन ब्राह्मणों में हैं, जिनके यहां अनादि काल से 'नामांसो मधुपर्को भवति' (बिना मांस के पूज्य अतिथि की सेवा नहीं की जा सकती) के महावाक्य को माना जाता रहा, और मांस को कभी अभक्ष्य नहीं समझा गया, लेकिन हैं वह निरामिषाहारी। स्वयं निरामिषाहारी होते हुए भी शांतिनिकेतन की पुण्य भूमि में पूर्वजों के महावाक्य का उल्लंघन न कर उन्होंने मधुपर्क का प्रबंध मेरे लिए किया, इससे उनका सौहार्द और स्नेह प्रकट होता है।"

राहुलजी ने शांतिनिकेतन में खूब जमकर काम किया। सुबह नियम से घूमने निकल जाते थे। फिर, उन्हीं के शब्दों में, "8 बजे सबेरे से लेकर 12 बजे रात तक, बीच के दो घंटे छोड़कर, 16 घंटे जुता रहता था।" "बौद्ध संस्कृति" के लेखन में शांतिनिकेतन के पुस्तकाध्यक्ष और बृहत्तर भारत के गंभीर विद्वान श्री प्रभातकुमार मुखोपाध्याय ने राहुलजी को हर तरह से सहायता दी। यह पुस्तक प्रभात बाबू को ही अर्पित की गयी है, इन शब्दों में: "विश्वभारतीस्थ श्री प्रभातकुमार मुखोपाध्याय महाशयेषु 'त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पये'।" 1949 में लिखी गयी "बौद्ध संस्कृति" पुस्तक 1953 में प्रकाशित हुई।

करीब पांच सौ पृष्ठों के इस ग्रंथ में राहुलजी ने भारत, श्रीलंका, बर्मा, इंदोनेशिया, हिन्द-चीन, चीन, अफगानिस्तान, मध्य-एशिया, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया तथा जापान में फली-फूली बौद्ध-संस्कृति का विस्तृत परिचय दिया है। 'प्राक्कथन' में वे लिखते हैं- "भारतीय संस्कृति देश की सीमा से बाहर प्राय: बौद्ध धर्म के साथ गई, लेकिन यह भी कहना पड़ेगा, कि जहां तक इंदोनेशिया, इंदो-चीन और अफगानिस्तान का संबंध है, सांस्कृतिक प्रचार और प्रसार के इस काम में ब्राह्मणधर्मी भी पीछे नहीं रहे। स्वतंत्रता खोने के साथ उन देशों से भारत का संबंध नहीं रह गया, जो कि भारतीय संस्कृति से आज भी अनुप्राणित हैं। इस विस्तृत संबंध को फिर से सामने रखने में

बौद्ध धर्म के ज्ञान ने हमारी बड़ी सहायता की, इसमें संदेह नहीं। यदि हम भारत के पुरान काल के उस कर्मठ जीवन के बारे में जानना चाहते हैं, तो एशिया की मुख्य-मुख्य भाषाओं में अब भी मौजूद बौद्ध साहित्य, तथा वृहत्तर भारत का इतिहास और भूगोल हमारी कूपमंडूकता दूर करने में सहायक हो सकते हैं।"

राहुलजी ने पिछले साल की गर्मियां कन्नौर (हिमाचल प्रदेश) में बिताई थीं। सोचा था, अगले साल की गर्मी में भी उधर ही जाएंगे। मगर शांतिनिकेतन में रहते तय हुआ कि इस साल की गार्मियों में कालिंपोङ् जाना है। परिभाषाओं का काम भी वहीं होगा। इसका मतलब यह था कि राहुलजी के सहयोगी भी उनके साथ कालिंपोङ् में ही रहेंगे।

शांतिनिकेतन से राहुलजी पहले वर्धा गये। वहां राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का सम्मेलन था। आनंदजी के नेतृत्व में समिति ने जो प्रगति की थी, उसे देखकर राहुलजी को बड़ा संतोष हुआ। वे चाहते थे कि समिति उत्कृष्ट साहित्य के प्रकाशन के काम को भी हाथ मे ले।

राहुलजी प्रयाग पहुंचे। वहां 19-21 मार्च के तीन दिन हिन्दुस्तानी एकेडमी में "बौद्ध संस्कृति" पर उनके भाषण हुए। लिखते हैं-"उस समय एक तरह का दिमाग में खुमार-सा मालूम होता था जो कि डायबेटीज के कारण ही था, पर मैं इसे अभी पूरी तरह समझ नहीं पाया था। मतलब था रोज नियमपूर्वक इंसुलिन लेना।"

कालिंपोङ् जाने के लिए सामान और साथी जुटाने थे। तीन साथी मिले-डा. भट्ट, सेनगुप्त और महेशनारायण। परिभाषाओं से संबंधित पुस्तकें एकत्र कीं और कुल 16 ट्रंकों में सामान भरकर 5 अप्रैल (49) को राहुलजी और उनके तीन साथी कालिंपोङ् पहुंच गये।

राहुलजी ने अपने और परिभाषाओं के काम के लिए दूर का कालिंपोङ् निवास क्यों पसंद किया? पहली बात तो यही थी कि यह पर्वतीय स्थल तिब्बत जाने-आने के मार्ग पर है। कालिंपोङ् में तिब्बतियों से भेंट-बातचीत हो सकती थी; राहुलजी अपने तिब्बती-संस्कृत काम को वहां सुविधापूर्वक कर सकते थे। वहां बौद्ध श्रद्धालु मणिहर्ष ज्योति और उनके पिता भाजूरत्न साहु राहुलजी को हर तरह का सहयोग देने के लिए तैयार थे। उनके द्वारा खरीदा गया धर्मोदय सभा का सुंदर बंगला राहुलजी के निवास के लिए हाजिर था। राहुलजी पहाड़ पर अब अपना एक घर बनाने के बारे में भी सोच रहे थे, जहां अवश्य ही नून-तेल-लकड़ी का सवाल भी पैदा होता। कोलिंपोङ् में अभी उसकी संभावना नहीं थी, इसलिए लिखते हैं-"घरबारी होने के पाप से बच जाएंगे।"

मगर राहुलजी अब घरबारी होने से ज्यादा दिन तक बचने वाले नहीं थे। वे अब 56 साल के हो गये थे, डायबेटीज के मरीज थे, इसलिए अब उन्हें एक स्थायी साथी की आवश्यकता थी। घरबारी बनने से भले ही घबराते हों, परंतु कुछ महीने बाद वे कालिंपोङ् में ही 'घरबारी' बन गये।

कालिंपोङ् के धर्मोदय विहार में पहुंच जाने के बाद अगले दिन से ही काम शुरू कर दिया गया, और टहलने के नियम का भी पालन होने लगा। जमा किये गये पारिभाषिक शब्दों को अकारादि क्रम से लगाने के लिए उन्हें कार्डों पर लिखना आवश्यक था। इसके लिए कुछ स्थानीय नेपाली लड़के-लड़कियों को काम पर रख लिया गया।

अब राहुलजी ने निश्चय किया कि "मधुर स्वप्न" उपन्यास लिख डालना चाहिए। इस ऐतिहासिक उपन्यास की रंगभूमि ईरान-मध्यएशिया है, और इसका काल 500 ई. के आसपास का है। राहुलजी ने इस उपन्यास के लिए तेहरान और लेनिनग्राद में काफी सामग्री एकत्रित की थी। उपन्यास की प्रेरणा के बारे में उन्होंने लिखा है-"मैंने इस उपन्यास द्वारा इतिहास के एक विस्मृत पन्ने को पाठकों के सामने रखने की कोशिश की है। न्याय चाहने वाले वे ऐतिहासिक पात्र, जिनमें से कुछ इस ग्रंथ में भी हैं, मुझे लिखने के लिए बाध्य करने लगते हैं।" उपन्यास के उद्देश्य के बारे में राहुलजी के शब्द हैं-"अंत में मनुष्य अवश्य अपने ध्येय पर पहुंचेगा। वह ध्येय है—समस्त मानवों की समता, परस्पर प्रेम और सार्वत्रिक सुख-समृद्धि।" उपन्यास का नायक मज्दक एक ऐतिहासिक व्यक्ति था।

कालिंपोङ् पहुंचने के कुछ ही दिन बाद राहुलजी को पता चला कि भारतीय संविधान के मसौदे के अनुवाद के लिए राष्ट्रपति ने जो समिति बनाई है उसमें उनका भी नाम है। इसका मतलब था, इस काम के लिए कालिंपोङ् से दिल्ली की यात्रा करना। पहली यात्रा अप्रैल के चौथे समाप्त में हुई—बागडोगरा से कलकत्ता और कलकत्ता से दिल्ली विमान से गये। राहुलजी की भारत में यह पहली विमान-यात्रा थी। वैसे, अपने जीवन की पहली विमान-यात्रा उन्होंने 1945 में तेहरान से मास्को तक की थी।

दिल्ली की गर्मी से राहुलजी का परेशान होना स्वाभाविक था। दिल्ली में एक सप्ताह रहकर विमान से ही बागडोगरा-कालिंपोङ् वापस लौटे।

राहुलजी अब "मधुर स्वप्न" लिखने में जुट गये। "प्रत्यक्ष-शारीर" (अनाटमी) की परिभाषाओं का काम पूरा हो गया था, और अब दूसरे कामों में हाथ लगा दिया गया था। मई (49) के चौथे सप्ताह में वे दुबारा दिल्ली गये, और 9 जून को कालिंपोङ् वापस लौटे।

कालिंपोङ् पहुंचे डेढ़ महीना हो गया था। पहले से जमा की गयी परिभाषाओं को लिखने का काम पूरा हो चुका था। अब नयी जमा होने वाली परिभाषाओं को लिखने के लिए एक ही सहायक की आवश्यकता थी। लड़के-लड़कियों का प्रबंध कालिंपोङ् के राहुलजी के एक परिचित अध्यापक परमहंस मिश्र ने किया था। लिखते हैं-"मैंने उनसे कहा कि कोई सबसे चतुर लिखने-समझने वाले लड़के या लड़की को भेजें। काम किये हुए लड़कियों में कमला परियार भी थी। परमहंसजी ने उसकी ही सिफारिश की और वह 14 जून (49) से आकर काम करने लगी।"

"मधुर स्वप्न" की लिखाई चल रही थी। 15 जून से "घुमक्कड़-शास्त्र" भी लिखना शुरू कर दिया। बीच-बीच में "आज की राजनीति" की भी लिखाई चल रही थी।

तिब्बती के रूसी विद्वान डा. जॉर्ज रोयरिक उन दिनों कालिंपोङ् में ही थे। तय हुआ कि दोनों मिलकर धर्मकीर्ति के महान ग्रंथ "प्रमाणवार्तिक" का अंग्रेजी में अनुवाद करेंगे—डा. रोयरिक तिब्बती अनुवाद से अंग्रेजी में करेंगे और बाद में राहुलजी संस्कृत से उसका मिलान करेंगे। मगर एक परिच्छेद का अनुवाद होने के बाद उस समय काम आगे नहीं बढ़ सका।

राहुलजी ने 15 दिन में ही "घुमक्कड़-शास्त्र" पुस्तक पूरी कर दी। पुस्तक के प्रयोजन के बारे में वे लिखते हैं-" घुमक्कड़ी का अंकुर पैदा करना इस शास्त्र का काम नहीं, बल्कि जन्मजात अंकुरों की पुष्टि, परिवर्धन तथा मार्ग-प्रदर्शन इस ग्रंथ का लक्ष्य है।"

पहले राहुलजी ने सोचा था कि धर्मोदय विहार में रहते हुए वे कालिंपोङ् में अपने लिए एक निवास खरीद लेंगे। लेकिन बाद में यह विचार उन्होंने त्याग दिया, और किराए पर ही कोई बंगला ले लेने का निश्चय किया। कुछ दिन खोजते रहने के बाद उन्होंने "पार्वती" नामक दूर के एक बंगले को पसंद किया और सामान बांध-बूंधकर अपने तीन साथियों सहित 3 जुलाई (49) को वहां पहुंच गये।

राहुलजी को जुलाई के तीसरे सप्ताह में तीसरी बार कालिंपोङ् से दिल्ली जाना पड़ा। इस बार ट्रेन से लौटते वक्त प्रयाग उतरे और वहां कोशों के प्रकाशन का कामकाज देखा। ट्रेन से ही कालिंपोङ् वापस आये।

राहुलजी अब आगे एक नयी जिम्मेदारी को स्वीकार करने जा रहे थे। लिखते हैं- "एक दिन बारिश में कमला बहुत भीग गई, इसलिए 18 अगस्त (49) से उन्हें भी यहीं रहने का इंतजाम करके परीक्षा की तैयारी करने के लिए कह दिया।... कमला अब बहुत नजदीक आ गई थी।" वस्तुत: अब यह राहुलजी की नयी "गृहस्थी" की शुरुआत थी। निस्संदेह, राहुलजी को अब एक स्थायी साथी की आवश्यकता थी।

राहुलजी दिसंबर (49) के तीसरे सप्ताह तक कालिंपोङ् में रहे। तब तक उन्होंने दिल्ली के दो और चक्कर लगाये, प्रयाग भी गये। अब के दिसंबर के चौथे सप्ताह में हिंदी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हैदराबाद में होने जा रहा था, पं. चंद्रबलि पांडे सम्मेलन के सभापति चुने गये थे। राहुलजी को आग्रहपूर्वक बुलाया गया था, सम्मेलन की ओर से उन्हें "साहित्य वाचस्पति" की उपाधि मिलने वाली थी।

राहुलजी ने दार्जिलिङ् की यात्रा की, "दोर्जेलिङ्-परिचय" लिखना शुरू कर दिया, और कमला परियार को साथ लेकर 21 दिसंबर को हैदराबाद के लिए रवाना हो गये। कलकत्ता और वर्धा होते हुए वे 24 दिसंबर को हैदराबद पहुंच गये। उसी समय पहली बार मैंने राहुलजी को देखा और आगे के तेरह दिन दूर-दूर से उनकी गतिविधियों का प्रत्यक्षदर्शी रहा। सम्मेलन में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र,

पं. रविशंकर शुक्ल, आचार्य नरेंद्रदेव, प्रो. रंजन, डा. उदयनारायण तिवारी, आनंदजी, पं. वाचस्पति पाठक, आदि अनेक हिंदी-सेवी उपस्थित थे।

हैदराबाद सम्मेलन अच्छी तरह सम्पन्न हुआ। हैदराबाद के और आसपास के ऐतिहासिक स्थलों को दिखाने की भी व्यवस्था की गयी थी। राहुलजी के दल के साथ हमने भी म्यूजियम, उस्मानिया विश्वविद्यालय और गोलकुंडा का किला देखा। फिर एक काफी बड़ा दल, जिसमें राहुलजी भी थे, ट्रेन से औरंगाबाद पहुंचा। वहीं से बस की व्यवस्था करके पहले वेरूळ (एलोरा) की यात्रा हुई, तदनंतर अजिंठा (अजंता) की। लौटते वक्त दौलताबाद (देवगिरि) के किले को भी देखा। जैसा कि राहुलजी ने स्वयं लिखा है—उन्हें "अपनी सारी मंडली का ऑनरेरी पथ-प्रदर्शक बनना पड़ा।"

औरंगाबाद से मनमाड़ पहुंचकर आगे वर्धा की गाड़ी पकड़ी तो बीच में ही नये साल (1950) का सूर्योदय हुआ। इधर कुछ वर्षों से राहुलजी साल के अंत में हिसाब जोड़ने लग गये थे कि उस साल कितना लेखन-कार्य हुआ। सन 1949 की उपलब्धियां थीं: "बौद्ध संस्कृति", 'घुमक्कड़-शास्त्र', "आज की राजनीति" और परिभाषा-कार्य। दूसरी और तीसरी पुस्तक प्रकाशित भी हो गयी थी। "मधुर स्वप्न" और "दोर्जेलिङ्-परिचय" के भी अधिकांश अध्याय लिखे जा चुके थे। संविधान के अनुवाद का भी काम हुआ था।

उस साल की एक और उपलब्धि रही—नयी गृहस्थी, जिसके लिए राहुलजी को अब एक स्थायी नीड़ की व्यवस्था करनी थी। कलकत्ता के सेठ परमानंद पोद्दार ने अपने प्रकाशन संस्थान "आधुनिक पुस्तक भवन" से राहुलजी की पुस्तकें छापने के बदले उन्हें 25 हजार रुपए पेशगी देने का करार किया था। उन्हीं पैसों से राहुलजी अब अपने लिए एक घर खरीदना चाहते थे।

नयी गृहस्थी बसाने जा रहे थे, इसलिए आय-व्यय की चिंता होना भी स्वाभाविक था। मार्च 1949 में समाप्त होने वाले साल की रायल्टी का उनके प्रयाग के प्रकाशक ने हिसाब दिया था—5206 रुपए 9 आने। लिखते हैं—"इतने दिनों के तजुर्बे ने यह बतला दिया था कि पांच सौ रुपए मासिक या छ: हजार वार्षिक से कम में खर्च चलाना हमारे लिए मुश्किल है। जब केवल घुमक्कड़ी करता, तब अकिंचन रहते भी जीवनयात्रा करने में कोई दिक्कत नहीं हुई, लेकिन अब तो स्थायी नीड़ ढूंढने में न सफल होते भी अस्थायी मकान तो बांध ही रहे थे। इसलिए अब खर्च स्थायी था।"

नये साल के पहले दिन राहुलजी वर्धा उतरे और वहां राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में दो दिन रहे। हैदराबाद सम्मेलन में और अजंता-एलोरा की यात्रा में राहुलजी को मैंने दूर-दूर से ही देखा था, यहां वर्धा में उन्हें निकट से देखने-सुनने का अवसर मिला।

वर्धा की राष्ट्रभाषा समिति अब एक काफी बड़ी संस्था थी। उसके पास 13 एकड़ जमीन और उसमें कई भवन थे। समिति का सालाना बजट छह लाख रुपए पर पहुंच गया था। स्वयं राहुलजी लिखते हैं—"भाड़े की एक दरिद्र कोठरी से आरंभ होकर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आज एक विशाल संस्था बन गयी थी। 'हिंदी नगर' सचमुच

ही एक नगर सा जान पड़ता था। उसके कार्यकर्ताओं का जाल सारे भारत में फैला हुआ था। ... समिति की इतनी उन्नति में आनंदजी का सबसे बड़ा हाथ था, इसमें शक नहीं।''

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का मुख्य कार्य था—अहिंदी प्रदेशों में हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार करना। परीक्षाएं ली जाती थीं, बीस-बीस, तीस-तीस हजार की संख्या में पाठ्य-पुस्तकों के संस्करण छपते थे। समिति बड़ी सफलता से अपना काम कर रही थी, यद्यपि प्रयाग सम्मेलन से जुड़े कुछ लोगों को समिति की यह आर्थिक सफलता अखर भी रही थी।

आनंदजी से बातचीत करके राहुलजी ने समिति के लिए साहित्य-निर्माण की एक नयी योजना तैयार करके दी, जिसके अंतर्गत देशी-विदेशी भाषाओं के कोश, स्वयं-शिक्षक तथा अनुवाद प्रस्तुत करने थे। वस्तुत: समिति ऐसी साहित्यिक योजना को हाथ में लेने में समर्थ नहीं थी, इसलिए बाद में इसके सुखद परिणाम नहीं निकले।

राहुलजी वर्धा से प्रयाग पहुंचे। इस बार दुकेले थे, माचवेजी के घर ठहरे। ''दोर्जेलिङ्-परिचय'' की लिखाई शुरू हो गयी, और मिलना-जुलना भी जारी रहा। माचवे-दम्पति के साथ निरालाजी को देखने गये। लिखते हैं-''प्रयाग में आने पर निरालाजी से थोड़ी देर के लिए भी मिल लेना मैं बड़े सौभाग्य की बात समझता हूं।''

उसी दौरान अनुवाद समिति के काम से दो बार दिल्ली जाना हुआ। पहली बार अकेले गये, कमला को माचवे-परिवार के साथ छोड़ा। दुबारा दिल्ली दिखाने उन्हें भी साथ ले गये, मथुरा-वृंदावन, आगरा और कानपुर की भी यात्रा हुई। जनवरी (1950) के अंत में कमला सहित राहुलजी पुन: प्रयाग में माचवे-परिवार के साथ थे।

अब उन्हें कहीं पहाड़ पर एक घर की तलाश थी। कालिंपोङ् जाकर सामान भी ले आना था। अब उनका जीवन एक नया मोड़ लेने जा रहा था। 57 साल की उम्र के शरीर पर अब डायबेटीज की बीमारी भी अपना असर दिखाने जा रही थी। उनके शरीर में ही नहीं, उनकी सोच में भी अब थोड़ा-बहुत बदलाव आना स्वाभाविक था।

नीड़ की खोज

कालिंपोङ् से राहुलजी का मन भर गया था, अब उन्हें वहां नहीं रहना था। मगर वहां से सामान ले आना था, भट्ट और सेनगुप्त को भी। अपनी विशिष्ट शैली में लिखते हैं–"कालिंपोङ् से डंड-कमंडल लेकर चला आना था, इसलिए कमला को कालिंपोङ् ले जाने की जरूरत नहीं थी।"

राहुलजी कलकत्ता होते हुए आगे विमान से बागडोगरा और फिर टैक्सी से कालिंपोङ् पहुंचे। भट्ट और सेनगुप्त मजे में थे। राहुलजी को कालिंपोङ् में तेरह दिन रहना था। सामान समेटना था, "दोर्जेलिङ्-परिचय" के लिए जानकारी भी जुटानी थी। राहुलजी सेनगुप्त को साथ लेकर मंग्पू गये, जहां सिन्कोना के पेड़ों की छाल से कुनैन बनाने का कारखाना था। वे गंतोक भी गये। वहां के तत्कालीन पोलिटिकल अफसर से मिलने का उनका अनुभव बड़ा कटु रहा। ऐसी स्थिति में राहुलजी बड़े ही तीखे शब्दों का प्रयोग करते थे। उस आई.सी.एस. अफसर के बारे में उन्होंने लिखा कि, "वह सिर्फ चमड़े के ही भारतीय थे।" पुलिस ने आगंतुक-पुस्तिका में लिखने को कहा, तो लिख दिया: "अंधं तम:" (घोर अंधेर)।

कालिंपोङ् में राहुलजी का निवास कुल दस महीने रहा था। 'डंड-कमंडल' उठाकर लाने के लिए कालिंपोङ् पहुंचे। राहुलजी ने सारा सामान पैक करवाया तो 1 बक्सा और 8 ट्रंकों का कुल वजन 17 मन था। सिलिगुड़ी पहुंचे। आगे प्रयाग तक भट्ट और सेनगुप्त रेलयात्रा के साथी थे। कटिहार में कुछ घंटे बिताकर दूसरी गाड़ी पकड़नी थी, इसलिए वहां के भावंडियाजी के घर चले गये। स्नान-भोजन करके स्टेशन वापस लौटे तो अचानक भट्ट की तबीयत बिगड़ गयी। उन्हें लकवा मार गया। उन्हें वापस अस्पताल ले जाना पड़ा। होश आने पर दूसरे दिन फिर ट्रेन पकड़ी और वे किसी तरह डा. भट्ट को प्रयाग ले आये। प्रयाग के मित्रों को तार भेज दिया गया था। स्टेशन पर एम्बुलेंस कार तैयार थी। भट्ट को सबसे पहले अस्पताल पहुंचाकर उनके इलाज की व्यवस्था कर दी गयी।

अब राहुलजी को अपनी नयी गृहस्थी के लिए निवास की व्यवस्था करनी थी। मार्च (50) शुरू हो गया था, इसलिए जल्दी ही किसी पर्वतीय स्थान को निश्चित करना था। पिछले कुछ महीनों से रामगढ़ (कुमाऊँ) के, बिना बिजली के, एक मकान को लेने के बारे में सोचा जा रहा था। इसलिए आठ-नौ मन सामान बांधकर और गृहिणी को साथ लेकर राहुलजी 8 मार्च को प्रयाग से रामगढ़ के लिए रवाना हुए।

काठगोदाम से बस लेकर आगे भवाली और फिर रामगढ़ (ऊंचाई करीब 2000 मीटर) पहुंच गये। कुलियों से सामान उठवाया और उस बंगले पर पहुंच गये जिसके बारे में बातचीत हुई थी। बताते हैं–"बंगला बुरा नहीं था, लेकिन उसमें पाखाने तक का प्रबंध नहीं था।... एक आंख देखते ही पता लग गया कि यहां हमारा रहना संभव नहीं है। यह ख्याल करके हमने कुलियों को मजूरी नहीं दी, और कल फिर सामान लेकर मोटर के अड्डे पर पहुंचने के लिए कह दिया।" और, यह भी सूचित कर दिया कि, "कल हम नैनीताल चल देंगे।"

दूसरे दिन, 10 मार्च को, राहुलजी बस से नैनीताल पहुंचे और वहां एक होटल में ठहरे। उन दिनों डा. सत्यकेतु विद्यालंकार नैनीताल में ही थे। मसूरी में उनका एक होटल था, यहां नैनीताल में भी एक बड़े होटल को खरीदने के ख्याल से आये थे। उन्होंने राहुलजी के लिए मकान खोजने में मदद की। आगे चार दिन तक नैनीताल के कई बंगले देखे। अंत में "ओक लॉज" बंगले को किराए पर तय किया, और होटल से सामान उठवाकर वहां पहुंच गये। अगले दिन 16 मार्च को, किताबों के बक्से खोले और गृहस्थी सजाई। आगे तीन महीने नैनीताल के "ओक लॉज" में ही राहुलजी का निवास रहा।

सैलानी लोग छुट्टियां बिताने पहाड़ पर जाते हैं। राहुलजी को न केवल गर्मियों से बचना था, बल्कि पहाड़ पर रहकर खूब काम भी करना था। और, अब तो उन्होंने पहाड़ में स्थायी निवास ही बनाने का निश्चय कर लिया था। नैनीताल में स्थिर होते ही लेखन-कार्य में जुट गये। सबसे पहले "दोर्जेलिङ्–परिचय" को पूरा करना था। कुमाऊं क्षेत्र में पहुंच गये थे, इसलिए आसपास के स्थानों की यात्रा करके "कुमाऊं" को भी लिख डालना था।

डा. सत्यकेतु नैनीताल में होटल खरीदने में सफल नहीं हुए, इसलिए मसूरी वापस जा रहे थे। उन्होंने राहुलजी को बताया कि मसूरी में भी अच्छे बंगले मिल सकते हैं। अब राहुलजी भी मसूरी जाने के बारे में सोचने लगे। डायरी में लिखा–"मसूरी भी बुरी नहीं है ... वहां किन्नर के नजदीक भी पहुंच जाएंगे।" मगर फिलहाल कुछ महीने तो नैनीताल में ही रहना था, मकान का किराया दे चुके थे।

अब आर्थिक चिंता भी राहुलजी की संगिनी बनने जा रही थी। लिखते हैं– "आर्थिक स्थिति का पता अब हमें मालूम होने लगा था, क्योंकि 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम' की वृत्ति पर गुजारा नहीं हो सकता था। एक जगह घर बनाकर रहना था, जिसका खर्च निश्चित था, इसलिए आमदनी भी निश्चित होनी चाहिए। उस समय हमारे पास चार सौ रुपए थे और बैंक में 23 सौ। हमें ढाई सौ रुपए मासिक में अपना काम चलाना होगा, लेकिन पीछे की कोशिशों ने बतलाया कि यह संभव नहीं है।" कलकत्ता के प्रकाशक से जो 25 हजार अग्रिम मिलने वाले थे, वे मकान खरीदने के लिए थे।

नैनीताल के जिस "ओक लॉज" में राहुलजी का निवास था, उसके दूसरे हिस्से में रहने वाले एक परिवार में रामन माई नाम की करीब 80 साल की एक बुढ़िया

थी। उसका अधिकांश जीवन मुजफ्फरनगर और मेरठ जिलों में गुजरा था। गांवों में रही थी, अनपढ़ थी, मगर काफी मुखर थी। राहुलजी को ख्याल आया—रामन माई से कौरवी बोली के गीतों और कहानियों को क्यों न इकट्ठा किया जाये? कुरुक्षेत्र की कौरवी बोली का ही साहित्यिक रूप हिंदी है—राहुलजी की मान्यता थी।

राहुलजी ने रामन माई से सुनकर पहली कहानी 4 अप्रैल (50) को लिखी। फिर जल्दी ही शेष कहानियां भी लिख डालीं, गीत भी। राहुलजी बताते हैं-"यद्यपि रामन माई के बुढ़ापे की स्मृति के कारण कितनी कहानियां और गीतें पूरी नहीं थीं, और सभी कहानियां साहित्यिक दृष्टि से बहुत ऊंची नहीं थीं, तो भी विशेषता यह थी कि ये सभी कहानियां एक व्यक्ति के मुंह से निकली थीं, एक ही भाषा में थीं, जो आज से 70 वर्ष पहले (1880 ई. के आसपास) बोली जाती थी।"

वे कौरवी कहानियां और गीत उसी साल "आदि-हिंदी की कहानियां और गीतें" पुस्तक के रूप में छप गयी। नैनीताल में ही 9 अप्रैल (50) को राहुलजी का 57 वां वर्ष पूरा हुआ, और 58 वें वर्ष में उन्होंने प्रवेश किया।

प्रयाग में सेनगुप्त और विद्यानिवास मिश्र परिभाषाओं का काम कर रहे थे, मगर सम्मेलन की भीतरी दलबंदी के कारण अब उसमें बाधाएं उत्पन्न हो गयी थीं। राहुलजी ने सम्मेलन का हिसाब करके बाकी रुपया वापस कर दिया और काम से अपने को लगभग अलग कर लिया। डा. भट्ट की उन्हें बड़ी चिंता थी। आर्थिक कठिनाई के बावजूद भट्ट अस्पताल छोड़कर प्रयाग में कहीं अन्यत्र रहने चले गये थे।

राहुलजी अब कुमाऊं में थे। उन्होंने कुमाऊं के बारे में पुस्तकें जमा कीं, उन्हें पढ़ा और पुस्तक का कुछ अंश भी लिखा डाला था। लेकिन अब आगे लिखने के पहले कुमाऊं के कुछ महत्वपूर्ण स्थानों को देख लेने का राहुलजी ने निश्चय किया। माचवेजी सपरिवार नैनीताल पहुंच गये थे। वे कुमाऊं यात्रा में राहुलजी के सहयात्री बनने के लिए तैयार हो गये।

राहुलजी और माचवेजी, दोनों की कुमाऊं-यात्रा 24 मई को शुरू हुई और 3 जून को समाप्त। पहला पड़ाव भवाली में रहा। वहां के प्रसिद्ध सेनीटोरियम को अच्छी तरह देखने का मौका मिला। वहां से अलमोड़ा पहुंचने पर यशपालजी तथा अन्य कुछ मित्रों से भेंट हुई। फिर कटारमल गये, जहां कुमाऊं के कई पुराने मंदिर हैं। राहुलजी ने वहां बूटधारी सूर्य की मूर्तियां देखीं। आगे बैजनाथ की ओर जाते हुए कौसानी में उस घर को भी देखा जहां कविवर सुमित्रानंदन पंत पैदा हुए थे।

कुमाऊं की पुरानी राजधानी बैजनाथ पहुंचकर वहां के कई मंदिरों-मूर्त्तियों को देखा। राहुलजी ने कुछ दिन पहले बढ़िया रोलैफ्लैक्स कैमरा खरीदा था, इसलिए फोटो भी खूब लिये जा रहे थे। बैजनाथ से दोनों यात्री बागेश्वर गये, द्वाराहाट भी। लौटते वक्त रानीखेत में भी रुके। दस दिन बाद नैनीताल वापस लौटे। सैलानियों का मौसम शुरू हो गया था। नैनीताल में डा. गोरख प्रसाद, डा. अमरनाथ झा, पं. वाचस्पति पाठक आदि मित्रों से भेंट हुई। धूपनाथजी और उनके भतीजे वीरेंद्र कुमार भी आ गये थे।



भिक्षु राहुल सांकृत्यायन क्योतो नगर में जापानी मित्र-मंडली के बीच (अगस्त 1935)।
ब्लैकबोर्ड पर राहुलजी के हस्ताक्षरों में लेख है: 'सब्ब दानं धम्म दानं जिनति' - राहुल सां.



भिक्षु राहुल मंचूरिया के मुकदन् शहर के हिगाशी बौद्ध मंदिर में (अगस्त 1935)



भिक्षु राहुल कोरिया के कोङ् गो-सान् पर्वत-शिखरों के बीच (अगस्त 1935)



महाकवि निराला के साथ महापंडित राहुल (इलाहाबाद, 27 दिसंबर 1955)



''मध्य-एशिया के इतिहास'' के लिए जवाहरलाल नेहरू से साहित्य अकादेमी का पुरस्कार ग्रहण करते हुए राहुलजी (1958) (फोटो : वीरेन्द्र कुमार)



चारार्थ मास्को के लिए रवाना होते समय राहुलजी (1961)

(फोटो : महेन्द्र आचार्य के सौजन्य से)



राहुलजी, आनंदजी, काश्यपजी, शांति भिक्षु शास्त्री और नागार्जुन के बौद्ध-दीक्षागुरु नायकपाद धम्मानंद महास्थविर (श्रीलंका)

वीरेंद्र कुमार ने कहा–'मैं अपनी प्रकाशन संस्था का नाम "राहुल पुस्तक-प्रतिष्ठान" रखना चाहता हूं।' धूपनाथजी के परिवार के लिए इनकार कर सकना राहुलजी के लिए संभव नहीं था। राहुल पुस्तक-प्रतिष्ठान (पटना) से राहुलजी की चार पुस्तकें छपीं।

डा. सत्यकेतु से राहुलजी को मसूरी के बिकाऊ मकानों के बारे में सूचनाएं मिल रही थीं। कलकत्ता के प्रकाशक ने 25 हजार की अग्रिम राशि में से दस हजार भेज दिये थे, बाकी भी जल्दी आनेवाले थे इसलिए राहुलजी ने सोचा कि मसूरी जाकर अब किसी मकान को पक्का कर लिया जाए। 17 जून को अकेले ही नैनीताल से चले। उसी दिन धूपनाथ और माचवे-परिवार ने भी नैनीताल छोड़ा।

मसूरी पहुंचकर डा. सत्यकेतु के सहयोग से वहां कई मकान देखे। अंत में 'हैपी वेली' का 'हर्न क्लिफ' नामक बंगला पसंद किया। टेहरी रानी की सम्पत्ति थी, साढ़े सोलह हजार रुपयों में सौदा हुआ। नजदीक ही विशाल "बिड़ला भवन" था। उस दिन डायरी में राहुलजी ने अपने 'हर्न क्लिफ' का नाम "मार्क्स भवन" लिख दिया। मगर उन के लंबे निवास-काल में उस बंगले का नाम आगे भी 'हर्न क्लिफ' ही कायम रहा।

अब राहुलजी को नैनीताल लौटकर अपनी गृहस्थी मसूरी में स्थानांतरित करनी थी। नैनीताल पहुंचने पर पता चला कि प्रकाशक ने बाकी 15 हजार रुपए भी भेज दिये हैं। बिखरी किताबें फिर बक्सों में बंधने लगीं, सामान पैक होने लगा। ट्रेन और बस की यात्रा करके राहुलजी अपने सारे सामान सहित 11 जुलाई (1950) को मसूरी के अपने नये निवास 'हर्न क्लिफ' में पहुंच गये। आगे करीब पौने आठ साल तक राहुल-परिवार का स्थायी निवास "हर्न क्लिफ" में ही रहा।

नये मकान के साथ कई नये काम अनिवार्यत: ही जुड़ जाते हैं: मकान को ठीक-ठाक करना, पुरानी चीजों की मरम्मत करवाना, सामान सजाना, गृहस्थी की नयी चीजें खरीदना, इत्यादि। यह सब करते समय राहुलजी को अपनी घुमक्कड़ी के निस्पृह जीवन के वे दिन याद आने लगे जब वे सचमुच ही सिर्फ दंड-कमंडल के धनी थे। किसी समय उनकी साध थी—अपना सारा सामान अपनी पीठ पर रखकर घूमना।

फिर सोचते हैं–"लेकिन, यह क्या उस समय सोचने की बात थी, जब कि मैं घर बांध चुका था, और कोई कहे, 'न गृहं गृहमित्याहु: गृहिणी गृहमुच्यते' तो गृहिणी भी गृह के साथ आ गयी थी। कमला के साथ परिचय और घनिष्टता दूसरी स्थिति और दूसरे उद्देश्यों से हुई थी। पर, वह घनिष्टता अब दूसरे रूप में परिणत होने वाली थी।... आखिर कमला और मेरे साथ रहने को समाज किस अर्थ में ले रहा था, इसकी यदि मुझे पर्वाह नहीं थी, तो यह तो देखना ही था कि दूसरों की टीका-टिप्पणियों का कमला के ऊपर क्या असर होगा। यह सब देखते घुमक्कड़ी का ख्वाब अब बिल्कुल बेकार की बात थी।"

मसूरी के लंबे निवास-काल में वहां के दो परिवारों से राहुलजी का शुरू से ही विशेष लगाव रहा। उनमें एक था, डा. सत्यकेतु विद्यालंकार का परिवार। इतिहास की

कई पाठय-पुस्तकों के लेखक डा. सत्यकेतु गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक और पेरिस यूनिवर्सिटी के डी. लिट्. थे। उनकी पत्नी सुशीला देवी शास्त्री एक विदुषी महिला थी। डाक्टर साहब इतिहास की पुस्तकें लिखते जा रहे थे, और मसूरी में 'लक्समौंट' में वे होटल भी चला रहे थे!

दूसरा परिवार मसूरी के लंढौर बाजार में किशनसिंह का था। राहुल जी 1943 में उत्तराखंड की अपनी यात्रा के बाद मसूरी पहुंचे थे, तो किशनसिंह ने लंढौर बाजार की अपनी छोटी सी दुकान और निवास की कुटिया दिखाकर उनसे कहा था– "तकलीफ तो होगी, लेकिन यह कुटिया हाजिर है।" राहुलजी किशनसिंह की कुटिया में ही ठहरे थे। वह मूलत: कनौर के एक गांव के थे, तिब्बत कई बार गये थे और वहां की भाषा को मातृभाषा की तरह बोलते थे। अब मसूरी में छोटी-मोटी चीजों की उनकी एक दूकान थी। पत्नी थी, बच्चे थे। किसी तरह गुजारा चल रहा था।

कहां पेरिस-रिटर्न डा. सत्यकेतु विद्यालंकार और कहां कनौर का अनपढ़ किशनसिंह! मगर राहुलजी को किशनसिंह से कुछ विशेष ही लगाव था। उन्होंने लिखा भी है– "मसूरी में उन्हें मैंने सदा अपने स्वजन बंधु-सा पाया।"

मसूरी-निवास के आरंभिक दिनों में ही एक और व्यक्ति से राहुलजी के घनिष्ट संबंध स्थापित हुए। वे थे—अमृतसर के स्वामी हरिशरणानंद। कानपुर में उनका जन्म हुआ था, 1890 ई. के आसपास। बचपन में ही माता-पिता गुजर गये। साधुओं के सम्पर्क में आये। सालों घुमक्कड़ी की, मानसरोवर और हिमालय के अन्य अनेक कठिन स्थानों की यात्राएं कीं। योग-साधना भी की। उससे मन उचड़ गया, तो वैद्यक का अध्ययन किया, आयुर्वेद की पुस्तकों की खोज में जुट गये। अमृतसर पहुंचकर वैद्यक का पेशा शुरू कर दिया और फिर अपनी 'पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी' स्थापित की। लखपति बन गये। विवाह कर लिया था। व्यावहारिक थे, मगर धर्म और भगवान पर विश्वास नहीं था।

राहुलजी से हरिशरणानंदजी की पहली विस्तृत भेंट-बातचीत 7 अगस्त, 1950 को, यानी मसूरी में पहुंचने के करीब चार सप्ताह बाद हुई। राहुलजी लिखते हैं–वह "मेरे लिए बहुत ही स्मरणीय दिवस था। उसी दिन मुझे जन्म-जन्म के बिछड़े मित्र की तरह एक बंधु से साक्षात्कार करने का मौका मिला।... इसके बाद तो हमारी घनिष्टता दिन पर दिन बढ़ती गयी। मैं उन्हें भैया कहने लगा।" राहुलजी ने 1956 ई. में "घुमक्कड़ स्वामी" के नाम से स्वामी हरिशरणानंद की जीवनी लिखी।

अब मित्रों-परिचितों को पता चलने लगा था कि राहुलजी का निवास मसूरी में है। एक दिन 1917 के आर्यसमाज-प्रचारक-साथी मास्टर विश्वम्भर दयाल मिलने आये, तो राहुलजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ दिन बाद विद्यार्थी-जीवन के दिनों के परिचित और प्रेरक पं. नरदेव शास्त्री मिलने आये। आगे सितंबर में गढ़वाल की कला और संस्कृति के पारखी बैरिस्टर मुकुंदीलालजी मिलने आये, तो राहुलजी को लगा जैसे जायसवालजी से भेंट हुई है। जायसवालजी की तरह मुकुंदीलालजी भी

ऑक्सफोर्ड के स्नातक और बैरिस्टर थे। दोनों का घनिष्ट परिचय भी था। राहुलजी ने अपना "गढ़वाल" ग्रंथ बै. मुकुंदीलाल को ही समर्पित किया है।

मसूरी के पहले राहुलजी का कोई स्थायी निवास नहीं था। तब वे उन्हें मिलने वाली पुस्तकों का क्या करते थे? अधिकतर बांट देते थे। मगर संस्कृत तथा पालि की अपनी पुस्तकें और इतिहास-पुरातत्व से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ उन्होंने बिहार रिसर्च सोसायटी (पटना) के पुस्तकालय में रख छोड़े थे। अब स्थायी निवास था, इसलिए पटना से उन पुस्तकों को मंगा लिया। प्रकाशक-मित्रों से नयी पुस्तकें भी मिलने लगीं। लेखक के उपयोग का एक अच्छा संग्रह तैयार हो गया, जो बाद में "राहुल संग्रहालय" (दार्जिलिङ्) बना। राहुलजी जानते थे, और उन्होंने लिखा भी है, कि "लेखनी पुस्तिका नारी, परहस्तगता गता", अत: उसके लिए भी उन्होंने गुंजाइश रख छोड़ी थी।

राहुलजी स्वार्थी राजनेताओं, धन्नासेठों और मठाधीश-धर्माचार्यों के लिए तीखे शब्दों का इस्तेमाल करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। मगर अपने समानधर्मा लेखक-बंधुओं के लिए, वैचारिक मतभेद होने पर भी, प्राय: मृदु शब्द ही प्रयोग में लाते थे। जब राहुलजी की "वोल्गा से गंगा" पुस्तक छपी (1942), तो डा. भगवतशरण उपाध्याय ने दावा किया कि इस तरह की कुछ कहानियां सर्वप्रथम उन्होंने ही लिखी थीं। उन दिनों साहित्य जगत में इस बात की काफी चर्चा रही। राहुलजी ने सिर्फ इतना लिखा कि वे 1933 से ही इस तरह की एक इतिहास-कथा-पुस्तक लिखने की योजना बना चुके थे, और "सारे काल को लेकर उन्होंने (भगवतशरणजी ने) एक पुस्तक लिख डाली होती, तो शायद मैं इस काम में हाथ भी नहीं लगाता।"

इतना ही नहीं, राहुलजी को भगवतशरणजी से बड़ा स्नेह था, उनकी विद्वत्ता के वे प्रशंसक थे और एक से अधिक अवसरों पर वे उनके लिए मददगार भी बने थे। बाद में जब राहुलजी को "हिंदी विश्वकोश" का प्रधान संपादक बनाने की बात चली तो उन्होंने भगवतशरणजी को अपना प्रमुख सहयोगी बनाना आवश्यक समझा था। मगर भगवतशरणजी शायद कुछ दूसरी ही कामना रखते थे।

अंतत: राहुलजी प्रधान संपादक नहीं बन पाये। इससे राहुलजी को कितनी पीड़ा पहुंची, उनका तन, मन और जीवन कितना प्रभावित हुआ, इसे उनके निकट के कुछ ही लोग अच्छी तरह जानते हैं।

उपर्युक्त घटना 1956-57 की है। राहुलजी ने 9 अप्रैल, 1956 के आगे की अपनी "जीवन-यात्रा" को लिपिबद्ध नहीं किया, चाहते भी नहीं थे। अब अपनी डायरियों को "जीवन-यात्रा" के पन्नों में प्रस्तुत करना उनके लिए पहले-जैसा सहज प्रयास नहीं था।

मसूरी-निवास के कालखंड की "जीवन-यात्रा" को भी वे बड़ी मुश्किल से ही लिख पाये थे, 1956 ई. में। उसे अपने जीवन-काल में प्रकाशित देखने के लिए वे विशेष उत्सुक भी नहीं थे (वह "जीवन-यात्रा", दो भागों में राहुलजी के देहांत के

चार साल बाद, 1967 ई. में प्रकाशित हुई)। वजह शायद यह थी कि उसमें, न चाहने पर भी, उन्हें कुछ अप्रिय बातें लिखनी पड़ी थीं।

एक अप्रिय बात थी— डा. रामविलास शर्मा के झूठे आरोप, जिनसे राहुलजी को गहरी मानसिक पीड़ा पहुंची थी। रामविलासजी ने, उस समय के उनके सामाजिक-राजनीतिक नजरिये के अनुरूप, दिल्ली के साप्ताहिक "नवयुग" में कुछ लेख लिखकर यह सिद्ध करने की कोशिश की कि राहुलजी मार्क्सवादी नहीं, केवल बौद्ध हैं। राहुलजी की टिप्पणी है–"उसमें कुछ सत्य का अंश भी था, लेकिन झूठ का अंश ज्यादा। रामविलासजी उन आदमियों में हैं, जो किसी बात पर तुल जाएं, तो वह किसी हथियार को भी इस्तेमाल करने से बाज नहीं आते।"

डा. रामविलास का दूसरा आरोप ज्यादा जघन्य था। जुलाई 1954 में एक पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख में डा. रामविलास शर्मा ने लिखा कि, सरकार राहुलजी और डा. रघुवीर को लाखों रुपए देकर परिभाषाएं बनवा रही है।

राहुलजी को यह पढ़कर बेहद दुख होना स्वाभाविक था। वे उनकी आर्थिक तंगी के दिन थे और बड़ी ही मितव्ययिता से अपनी गृहस्थी चला रहे थे। तिस पर एक 'मार्क्सवादी' लेखक-बंधु का यह झूठा आरोप! राहुलजी की प्रतिक्रिया है–"इस सफेद झूठ का भी कोई अंत है? ऐसा आदमी कैसे क्रांति का भक्त हो सकता है? मुझे एक प्रतिभाशाली आदमी के इस पतन पर बहुत अफसोस हुआ।... डा. रघुवीर और हमारी परिभाषा-निर्माण-संबंधी नीति में जमीन-आसमान का अंतर है। उनके साथ मेरे नाम को जोड़ना यही बतलाता है कि शर्माजी बहुत निचले तल पर उतर आए हैं।"

मसूरी में साग-सब्जी काफी महंगी थी। "हर्न क्लिफ" में काफी परती जमीन थी। राहुलजी ने उसमें क्यारियां खुदवाईं, खुद भी खोदीं, खाद डलवाई और सब्जियों के बीज मंगवाकर डाले। जीवन में पहली बार बागवानी का तजुर्बा कर रहे थे, ज्यादा सफलता नहीं मिली। साग-सब्जी उगाने का प्रयोग दो-ढाई साल तक चला, मगर लंगूरों और लाल मुंह के बंदरों की पलटन उसे असफल बनाने के लिए समय-समय पर हाजिर हो जाती थी।

हिंदी साहित्य सम्मेलन के परिभाषा-निर्माण के कार्य से राहुलजी ने अपना हाथ खींच लिया था। अब उन्होंने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा) की साहित्य-निर्माण योजना की जिम्मेदारी स्वीकार कर ली थी। 1950 ई. के अंतिम महीनों से ही राहुलजी ने उसकी तैयारी शुरू कर दी। महादेव साहा को मसूरी आने के लिए लिख दिया था। फिर नागार्जुन को भी आने के लिए लिख दिया। डा. सत्यकेतु ने हिंदी में "फ्रेंच स्वयं-शिक्षक" लिखना शुरू कर दिया। एक छोटा हिंदी-कोश तैयार करने की भी योजना बनी।

राहुलजी स्वयं में एक संस्था थे। अथक परिश्रम करते थे। हाथ में लिये गये काम को निर्धारित समय के भीतर पूरा कर डालते थे। मगर दूसरों के लिए ऐसा संभव नहीं

था। समिति की साहित्य-निर्माण की योजना एक सामूहिक काम था। उसमें राहुलजी ने अपनी पसंद के जिन व्यक्तियों को शामिल किया था, वे अपने को तरक्की-पसंद भले ही मानते रहे हों, मगर वे सभी दत्तचित्त होकर काम में जुटे रहने वाले जीव नहीं थे। राहुलजी ने यह भी नहीं सोचा कि वर्धा की समिति मुख्यत: परीक्षाएं लेने वाली हिंदी प्रचार की संस्था है, और परीक्षाएं तथा पाठ्य-पुस्तकें ही उसकी आय का एकमात्र स्रोत है। राहुलजी पहाड़ में और वर्धा की समिति एवं उसका प्रचार-कार्य अहिंदी प्रदेशों में। योजना का असफल होना अवश्यंभावी था, परंतु काफी कटु अनुभव के बाद।

परिभाषाओं की विशेषज्ञ समिति की बैठक में भाग लेने राहुलजी नवंबर (50) में दिल्ली गये। भैया (स्वामी हरिशरणानंद) का आग्रह था, इसलिए उधर से ही अमृतसर चले गये। वहां दो दिन रहकर मसूरी वापस लौट आये। महादेव साहा उसी दिन मंसूरी पहुंच गये थे, जिस दिन राहुलजी दिल्ली के लिए रवाना हुए थे। वे वहां की सर्दी से परेशान थे।

संविधान के संस्कृत अनुवाद के लिए जो समिति बनी थी, उसके राहुलजी भी सदस्य थे। उसके एक अन्य सदस्य डा. पां. वा. काणे वृद्धावस्था के कारण इधर-उधर जाने में असमर्थ थे, इसलिए समिति की बैठक बंबई में बुलाई गयी थी। राहुलजी ने 27 नवंबर को मसूरी से प्रस्थान किया। जाते-आते अक्सर ही देहरादून के अध्यापक पं. गयाप्रसाद शुक्ल के घर उनका मुकाम रहता था। राहुलजी ट्रेन से दिल्ली होते हुए बंबई पहुंच गये। मलाबार हिल पर सेठ घनश्यामदास पोद्दार के घर ठहरे।

राहुलजी "गढ़वाल" पुस्तक लिख रहे थे। उसके लिए "केदारखंड" और कुछ अन्य संस्कृत पुस्तकों की आवश्यकता थी। वेंकटेश्वर प्रेस गये, तो वहां से प्रकाशित बचपन से देखते आये पुस्तकों का स्मरण हो आया। वहां उन्हें जाननेवाले भी मिल गये। प्रेस देखा। "केदारखंड" भी मिल गया।

अगले दिन राहुलजी साप्ताहिक "धर्मयुग" जाकर उसके संपादक डा. हेमचंद्र जोशी से मिले, इलाचंद्रजी भी वहीं थे। उसी दिन राहुलजी साथी डांगे से मिले और रात को एक चीनी फिल्म देखी। आठ दिन पहले जब वे अमृतसर में भैया के घर थे, तो सीढ़ियां उतरते समय गिर पड़े थे, और घुटना छिल गया था। उस समय तो कह दिया कि "कोई बात नहीं", मगर बंबई पहुंचने पर वह छिला भाग घाव बन गया। डाक्टर की शरण में जाकर डायबेटीज के लिए इंसुलिन के और घाव के लिए पेनिसिलीन के इंजेक्शन लेने पड़े। चोट लगना राहुलजी के लिए अब चिंता की बात थी, क्योंकि डायबेटीज के कारण घाव जल्दी ठीक नहीं होता था।

1 से 9 दिसंबर तक रोज अपराह्न में अनुवाद समिति की बैठक होती रही। डा. मंगलदेव शास्त्री, डा. बाबूराम सक्सेना, सुनीति बाबू और डा. काणे उपस्थित थे। बाद में पं. गिरधर शर्मा और श्री बालसुब्रह्मण्यम अय्यर भी आये।

एक दिन राहुलजी बंबई के प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम के क्यूरेटर डा. मोतीचंद्र

से मिलने गये। वे उन्हें नजदीक के एक अच्छे होटल में ले गये, जहां मुर्गमुसल्लम का भोज हुआ। मित्रों के साथ सामिषाहार के ऐसे सुखद अवसरों पर राहुलजी चुटकी लेने से प्राय: नहीं ही चूकते थे। लिखते हैं–"उनके (डा. मोतीचंद्र के) चचा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने समय के समाज से बहुत आगे बढ़े हुए थे, लेकिन मुर्गमुसल्लम का साहस उन्होंने भी कभी नहीं किया होगा। यदि जीते जी यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ, तो श्राद्ध का मुर्गमुसल्लम तो मौजूद था। आओ परमवैष्णव, और नहीं तो 'घ्राणं अर्द्ध भोजनम्' ही सही।"

बंबई से राहुलजी वर्धा गये और वहां राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की साहित्य-योजना के बारे में आनंदजी से बातचीत की, कुछ निर्णय लिये। उन दिनों राहुलजी के पूर्व-परिचित वैजनाथसिंह 'विनोद' वर्धा में ही थे। आगे नागपुर और दिल्ली में गाड़ी बदलने के लिए रुकते हुए 15 दिसंबर (50) को मसूरी वापस लौटे।

घाव की हालत काफी खराब थी, एक तरह से लंगड़े होकर ही लौटे थे। घाव दो-ढाई महीने बना रहा। सबक लिया कि अब आगे नियम से रोज इंसुलिन लेना होगा और यात्रा करने से भी यथासंभव बचना होगा। रात्रि-भोजन को नहीं के बराबर बना दिया। इंसुलिन न लेने पर दिमाग में एक तरह का खुमार-सा बना रहता था। डायबेटीज से अब राहुलजी की शरीर-प्रकृति, दिनचर्या और कार्य-शक्ति काफी प्रभावित होने लगी थी। वे 58 साल के होने जा रहे थे।

साल (1950) के उसी अंतिम माह की एक महत्वपूर्ण घटना है- राहुलजी का विवाह। इस घटना को उन्हीं के सोचे-समझे शब्दों में प्रस्तुत करना बेहतर होगा– "कमला को साथ रहते अब डेढ़ वर्ष से ऊपर हो गया था।... उन्हें मेरे साथ और मुझे उनके साथ रहना था।... स्त्री-पुरुष के ऐसे घनिष्ट संबंध को अनिश्चित स्थिति में रखना ठीक नहीं था। पुरुषों के राज में स्त्रियों के लिए यह स्थिति और भी असह्य थी। इसलिए 18 दिसंबर को हमने निश्चय किया कि दोनों पति-पत्नी बन जाएं।... 23 दिसंबर को उषा-बाबा के साथ डा. सत्यकेतु और शीलाजी 11 बजे आ गये।... महादेव भाई साथ ही थे। 12 बजे के करीब डा. सत्यकेतु पुरोहित बने और हम दोनों का ब्याह हो गया।... यदि मैं इसे न करता, तो वह हद दर्जे की स्वार्थपरता होती, और कमला के साथ भारी अन्याय भी।" .. अगले दिन "24 दिसंबर को परीक्षा (विशारद) देने के लिए कमला देहरादून गयी। वह परीक्षा ही देने के लिए नहीं गयी थीं, बल्कि उन्हें अब कालिंपोङ् भी जाना था, अर्थात् महीने भर बाद ही वह लौट सकती थीं।" महादेव साहा साथ गये।

1950 ई. के अंतिम दिन राहुलजी ने साल-भर का लेखा-जोखा किया–"मधुर स्वप्न" और "दोर्जेलिङ्-परिचय" प्रकाशित हुए। "कुमाऊं" पूरा होकर प्रेस में चला गया। "आदि-हिंदी की कहानियां और गीतें" छप गई। "गढ़वाल" के दो सौ पृष्ठ लिखे गये। राहुलजी को सालभर के अपने काम से संतोष था।

समिति की साहित्य-योजना

सन 1951 का नया साल प्रारंभ हुआ, तो ''हर्न क्लिफ'' में सिर्फ दो प्राणी थे– राहुलजी और रसोइया मातबरसिंह। घाव की तकलीफ थी, पेनिसिलीन के इंजेक्शन लिये जा रहे थे। पर उससे राहुलजी का लेखन-कार्य रुकने वाला नहीं था। उन्होंने ''दक्खिनी हिंदी काव्यधारा'' में हाथ लगा दिया। इस ग्रंथ के लिए वे हैदराबाद सम्मेलन (1949 ई.) के समय से सामग्री जुटाते आ रहे थे।

14वीं-15वीं सदी में उत्तर भारत से जो मुसलमान-विजेता दक्षिण पहुंचे थे, उन्होंने वहां जिस हिंदी का प्रचार किया वह कौरवी का एक रूप थी और उसमें पंजाबी, रुहेली तथा कनौजी के भी शब्द मौजूद थे। दक्षिण में पहुंचे राज्यपाल, छोटे-बड़े अफसर और पलटन के सिपाही तथा उनके बीवी बच्चे इसी हिंदी का प्रयोग करते थे। इसी को बाद में ''दक्खिनी'' का नाम दिया गया। दरबार की भाषा फारसी थी, मगर मुस्लिम संतों ने अपनी कविता के लिए दक्खिनी हिंदी को अपनाया। राहुलजी ने इन कविताओं का संकलन करके एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा) की साहित्य-योजना का काम भी शुरू कर देना था। काम करने वालों को चुनने का सवाल उठा, तो सबसे पहले अपने परिचितों का ख्याला आना सभाविक था। महादेव साहा करीब एक महीने बाद वापस आ गये थे। वे साहित्य-योजना में काम करने के लिए तैयार हो गये। फिर महादेव साहा के पुराने मित्र वैजनाथसिंह 'विनोद' आ गये। जनवरी के अंत में महेंद्रकुमार न्यायाचार्य आ गये। कुमठेकर और स्वामी सत्यस्वरूप भी पहुंच गये। मार्च के मध्य में नागार्जुन भी आ गये। एक टाइपिस्ट भी थे। इनके लिए 'हर्न क्लिफ' के नजदीक का 'हर्न हिल' बंगला किराये पर लिया गया। राहुलजी साहित्य-योजना के अवैतनिक 'निदेशक' थे। बाकी सहयोगियों का वेतन-व्यय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को वहन करना था।

अब वस्तुस्थिति को देखिए : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का कार्यालय सुदूर वर्धा में, वहीं पर समिति का अपना प्रेस। समिति के मंत्री आनंदजी का स्थायी निवास भी वर्धा में ही था। मगर समिति के साहित्य-निर्माण का काम हो रहा था–करीब दो हजार किलोमीटर दूर पहाड़ में, मसूरी के बाजारों से काफी दूर सूनसान जंगल में ! राहुलजी एकांत कठोर साधना के लिए समर्पित थे, मगर उन्हें शुरू में ही यह समझ लेना चाहिए था कि उनके कई सहयोगी उनके दशांश भी परिश्रम करने के अभ्यस्त नहीं हैं। नतीजे जल्दी ही सामने आने लगे। लिखते हैं–''दिक्कतें सामने आने लगीं। कुछ

लोग समझते थे कि हम वेतन के लिए काम कर रहे हैं, काम के लिए नहीं।... अभी काम करते महीने भी नहीं हुए, कि वेतन बढ़ाने का सवाल उठा।" एकाध ने तो राहुलजी को 'शोषक' तक कह डाला! उनमें आपस में अक्सर कलह होता रहता था। राहुलजी के ही शब्दों में कहें, तो "कुछ सहकारी गरियार बैल बने हुए थे।"

अब देखिए साहित्य-निर्माण के कुछ नमूने: डा. सत्यकेतु ने "फ्रेंच स्वयं-शिक्षक" तैयार किया, जिसके लिए कुछ विशेष टाइप की आवश्यकता थी। उनकी विदुषी पत्नी ने ज़ीद के उपन्यास "ला पोर्त्वा" का "संकरा द्वार" के नाम से अनुवाद किया था। मारेशस के माधव वाजपेयी रोम्यां रोला के "जाँ क्रिस्तोफ" का अनुवाद कर देने के लिए तैयार थे। एक छोटा हिंदी-कोश भी तैयार हो रहा था। और भी कुछ योजनाएं थीं।

राहुलजी और आनंदजी ने सलाह करके साहित्य-निर्माण की यह योजना बना तो ली थी, मगर वर्धा समिति इसे कार्यान्वयित करने में सक्षम नहीं थी। केवल इच्छा और पैसों से सारे काम पूरे नहीं होते। समिति केवल पाठ्य-पुस्तकें तैयार करती थीं, साहित्य के विक्रय की उसके पास कोई व्यवस्था नहीं थी।

समिति के कुछ व्यक्ति मसूरी पहुंच गये थे, तो राहुलजी की पसंद के कुछ व्यक्ति वर्धा समिति में भी काम करने लगे थे। बलभद्र ठाकुर वहां थे। प्रेस के काम में विलंब होने लगा, तो नागार्जुन को भी राहुलजी ने वर्धा भेज दिया। साहित्य के काम के लिए 'विनोद' भी वर्धा पहुंच गये थे।

समिति का मुख्य कार्य था—अहिंदी प्रेदेशों के अपने प्रचारकों के सहयोग से परीक्षाएं आयोजित करना, हिंदी का प्रचार-प्रसार करना। अब उस पर साहित्य हावी होने जा रहा था। वर्धा समिति के विकास में शुरू से आनंदजी को सहयोग देनेवाले व्यक्ति साहित्यिक रुझान के नहीं थे, मगर वे कर्मठ कार्यकर्ता अवश्य थे। परंतु अब राहुलजी की कृपा से कुछ विशुद्ध साहित्य-प्रेमी वहां पहुंच गये थे, जो वहां के पुराने स्थानीय कार्यकर्ताओं की तुलना में अपने को 'अभिजात' समझते थे, कुछ विशिष्ट महसूस करते थे। वे भला आनंदजी और उनके पुराने सहयोगियों को क्यों कर महत्व देते? संघर्ष होना लाजिमी था।

सम्मेलन-सभापति का राहुलजी का कार्यकाल समाप्त हो जाने पर आनंदजी ने समिति से त्यागपत्र देने की कई बार इच्छा प्रकट की थी, मगर राहुलजी ने ही उन्हें रोका था। लेकिन अब, न केवल समिति में भीतरी कलह शुरू हो गया था, बल्कि मातृसंस्था हिंदी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) भी गुटबाजी का शिकार होकर अदालत के दरवाजे पर पहुंच गया था। अंततः आनंदजी ने समिति से इस्तीफा दे दिया। उधर मसूरी में भी साल के अंत में साहित्य-निर्माण के कार्य को समाप्त कर देना पड़ा। इस तरह समिति की साहित्य-निर्माण की योजना की भी वही परिणति हुई, जो कि सम्मेलन की परिभाषा-निर्माण योजना की हुई थी।

परंतु राहुलजी की अपनी निजी योजनाएं, कतिपय प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद, पूर्णतः प्राप्त करती रहीं। "गढ़वाल" का काफी हिस्सा लिखा जा चुका था।

अब उसमें "केदार-बदरी-यात्रा" शामिल करनी थी। 'हिमालय-परिचय पुस्तकमाला' के बारे में राहुलजी की व्यवस्था यह थी कि वे पुस्तक का ऐतिहासिक-सांस्कृतिक हिस्सा पहले लिख डालते थे, और फिर उस प्रदेश की यात्रा करके, जो उनकी प्रायः दूसरी-तीसरी यात्रा होती थी, अपने विवरण को वे संशोधित करते थे और उस यात्रा-वर्णन को भी पुस्तक में जोड़ देते थे। "कुमाऊं" के बारे में उन्होंने ऐसा ही किया था।

अब राहुलजी गढ़वाल में थे। मई (51) का अधिकांश समय उन्होंने बदरी-केदार की यात्रा को दिया। बदरी-केदार की यात्रा वे पहले भी कर चुके थे, मगर अब, 58 साल की आयु में, एक पुराविद की नजर से उन्हें गढ़भूमि को देखना था। तैयारी करके 2 मई को अकेले ही मसूरी से यात्रा के लिए रवाना हो गये। राइफल और रिवाल्वर का लाइसेंस मिल चुका था। राइफल पहले ही खरीद ली थी। देहरादून पहुंचकर एक छोटी-सी रिवाल्वर भी खरीदी, जो पूरी यात्रा में साथ रही, कैमरा भी।

यात्रा का विस्तृत विवरण, चित्रों सहित, "गढ़वाल" में और संक्षिप्त वर्णन "जीवन-यात्रा" में मौजूद है। इस यात्रा में राहुलजी का प्रयास रहा, मंदिरों-मूर्तियों के काल को जानना, अभिलेखों को पढ़ना। बोझा ढोने और भोजन बनाने के लिए उन्हें एक नेपाली तरुण मिल गया था। पहले केदारनाथ पहुंचे। केदारनाथ के मंदिर को देखने के बाद लिखते हैं-"जो कुछ देखा, उससे मालूम हुआ, कि चौथी सदी में भी यहां कोई मंदिर था, और उस समय भी पाशुपतों के लिए यह महत्वपूर्ण स्थान रहा।... केदारखंड ईसवी सन के आरंभ से ही अपनी पवित्रता को स्थापित कर चुका था, इसलिए यहां जगह-जगह पुराने अवशेष मिले हैं।"

केदारनाथ जाते समय भेत में उत्तराखंड के अच्छे जानकार पं. विशालमणि से भेंट हुई थी। उन्होंने कालीमठ में बड़ी अद्‌भुत मूर्तियां होने की बात की थी। केदार से लौटते हुए राहुलजी उनके साथ कालीमठ गये। सचमुच ही वहां की मूर्तियां अनुपम थीं। कालीमठ कभी पाशुपतों का केंद्र था। राहुलजी ने वहां के मुख्य मंदिर का एक लंबा शिलालेख पढ़ा। मूर्तियों के बारे में लिखते हैं-"गौरी मंदिर में 40 इंच लंबी 24 इंच चौड़ी हरगौरी की अन्यंत सुंदर पाषाण-मूर्ति थी, जिसे देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। शिव चतुर्भुज थे, गौरी द्विभुज, नीचे गणेश और मयूरारूढ़ कार्तिकेय थे। दाता की भी मूर्ति साथ में उत्कीर्ण थी। अखंडित इतनी सुंदर हरगौरी की मूर्ति शायद भारतवर्ष में कहीं न हो।"

राहुलजी आगे ऊषीमठ, तुंगनाथ और गोपेश्वर होते हुए बदरीनाथ के मुख्य मार्ग पर पहुंचे। यहां से उन्होंने नेपाली तरुण को छोड़ दिया। आगे के लिए दूसरा साथी और एक घोड़ा मिल गया। जोशीमठ होते हुए वे बदरीनाथ पहुंच गये। वहां उन्हें जानने वाले मिल गये, इसलिए निवास-भोजन की अच्छी व्यवस्था हुई।

राहुलजी ने कई व्यक्तियों से सुना था कि बदरीनाथ वस्तुतः बुद्ध-मूर्ति है। 'निर्वाण-दर्शन' के समय, यानी स्नान कराते समय, जब मूर्ति को नंगा कर दिया जाता है, एक-

डेढ़ मीटर की दूरी से मूर्ति देखने की राहुलजी के लिए व्यवस्था हुई। गर्भगृह में प्रमुख पुजारी नम्बूदरी रावल और उनके सहायक डिमरी पुजारी को छोड़कर और कोई नहीं जा सकता, न कोई मूर्ति को हाथ लगा सकता है। निर्वाण-दर्शन के बाद राहुलजी निष्कर्ष पर पहुंचे : "मूर्ति पद्मासनस्थ भूमिस्पर्श मुद्रायुक्त बुद्ध की है, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं।"

वापसी यात्रा में दो दिन देहरादून रुककर, 23 दिन बाद, 26 मई को राहुलजी मसूरी वापस लौटे। कमला के चचेरे भाई मंगलसिंह भी आ गये थे। मंगल जल्दी ही एक कुशल टाइपिस्ट के रूप में राहुलजी के लिए बड़े उपयोगी साबित हुए।

राहुलजी ने अपना बैंक-हिसाब देखा तो उन्हें चिंता होने लगी। प्रयाग के प्रकाशक ने 4362 रु. की रायल्टी का हिसाब भेजा, तभी चिंता थोड़ी दूर हुई। लिखते हैं– "पैसे के पानी को सूखते देखकर चिंता मुझे भी होती है, क्योंकि आत्म-सम्मान को मैं अपना सबसे बड़ा धन समझता हूं, बल्कि कहना चाहिए, उसे प्राणों से भी अधिक मूल्यवान मानता हूं।... बहुत बार कोशिश की कि खर्च पर नियंत्रण किया जाए, लेकिन महीने में पांच सौ रुपए से कम होने की नौबत नहीं थी।" साल के अंत में पैसे इतने कम रह गये थे कि नौकर को छुट्टी देनी पड़ी।

राहुलजी को 1926 में लदाख-यात्रा से लौटते समय हन्ले गुंबा के लामा ने ल्हासा की एक कुतिया, जिसका नाम सेङ्-टुक था, भेंट की थी। मगर रास्ते में सेङ्-टुक ने खाना-पीना छोड़कर प्राण त्याग दिये, तो राहुलजी को भयंकर दु:ख हुआ था। अब मसूरी में बंदरों से अपनी साग-सब्जी की रक्षा के लिए एक कुत्ता पालने का विचार किया और किशनसिंह की मदद से एक अलसेसियन पिल्ला प्राप्त किया। गृहिणी ने गुस्से में उसका नाम "भूत" रख दिया। राहुलजी ने "भूत" को "भूतनाथ" बना दिया। भूतनाथ जल्दी ही राहुल-परिवार का अभिन्न अंग बन गया।

राहुलजी ने रविवार का दिन मिलने-जुलने वालों के लिए सुरक्षित रखा था। मसूरी में सैलानियों के दो सीजन थे—मई-जून और अक्तूबर । तब मिलने वाले काफी आते थे, रविवार के दिन तो बहुत ज्यादा। लिखते हैं– "अधिकतर हमें चाय का प्रबंध करना पड़ता। स्वागत-सम्मान तथा चायपान और भोजन कराने में कितना आनंद आता, किंतु खाद्य-सामग्री दुर्लभ और महार्घ हो गई थी।"

यह थी हिंदी के विख्यात और धुरंधर लेखक महापंडित राहुल सांकृत्यायन की आर्थिक दशा!

सैलानी सीजन में कई लोग मिलने आये। पं. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आकर नजदीक के 'हर्न हिल' में टिके। जून में श्रीमती सत्यवती मल्लिक अपने पुत्र और भांजे के साथ आयीं। छपरा के पुराने परिचित वैद्य रामरक्ष पाठक और डा. शिवदास सूर मसूरी आये तो कई बार मिले। भैया (हरिशरणानंद) और भाभी (जानकी देवी) जुलाई के मध्य में आये और 'लक्समौंट' में टिके। अगस्त में बैरिस्टर मुकुंदीलाल मसूरी आये तो भेंट होती रही। सितंबर में साथी महमूद जफर और डा. रशीदजहां

आयी, मगर उनसे थोड़ी देर ही बात हो पायी। अक्तूबर के अंत में भैया-भाभी मसूरी से चले गये। कश्मीरी परिवार की सुसंस्कृत महिला मोहिनी जुत्शी से परिचय हुआ। 4 दिसंबर को ल्हासा से मिले एक पत्र से पता चला कि राहुलजी की तीन तिब्बत-यात्राओं के सहयोगी गेशे धर्मवर्धन का देहांत हो गया है। राहुलजी के मुंह से एकाएक निकला-''हसरत उन गुंचों पर है, जो बिन खिले मुरझा गए।'' दिसंबर के अंत में आनंदजी आये और समिति का मंत्रीपद छोड़ने का निर्णय सुनाकर दूसरे दिन ही वापस चले गये।

सालभर का लिखने का काम काफी संतोषजनक रहा। ''गढ़वाल'' और ''कुमाऊं'' को पूरा कर डाला। ऐनी का उपन्यास ''अदीना'' उसी साल ''माया'' के एक अंक में पूरा छप गया। 1951 का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था-''मध्य-एशिया का इतिहास'' लिखने में हाथ लगा देना। 1952 के अंत तक इस ग्रंथ के दोनों खंड पूरे हो गये।

''मेरी जीवन-यात्रा'' के दूसरे खंड में अक्तूबर 1944 तक का विवरण है। राहुलजी ने उसके बाद की अपनी जीवन-यात्रा नहीं लिखी थी। उस साल नवंबर में ''रूस में पच्चीस मास'' लिखना आरंभ कर दिया, और उसे उसी महीने समाप्त कर डाला। अब राहुलजी मंगलसिंह को सीधे टाइपरायटर पर ही लिखाने लगे थे। उसके बाद ''यात्रा के पन्ने'' के अंतर्गत पहले की शेष यात्राओं को भी लिखाना शुरू कर दिया।

राहुलजी के राजनीतिक जीवन के बहुत से साथी अब ऊंचे सरकारी पदों पर थे, परंतु निजी सुविधाओं के लिए उनसे संपर्क स्थापित करना उनके उसूल के खिलाफ था। अपवाद थे, राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू, जिन्हें अपने पुराने संबंधों को कारण सार्वजनिक कार्यों के लिए जब-तब लिखने में राहुलजी को संकोच नहीं होता था। राहुलजी को जब पता चला कि कुल्लू-लाहुल के सीमांत क्षेत्र जांस्कर के भोटभाषी बौद्ध धर्मी लोग भूखे मर रहे हैं, तो उन्होंने इसके बारे में राजेन्द्र बाबू को लिखा। जवाब मिला कि सहायता भेज दी गयी है। राजेन्द्र बाबू के मन में राहुलजी के लिए बड़ा आदरभाव था।

ऐसी बात नहीं है कि राहुलजी हमेशा पढ़ने-लिखने में ही मग्न रहते थे। वे लोक-जीवन के साथ भी सहज समरस हो जाते थे। उसी साल पहाड़ी दिवाली उत्सव में शरीक होने वे मसूरी से तीन-चार किलोमीटर दूर के कंडी गांव गये। स्त्री-पुरुष, सभी मद्यपान करके नाच-गाने में तल्लीन थे। राहुलजी मद्यपान से जीवनभर विरत रहे, मगर लिखते हैं-''साढ़े तीन हजार साल पहले सप्तसिंधु के आर्य सोम (भांग) पीकर इसी तरह अपना मनोविनोद करते होंगे।''

राहुलजी अब गृहपति थे; गृहपति के कर्तव्यों का, विशेषकर अतिथि-सत्कार का पालन करना जरूरी समझते थे। सोचते थे कि जीवन-भर जो आतिथ्य उन्होंने पाया है, उसका थोड़ा-सा बदला दे सकूं। मगर जब देखा कि साल (51) के अंतिम महीने में कुल जमा 1550 रु. बाकी बचे हैं, तो अगली गर्मियों में आने वाले अतिथियों के बारे में चिंता होने लगी। सोचने लगे, सत्कार का साधन केवल ''तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी'' न रह जाय।

नेपाल-यात्रा

एक समय के घुमक्कड़-राज राहुल ने अब मसूरी में लगभग क्षेत्रसंन्यास ले लिया था। जगह-जगह से निमंत्रण-बुलावे आते थे, मगर सबको स्वीकार करना अब राहुलजी के लिए संभव नहीं था। 1952 के साल में राहुलजी मसूरी से कहीं बाहर नहीं गये। उस साल जनवरी में उनकी दिनचर्या थी-सवा सात बजे उठकर शौचादि से निवृत्त होना, थोड़ा-बहुत काम, फिर चाय पीना। फिर 11 बजे तक कमला को पढ़ाना-लिखाना, उसके बाद अपना स्वाध्याय या संशोधन। एक से डेढ़ बजे तक भोजन, फिर डाक और पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ना। साढ़े चार-पांच बजे संध्या की चाय और फिर लिखी पुस्तकों को दोहराना। शाम को साढ़े आठ बजे भोजन, कुछ पढ़ना-पढ़ाना या लिखना। 9 बजे रेडियो-समाचार सुनना। फिर घंटा-दो घंटा पढ़कर 11 बजे के आसपास सो जाना।

राहुलजी की एक बड़ी चिंता थी-पत्नी को स्वावलंबी बना देना। मैट्रिक तो उन्होंने राहुलजी के निकट आने के पहले ही कर लिया था। फिर 'विशारद' कर लिया, और अब इस साल इंटर की परीक्षा भी पास कर ली। नियमपूर्वक इंसुलिन लेने में राहुलजी को उनसे बड़ी मदद मिल रही थी।

जनवरी के दूसरे सप्ताह में देश में हुए आम चुनाव के नतीजे निकले। वामपंथियों के आपसी झगड़ों के कारण उत्तर-प्रदेश और बिहार में कांग्रेस की भारी विजय हुई। किसी समय राहुलजी ने राजनीति में सक्रिय भाग लिया था, वे वामपंथियों की विफलता के कारणों को समझने में समर्थ थे। पूछते हैं-"कम्यूनिस्टों की निष्क्रियता कैसे हटेगी? वस्तुत: उनमें एक तरह की पंथाई संकीर्णता दिखलाई पड़ती है। वे अपने विचारों और मित्र-मंडली की एक खोल बनाकर उसी के भीतर रहने में संतोष कर लेते हैं। उन्हें जनसाधारण और गांवों में घुसना है... जिस तरह हड्डियां मांस के भीतर अपने को छिपाकर अभिन्न हो जाती हैं, उसी तरह...। अभी जनता की अपनी भाषाओं... के सहारे लोगों के भीतर घुसने का प्रयत्न नहीं किया गया, उन्होंने इन लोक-भाषाओं में अपना साहित्य नहीं तैयार किया।"

राहुलजी जब (दिसबंर 1947) हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति बने थे, तभी उसमें भीतरी दलबंदी शुरू हो चुकी थी। राहुलजी के साथ डा. उदयनारायण तिवारी बड़ी मुश्किल से ही प्रधानमंत्री चुने गये थे। प्रयागी तथा अप्रयागी, यूनिवर्सिटी तथा गैर-यूनिवर्सिटी और दारागंजी तथा अदारागंजी के भेद पैदा हो गये थे। आगे जाकर

प्रकाशक तथा अप्रकाशक का भी भेद पैदा हो गया। पं. जयचंद विद्यालंकार के सभापति बनने के बाद इस भेद ने उग्र संघर्ष का रूप धारण कर लिया। राहुलजी सम्मेलन की स्थायी समिति के सदस्य थे। मार्च (52) में एक दिन उन्हें अदालत का समन मिला, जिससे पता चला कि जयचंदजी ने सम्मेलन पर मुकदमा कर दिया है! जयचंदजी राहुलजी के पुराने मित्र थे, फिर भी स्पष्ट लिखते हैं-"मेरी दृष्टि में यह काम किसी भी सम्माननीय साहित्यकार के लिए बिल्कुल अयुक्त था। क्या उनको और कुछ काम नहीं रहा, कि सम्मेलन को मुकदमेबाजी का अखाड़ा बनाने में अपने अगुआ बने?"

9 अप्रैल 1952 को राहुलजी का 60 वां जन्म-दिवस था। उसके पहले जन्म-दिवस मनाने का न तो उन्हें कभी ख्याल आया था, न ही उनके किसी मित्र को। मगर उस दिन जीवन-संगिनी ने उसे मनाने का निश्चय कर लिया। दोपहर को एक छोटी-सी पार्टी हुई, जिसमें सत्यकेतु-परिवार और दो-तीन अन्य सज्जन शामिल हुए। पहली बार जन्मदिन मनाना राहुलजी को कुछ विचित्र-सा लगा।

मई-जून का सैलानी मौसम आया तो मेहमान और मिलने-जुलने वाले आने लगे। धूपनाथसिंह आये। बलभद्र ठाकुर आये। स्वामी सत्यस्वरूप आये। पिछले सीजन में खैरवा (जोधपुर) की जागीरदारनी ठाकुरानी गुलाब कुमारी खूब ठाठ-बाट के साथ मसूरी आयी थीं तो उन्होंने राहुलजी को भोजन के लिए आमंत्रित किया था। इस बार आयी तो ठाठ कुछ फीका था। कुछ दिनों बाद गुजरात की रानी बेरिया को भी जानने का राहुलजी को मौका मिला। देख रहे थे कि सामंतों के सदियों पुराने जीवन का सूर्यास्त अब नजदीक है। सोचा, समय रहते सामंती जीवन के अवशेषों को लिपिबद्ध कर डालना चाहिए। मई के अंतिम सप्ताह से "राजस्थानी रनिवास" लिखने में हाथ लगा दिया।

एक समय था जब राहुलजी को फिल्म देखने का काफी 'शौक' था, हालांकि अधिकांश फिल्में उनकी पसंद की नहीं होती थीं। जब सुना कि पृथ्वीराज-राजकपूर की नयी फिल्म "आवारा" आयी हुई है तो उसे देखने चले गये। फिल्म अच्छी लगी, संतोष हुआ।

"हर्न क्लिफ" में आये दो साल पूरे होने को आ रहे थे। मगर अब उसके दोष दिखाई देने लगे थे। सोचने लगे—नाहक 20 हजार से अधिक (मरम्मत आदि के मिलाकर) बंगले पर खर्च किये, चार-पांच सौ रुपए सालाना किराए पर कोई बंगला ले लेना बेहतर होता। लिखते हैं-"मकान के खूंटे से बंधने के प्रति पहिले-पहिले दुर्भाव पैदा हुआ।"

राहुलजी एक बौद्ध विद्वान के रूप में विख्यात हो गये थे। उन्होंने तिब्बत की चार यात्राएं करके कई बौद्ध ग्रंथों का उद्धार किया था। उनके पहले "धम्मपद" के अलावा अन्य किसी बौद्ध ग्रंथ का हिंदी में अनुवाद उपलब्ध नहीं था। राहुलजी ने हिंदी में बौद्ध धर्म से संबंधित कई ग्रंथ लिखे और दूसरों को भी लिखने के लिए प्रेरित किया।

राहुलजी को बौद्ध साहित्य-भंडार के दरवाजे पर पहुंचाने वाले प्रथम व्यक्ति कौन थे? वे थे—लखनऊ के बौद्ध विहार के भदंत बोधानंद महास्थविर। 1916 में एक आर्य-समाजी प्रचारक के रूप में राहुलजी की बोधानंदजी से लखनऊ में पहली बार भेंट हुई थी। तब बोधानंदजी ने बौद्ध साहित्य, त्रिपिटक आदि के बारे में राहुलजी को प्राथमिक जानकारी दी थी। वह प्रथम परिचय बाद में गहरे स्नेह-संबंध में बदल गया। मुझे भी बोधानंदजी को एक से अधिक बार नजदीक से देखने का सुअवसर मिला है। राहुलजी, आनंदजी और शांति भिक्षु शास्त्री के प्रति उनके अंत:करण में अपार स्नेह था।

जुलाई (52) में बोधानंदजी के देहांत का समाचार मिलने पर राहुलजी को जो दुख हुआ, उसे सहज ही समझा जा सकता है। उन्होंने बोधानंदजी की जीवनी पर एक लेख लिखा।

भैया (हरिशरणानंदजी) के रूप में राहुलजी को बड़े भाई मिल गये थे। भैया-भाभी के साथ उनके गहरे आत्मीय संबंध बन गये थे। वे हर साल मसूरी आकर तीन-चार महीने ठहरते थे। उस साल जुलाई में भाभी (जानकीदेवी) को दिल का दौरा पड़ा तो आगे का उनका जीवन नीरस और भयाकुल बन गया।

किसी समय राहुलजी ने मजदूरों-किसानों के आंदोलन में जमकर भाग लिया था। सत्याग्रह आयोजित किये थे, किसान सभा के सभापति बने थे, जेल गये थे। लेकिन अब वे लेखन के लिए ही पूरी तरह समर्पित थे। परंतु कई मित्रों ने उनसे मसूरी मजदूर संघ का सभापति बनने का आग्रह किया, तो अंतत: उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। संघ में मुख्यत: बोझा ढोने वाले और रिक्शा खींचने वाले नेपाली-गढ़वाली शामिल थे। राहुलजी के कार्यकाल में उनके लिए टीन के शेड बने, नयी मजदूरी तय हुई।

इस साल का एक नया प्रयास था—कम से कम तजुर्बा करने के लिए अपना खुद का "राहुल प्रकाशन" शुरू करना। जाहिर है कि प्रकाशन और प्रकाशकों के मामले में उन्हें कठिनाइयां हो रही थीं, इसलिए स्वयं प्रकाशक बनकर देखने का ख्याल आया। तीन पुस्तकें प्रकाशित की गयीं-"राजस्थानी रनिवास", "वोल्गा से गंगा" (अंग्रेजी) और "बहुरंगी मधुपुरी"। विक्रय की व्यवस्था करना राहुलजी के बस की बात नहीं थी। पहला ही अनुभव यह रहा कि जिसे सफरी-एजेंट नियुक्त किया था वह उनसे और डा. सत्यकेतु से कुछ अग्रिम रकम लेकर गायब हो गया।

अब वह दौर भी शुरू हो गया था जब राहुल जी के समकालीन और बहुत पुराने परिचित जन एक-एक करके इस दुनिया से बिदा होने लगे थे। दिसंबर में राहुलजी को मालूम हुआ कि साहित्याचार्य पं. रामदहीन मिश्र का देहांत हो गया है। उनके "ग्रंथमाला कार्यालय" (पटना) से राहुलजी की दो पुस्तकें छपी थीं। उनसे और उनके पुत्र देवकुमार मिश्र से राहुलजी की आत्मीयता थी। लिखते हैं-"एक-एक करके पके आमों को टपकना ही होता है, किंतु छूछी डालियां कुछ समय तक जरूर खटकती हैं।"

राहुलजी को लोक-भाषाओं और लोक-साहित्य के काम में गहरी दिलचस्पी थी। हिंदी के कथाकार गिरिराज किशोर की बहन सत्या गुप्ता ने एम.ए. करने के बाद आगे के काम के लिए राहुलजी से सुझाव मांगा तो उन्होंने उन्हें कौरवी लोक-साहित्य का संग्रह करने की सलाह दी। बाद में सत्याजी ने उस काम को पूरा करके पीएच. डी. प्राप्त की तो राहुलजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसी तरह, उस साल (52) दिसंबर में रामनारायण उपाध्याय के निमाड़ी लोक-गीतों के संग्रह को देखकर राहुलजी को बहुत प्रसन्नता हुई थी।

दाम्पत्य जीवन के साथ सुख-दुख और कलह-रोष-परितोष लगा ही रहता है। फिर राहुलजी का दाम्पत्य जीवन उसका अपवाद कैसे हो सकता था?

1952 के साल में काफी काम हुआ। सबसे महत्वपूर्ण काम यह हुआ कि "मध्य-एसिया का इतिहास" (दोनों खंड) पूरा हो गया। "गढ़वाल" भी पूरा हुआ। "राजस्थानी रनिवास" प्रेस में था। "नेपाल" को भी लिख डाला था, लेकिन अब नेपाल-यात्रा करके ग्रंथ को अंतिम रूप देना था।

राहुलजी (साधु रामोदारदास) पहली बार 1923 ई. में नेपाल (काठमांडू) गये थे, वहां डेढ़ माह रहे थे। उनकी दूसरी नेपाल-यात्रा 1929 ई. में हुई। उस समय वे पहली बार तिब्बत जा रहे थे, इसलिए नेपाल में उन्हें अज्ञातवास में रहना पड़ा, छद्मवेश में सीमांत और ल्हासा तक की यात्रा करनी पड़ी। उसके बाद की दो तिब्बत-यात्राओं में उनका जाना या आना नेपाल से ही हुआ। हां, चौथी तिब्बत-यात्रा में उन्होंने नेपाल के रास्ते का उपयोग नहीं किया।

तीसरी बार तिब्बत-यात्रा के लिए जाते समय (1936 ई.) राहुलजी करीब एक महीना काठमांडू में रहे थे। तब उन्होंने वहां की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक निधियों का प्रत्यक्ष अवलोकन और अध्ययन किया था। तब डा. काशीप्रसाद जायसवाल भी काठमांडू पहुंचे थे। तभी से राहुलजी नेपाल के बारे में एक ग्रंथ लिखने के बारे में सोचते आ रहे थे। अब वह ग्रंथ तैयार हो गया था।

'हिमालय-परिचय' संबंधी पुस्तकों के बारे में राहुलजी की व्यवस्था यह थी कि वे पुस्तक तैयार कर लेने के बाद उसे अंतिम रूप देने के लिए और उसमें ताजा यात्रा-विवरण जोड़ देने के लिए उस प्रदेश की पुनः यात्रा करते थे।

नया साल (1953) आया। राहुलजी अपनी नेपाली गृहिणी को साथ लेकर 4 जनवरी को मसूरी से नेपाल-यात्रा के लिए रवाना हुए। पहले की यात्राओं में राहुलजी रक्सौल-भीमफेरी से आगे सीसागढ़ी-चंदागढ़ी के पहाड़ों को पार करके नेपाल पहुंचे थे। मैं भी 1952 ई. में उसी रास्ते से होकर काठमांडू गया था। तब तक मोटर का रास्ता तैयार नहीं हुआ था।

राहुलजी को इस बार पटना से विमान द्वारा नेपाल पहुंचना था। पटना में वे दो दिन रहे। म्यूजियम जाकर तिब्बत से लायी अपनी सामग्री को देखा। जायसवाल प्रतिष्ठान में डा. अ. स. अलतेकर से मिलने पर जब पता चला कि उनके द्वारा संपादित

बहुत दिनों से उपेक्षित "प्रमाणवार्तिकभाष्य" का बहुत-सा भाग छप गया है, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

8 जनवरी को 55 मिनट की विमान-यात्रा के बाद राहुलजी काठमांडू के हवाई अड्डे पर उतरे तो वहां जनकलाल शर्मा, धर्मरत्न यमि आदि महानुभाव स्वागत के लिए उपस्थित थे। रहने के लिए दो-तीन जगह इंतजाम था, मगर देखने-घूमने और मिलने-जुलने के ख्याल से धर्मरत्न यमि के शहर के भीतर के निवास को ही राहुलजी ने ज्यादा पसंद किया। काठमांडू में वे 1 फरवरी तक रहे। उन 22 दिनों में उन्होंने काठमांडू और आसपास के अनेक स्थानों को देखा, अनेक व्यक्तियों से मिले। नेपाल में अब नया शासन था, राहुलजी का हर जगह स्वागत हुआ।

राजगुरु (माहिला गुरु) पं. हेमराज शर्मा से पहली बार राहुलजी की भेंट प्रथम नेपाल-यात्रा के समय 1923 ई. में हुई थी। उसके बाद कई अवसरों पर उनसे राहुलजी की भेंट हुई थी, दोनों में शास्त्रीय विषयों पर वार्तालाप हुआ था। राहुलजी कम्यूनिस्ट थे और पं. हेमराज राणा-सामंतशाही के समर्थक। फिर भी दोनों के बीच अच्छे स्नेह-संबंध हमेशा बने रहे। काठमांडू पहुंचने के दूसरे दिन राहुलजी पं. हेमराज शर्मा से मिलने गये, उनसे दो-तीन घंटा साहित्य और अनुसंधान के बारे में चर्चा हुई।

नेपाल के बौद्ध नेवार साहुओं का राहुलजी के प्रति बड़ा स्नेह और आदरभाव रहा है। पहले ही दिन शाम को वे भाजूरत्न साहु के यहां गये। स्वयंभू के समीप का आनंद विहार भाजूरत्नजी के दान का ही फल है। कालिंपोङ् का धर्मोदय विहार भी भाजूरत्न साहु और उनके यशस्वी पुत्र मणिहर्ष ज्योति का ही दान है। कलकत्ता जाने पर राहुलजी प्राय: साहु मणिहर्ष ज्योति के निवास पर ही ठहरते थे।

राहुलजी की तिब्बत-यात्राओं में उनके पुराने सहायक स्व. धर्ममान साहु के परिवार को वे कैसे भूल सकते थे? राहुलजी को धर्ममान साहु और उनके बेटों से काठमांडू और ल्हासा में खूब मदद मिली थी। अब धर्ममानजी नहीं थे, बेटे ल्हासा में थे। परिवार की बहुओं ने एक आत्मीय की तरह राहुलजी का स्वागत किया।

इस बार की नेपाल-यात्रा में राहुलजी कवि लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा से दो बार मिले। देवकोटा को उन्होंने कई बातों में निराला से मिलता-जुलता पाया। उन दिनों निराला अंग्रेजी में बोलते थे, तो देवकोटा अंग्रेजी पद्य में एक बड़ा नाटक लिख रहे थे! निराला की तरह देवकोटा भी मस्तमौला थे, मगर उतने अप्रकृतिस्थ नहीं। दोनों में ही अकृत्रिम सौहार्द और उच्च काव्य-प्रतिभा थी। राहुलजी लिखते हैं-"अब की नेपाल-यात्रा में सबसे अधिक जिस व्यक्ति ने आकृष्ट किया, वह महाकवि देवकोटा थे।"

राहुलजी की इस बार की नेपाल-यात्रा बड़ी व्यस्त रही। धर्मरत्न यमि का मकान अखंड गोष्ठी-स्थल बन गया था। मगर राहुलजी का ध्यान अपनी पुस्तक के लिए आंकड़े और सामग्री प्राप्त करने की ओर भी बराबर बना रहता था। उन्होंने काठमांडू का म्यूजियम देखा। पुन: बोधा और स्वयंभू के स्तूपों के दर्शन किये। उस किंदु विहार को भी देखने गये जहां अपनी पहली यात्रा के समय उन्होंने अज्ञातवास किया था।

देवपाटन जाकर राहुलजी ने पुनः पशुपति मंदिर की मूर्तियों को पुरातत्व की दृष्टि से देखा। उन्होंने हनुमान ढोका आदि राजप्रासाद भी देखे। सिंह दरबार भी देखा। थापाथली मुहल्ले के पुराने स्मारकों को भी देखा। राहुलजी भादगाउं गये और वहां के पुराने राजप्रासाद और मंदिर देखे। किसी समय भादगाउं राजधानी-नगर था। उपत्यका की अन्य दो राजधानियां थीं—कांतिपुर (काठमांडू) और पाटन। पुराविद जनकलाल शर्मा पूरी यात्रा में राहुलजी के पथ-प्रदर्शक रहे।

इस नेपाल-यात्रा में राहुलजी की बाबूराम आचार्य, बालचंद्र शर्मा, बालकृष्ण सम, डा. दिल्लीरमण रेग्मी, केसर शमशेर, बालकृष्ण शमशेर आदि अनेक विद्वानों, साहित्यकारों और विद्याप्रेमियों से भी भेंट-बातचीत हुई। 1 फरवरी को यमि-परिवार और मित्रों से विदाई लेकर राहुलजी विमान से पटना वापस लौटे।

पटना में बहुत से मित्रों से भेंट हुई। आचार्य शिवपूजन सहाय से मिलने सम्मेलन भवन जा रहे थे तो गाड़ी से जल्दी में उतरते समय गिर गये, और दाएं घुटने में दो जगह से खून निकलने लगा। डायबेटीज के कारण अब घाव जल्दी सूखने वाले नहीं थे। इसलिए बीच में रुकने के प्रोग्राम छोड़कर सीधे मसूरी लौटने का निश्चय किया।

नेपाल-यात्रा हो चुकी थी, इसलिए अब "नेपाल" को प्रकाशन के लिए दिया जा सकता था। काठमांडू से पटना पहुंचने पर दूसरे दिन 2 फरवरी (1953) को वहां के श्री मोहनलाल विश्नोई ने "नेपाल" को आग्रहपूर्वक प्रकाशन के लिए मांगा राहुलजी ने उसका एक भाग उसी समय उन्हें दे दिया। प्रकाशक ने उसके 304 पृष्ठ छापे। मगर उसके बाद काम न आगे बढ़ा, न कोई निर्णय हो पाया!

राहुलजी मई 1961 में बीमारी की हालत में श्रीलंका से दार्जिलिङ् लौटे थे। उनकी बहुत-सी जरूरी चीजें विद्यालंकार विहार के उनके कमरे में थीं। 22.6.61 को दार्जिलिङ् से राहुलजी आनंदजी को श्रीलंका में पत्र लिखते हैं–"मैंने जिन पुस्तकों को भेजने के लिए लिखा उनमें "नेपाल" के छपे फार्म (19) अतिमहत्व रखते थे। यदि वह गुम हो गए, तो पुस्तक नष्ट समझिए। इसलिए "नेपाल" को रजिस्टर्ड-बुकपोस्ट से भेजने को कहा था।.. "नेपाल" के नये प्रकाशक कलकत्ता में तैयार हो गये हैं, जिसमें वे फार्म भी जरूरी हैं। उनकी और कापी भी नहीं है। प्रेसवाला देगा इसमें संदेह है।"

मगर राहुलजी का "नेपाल" ग्रंथ आज भी अप्रकाशित है!

राहुलजी मसूरी अपने घर लौटे तो भूतनाथ ने स्वागत किया। अब उन्हें अपने घाव की अच्छी तरह देखभाल करनी थी, दायां घुटना मुड़ नहीं रहा था। गृहिणी अपने मायके चली गयी और करीब एक महीने बाद ही लौटी।

5 मार्च, 1953 को स्तालिन का देहांत होने का समाचार मिला। राहुलजी ने स्तालिन पर एक लेख लिखा। उससे संतोष नहीं हुआ, तो पूरी "स्तालिन" पुस्तक ही लिख डाली। फिर उसी साल "लेनिन", "मार्क्स" और "माओ त्से-तुंग" की जीवनियां भी लिख डालीं।

पं. शांति भिक्षु शास्त्री राहुलजी के गुरुबंधु थे। जब उन्होंने सूचित किया कि बौद्ध भिक्षु के वस्त्र त्यागकर वे गृहस्थ बन गये हैं, तो राहुलजी लिखते हैं–"स्वच्छंद जीवन से बंधन में आना मैं किसी का पसंद नहीं करता। गृहस्थ बनने पर आदमी की काम करने की शक्ति आधी रह जाती है।" परंतु शांति भिक्षु शास्त्री के बारे में ऐसा नहीं हुआ। वे संस्कृत और बौद्ध साहित्य के पंडित थे, और उन्होंने तिब्बती तथा चीनी भी पढ़ी थीं। शांतिनिकेतन छोड़ने के बाद भी उन्होंने अनुसंधान व लेखन-कार्य जारी रखा, जर्मनी में भी रहे। उनकी नेपाली पत्नी बराबर उनके साथ रही–विदेश में भी।

9 अप्रैल (53) को राहुलजी पूरे साठ वर्ष के हुए। उस दिन सबसे पहले अमृतराय का बधाई का तार मिला। और भी बधाइयां मिलीं। लिखते हैं–"बधाइयां बुढ़ापे को याद दिला रही थीं। मुझे भी अंतरावलोकन करने के लिए मजबूर होना पड़ा। सावधान होने लगा कि बुढ़ापे की प्रवृत्तियां तो मेरे भीतर नहीं आ रही हैं?"

सैलानियों का मौसम आया। नये-पुराने कई तरह के लोग मिलने-जुलने आते रहे। मसूरी में रहते अब तीन साल पूरे हो गये थे। राहुलजी ने सोचा कि मसूरी के बहुरंगी जीवन को कहानियों में प्रस्तुत किया जाए। एक-एक करके कहानियां लिखी जाने लगीं, जो अंत में "बहुरंगी मधुपुरी" पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुईं। अगस्त में राहुलजी ने "जौनसार-देहरादून" लिखने में भी हाथ लगा दिया।

अब राहुलजी को एक नयी जिम्मेदारी स्वीकार करनी थी–कमला मां बनने वाली थी। आरंभ में राहुलजी ने यही सोचा था कि नयी गृहस्थी बिना बच्चों के ही चलेगी। मगर वैसा संभव नहीं हुआ। भैया-भाभी मसूरी आ गये थे। उन्हीं की देखरेख में वहां के सेंट मेरी अस्पताल में 20 सितंबर (53) को जया का जन्म हुआ।

जया के जन्म के कुछ ही दिन पहले कई वर्षों बाद लोला की चिट्ठी मिली। राहुलजी ने ईगोर के जन्म दिन (5 सितंबर) पर बधाई का तार भेजा। लिखते हैं–"कमला को इस पत्र के आने की बात सुनकर बहुत दुख हुआ।" फिर करीब दो महीने बाद लेनिनग्राद से चिट्ठी और फोटो आया, तो पुनः गृह-कलह होना स्वाभाविक था। कौन सही था और कौन गलत, इसका विवेचन करना अब व्यर्थ है। मगर राहुलजी के व्यक्तित्व को ठीक से पहचानने के लिए यह जानना जरूरी है कि उपरोक्त गृह-कलह की कारण-मीमांसा उन्होंने किस तरह की–"कल से मैं अपनी नजर में गिर गया, सारे जीवन के लिए। कमला का समझना बिल्कुल ठीक है। मैंने उसकी असहाय अवस्था का फायदा उठाया। हां, परोपकार, दया दिखाने और क्या-क्या बहाना करके। वह क्योंकर मुझ पर विश्वास करने लगी?"

यह 'अपराध-स्वीकृति' महापंडित राहुल को और भी महान बना देती है!

दो साल पहले राहुलजी ने महान घुमक्कड़ नरेंद्र यश पर एक लेख लिखा था, तो तभी उन्होंने सोचा था कि इस अद्‌भुत चरित्र पर एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखना चाहिए। उस उपन्यास ("विस्मृत यात्री") का आरंभ अब 21 नवंबर को हुआ, और साल के अंत में वह पूरा हो गया।

इस तरह 1953 ई. में काफी लेखन-कार्य हुआ- 3000 पृष्ठ से अधिक की पुस्तकें लिखी गयीं। उपलब्धि संतोषजनक रही। परंतु राहुल-दम्पत्ति के लिए तो इस साल की सबसे प्रिय उपलब्धि थी-बेटी जया!

हिमालय दर्शन

एक प्राचीन परंपरा के अनुसार हिमालय के पांच खंड हैं-

खण्डा: पंच हिमालयस्य कथिता नेपाल-कूर्माचलौ।
केदारोऽथ जलंधरोऽथ रुचिर: कश्मीर-संज्ञोऽन्तिम:॥

अर्थात्- (1) नेपाल, (2) कूर्माचल (कुमाऊं), (3) केदार (गढ़वाल), (4) जलंधर (शिमला-कांगड़ा), और (5) कश्मीर।

राहुलजी के मन में "हिमालय-परिचय" पूरा लिख डालने का विचार "कुमाऊं" (1950) को लिखने के बाद आया। उसके पहले वे "किन्नर देश में" और "दोर्जेलिङ् परिचय" लिख चुके थे। अब निश्चय किया कि दार्जिलिङ् से चंबा (तिस्ता नदी से चनाब नदी) तक के हिमालय का परिचय हिंदी में प्रस्तुत कर देना है।

मसूरी आकर "गढ़वाल" और "नेपाल" को पूरा कर डाला। बाद में, 1955 ई. में, "जौनसार-देहरादून" को भी पूरा किया। अब बचे दो खंड—जलंधर (शिमला-कांगड़ा या हिमाचल प्रदेश) और कश्मीर। 1948 की गर्मियों में राहुलजी ने कन्नौर-किन्नर (सतलुज की ऊपरी उपत्यका) की यात्रा की थी, और उस यात्रा के दौरान ही "किन्नर देश में" लिखना आरंभ कर दिया था। वस्तुत: "किन्नर देश में" में हिमाचल प्रदेश के एक हिस्से का परिचय आ गया था।

मगर अब पूरे हिमाचल प्रदेश का परिचय प्रस्तुत करना था, क्योंकि संकल्प तिस्ता से चनाब तक के सभी हिमालय-खंडों का विवरण लिख डालने का था। यह काम राहुलजी ने अब 1954 के आरंभ में हाथ में लिया, 7 जनवरी को। जैसा कि उनका नियम था, पुस्तक पूरी करके उसी साल की गर्मियों में उन्हें हिमाचल प्रदेश की यात्रा भी करनी थी। "किन्नर देश में" पुस्तक का विवरण उन्होंने "हिमाचल प्रदेश" की पांडुलिपि में भी शामिल कर दिया है। 'पांडुलिपि' इसलिए कहना पड़ रहा है, क्योंकि इस पुस्तक का भी अब तक प्रकाशन नहीं हुआ है!

"हिमालय परिचय" के अंतिम पांचवें खंड "कश्मीर" को लिखने का राहुलजी का कोई संकल्प नहीं था। परंतु उनकी "मेरी लदाख-यात्रा" में इस पांचवें खंड को स्पर्श किया गया है। 1953 में, साठ साल की आयु में, उन्होंने लिखा था- "कश्मीर के बारे में विस्तृत लिखने के लिए एक बार फिर वहां की यात्रा (चौथी) करनी होगी, जिसके लिए मेरा स्वास्थ्य और शरीर आज्ञा नहीं देता।"

फिर भी, राहुलजी 1958 की गर्मियों में कश्मीर की इस चौथी यात्रा पर गये थे, शायद "हिमालय परिचय" का पांचवां खंड लिख डालने के इरादे से भी, मगर वह यात्रा अधूरी ही रह गयी, जिसकी वजह थी चीन-यात्रा का निमंत्रण। इस तरह, राहुलजी की कलम से "हिमालय परिचय" के चार खंड ही पूरे हो पाये, और उनका संकल्प भी यही था।

लेकिन क्या राहुलजी का संकल्प सही अर्थ में पूरा हुआ? "हिमालय परिचय" की पुस्तकों के प्रकाशन की क्या दुर्दशा हुई? दास्तान दिलचस्प है, भारतीय भाषाओं के हम अभिमानियों के लिए कुछ शर्मनाक भी!

राहुलजी को इलाहाबाद का लॉ जर्नल प्रेस बहुत पसंद था। मैनेजर श्री कृष्णप्रसाद दर ने छपाई-सफाई और मुस्तैदी के मामले में इस प्रेस को भारत का एक सर्वश्रेष्ठ प्रेस बना दिया था। सन 1933 से ही राहुलजी की किताबें वहां से छपती आ रही थीं। बाद में प्रेस सेठों के हाथों में चला गया, मगर दर साहब को मैनेजर पद पर कायम रखा गया। फिर प्रेस ने अपना प्रकाशन भी आरंभ किया, तो दर साहब ने राहुलजी से पुस्तकें मांगीं। "हिमालय परिचय" की दो पुस्तकें- "गढ़वाल" और कुमाऊं"- राहुलजी ने उन्हें दे दीं, कुछ अग्रिम रुपया भी मिला।

दर साहब की देखरेख में "गढ़वाल" का प्रकाशन खूब बढ़िया हुआ—चित्रों और विस्तृत नाम-सूची व विषय-सूची सहित। "कुमाऊं" भी मोनो में पंच हो गयी थी। मगर उसी समय प्रेस के मालिकों ने दर साहब को हटा दिया!

दर साहब के साथ तय हुआ था कि लॉ जर्नल प्रेस "हिमालय परिचय" की सभी पुस्तकें प्रकाशित करेगा। मगर जब "नेपाल" के लिए अग्रिम देने से मालिकों ने इनकार कर दिया, तो राहुलजी ने वह पुस्तक पटना के एक प्रकाशक को दे दी। वहां से "नेपाल" का उद्धार आज तक नहीं हुआ है!

"नेपाल" के न मिलने को बहाना बनाकर लॉ जर्नल प्रेस ने "कुमाऊं" को छापने से इनकार कर दिया। राहुलजी कर ही क्या सकते थे, सिवाय यह 'आशीर्वाद' देने के कि 'थैलीशाही तेरा बेड़ा गर्क हो!" उन्होंने अग्रिम के पैसे लौटा दिये और वाराणसी से "कुमाऊं" के प्रकाशन की व्यवस्था की।

इस तरह, "गढ़वाल" और "कुमाऊं" छपीं तो सही, परंतु आज प्राप्य नहीं, क्योंकि पुनर्मुद्रित नहीं हुईं। और, "नेपाल" तथा "हिमाचल प्रदेश" तो आज भी अप्रकाशित हैं!

हिमालय के इन खंडों के बारे में राहुलजी ने कितनी महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत कर दी है, इसे "गढ़वाल" देखकर सहज ही जाना जा सकता है। हिमालय के विविध क्षेत्रों के बारे में अंग्रेजों ने भी पुस्तकें लिखीं, गजेटियर भी हैं, मगर राहुलजी के विवरणों में इतिहास, संस्कृति, धर्म, रीति-रिवाज, जातियां-भाषाओं आदि के बारे में जैसी प्रामाणिक जानकारी है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इन पुस्तकों में राहुलजी ने जो कई 'सच्ची-सच्ची बातें' लिखी हैं, वे भी इनके प्रकाशन में कुछ बाधक बनी हैं।

पुस्तक पूरी हो जाने पर वह तुरंत प्रेस में चली जाती थी, तो राहुलजी को बड़ी प्रसन्नता होती थी। एक जगह लिखते भी हैं– "पुस्तकों के लिखने में मुझे जितना आनंद आता है, उससे कहीं अधिक आनंद उनके प्रूफ देखने में आता है। पुस्तकों का लिखना मानो उनका गर्भ में आना है, और प्रकाशित होना जन्म लेना है। आदमी इससे अपने परिश्रम को समझता है।"

अपने जीवनकाल में "नेपाल" और "हिमाचल प्रदेश" को अजन्मा रहते देख राहुलजी को कितनी मानसिक व्यथा हुई होगी, इसका अनुमान लगाना ज्यादा कठिन नहीं है।

हां, तो 1954 के नये साल के दूसरे सप्ताह से ही राहुलजी ने हिमालय-संबंधी अपनी अंतिम पुस्तक "हिमाचल प्रदेश" में हाथ लगा दिया था। मगर उसके भी पहले एक अन्य काम की शुरुआत कर दी थी। पिछले साल, 1953 में, राहुलजी ने मार्क्स, लेनिन, स्तालिन और माओ-त्से-तुंग की जीवनियां लिखी थीं। नये साल के आरंभ में सोचा : लगे हाथ कम्यूनिस्ट दृष्टि से जनसाधारण की भाषा में एक-एक फार्म के साढ़े तीन दर्जन पंफ्लेट लिख डाले जाएं। 6-7 जनवरी को पहला पंफ्लेट "कम्यूनिस्ट क्या चाहते हैं?" लिख भी डाला, और 'राहुल प्रकाशन' से वह छप भी गया। आगे के पंफ्लेट नहीं लिखे गये। प्रकाशन-वितरण की व्यवस्था नहीं हुई होगी। मगर, जैसी कि राहुलजी की आदत थी, उन्होंने उन साढ़े तीन दर्जन पुस्तिकाओं की विषय-सूची अवश्य ही बना ली होगी।

मसूरी में खूब जाड़ा था। राहुलजी सपरिवार बारह दिन भैया के पास अमृतसर रह आये। मार्च में बुखार ने कुछ दिनों के लिए चारपाई पकड़ने को बाध्य किया, किंतु पढ़ने और प्रूफ देखने का काम जारी रहा। फिर 10 अप्रैल (54) को हिमाचल प्रदेश की यात्रा के लिए प्रस्थान करने का निश्चय किया। धूपनाथजी और नेपाल के जनकलाल शर्मा, दोनों ही साथ देने के लिए तैयार थे, मगर जनकलाल तरुण थे, पहाड़ी थे, वैद्यक भी जानते थे और इतिहास-पुरातत्व में भी दिलचस्पी रखते थे, इसलिए उन्हें ही साथ ले चलने का निश्चय हुआ।

हिमाचल के लिए रवाना होने के तीन दिन पहले राहुलजी किसनसिंह से मिलने के ख्याल से लंढौर गये। सोचा, दिल्ली से लौट आये होगें, मगर जब देखा कि दुकान में ताला लगा है, तो माथा ठनका। पता चला, दिल्ली में ही 1 अप्रैल को किसनसिंह चल बसे। बड़ा स्नेह था राहुलजी को उनसे । वे राहुलजी को अक्सर मोमो (भाप में पकाया एक प्रकार का तिब्बती सामिष समोसा) की दावत देते थे। अब आगे मसूरी में किसनसिंह का अभाव राहुलजी को हमेशा खटकनेवाला था। लिखते भी हैं– "मैं कैसे उनको अपने जीवन-भर भूला सकता हूं?"

10 अप्रैल (54) को राहुलजी जनकलालजी के साथ हिमाचल की यात्रा के लिए रवाना हुए। सामग्री एकत्र करने में सुविधा हो, इस ख्याल से वहां के कई स्थानों के परिचितों-अपरिचितों को राहुलजी ने पहले ही पत्र लिख दिये थे। कुछ को "गढ़वाल"

की प्रति भी भेज दी थी-- यह बताने के लिए कि किस तरह की जानकारी चाहिए। देहरादून उतरकर बस से नाहन पहुंचे, वहां का पुराना जगन्नाथ मंदिर देखा। लगे हाथ ददाहु और नजदीक के रमणीय रेणुका सरोवर को भी देख आये। वहां परशुराम मंदिर भी है। बताया जाता है कि पिता जमदग्नि की आज्ञा से परशुराम ने अपनी माता का वध यहीं पर किया था और वह तालाब के रूप में प्रकट हुईं। यहां हर साल बहुत बड़ा मेला लगता है।

नाहन से बस में सवार होकर शिमला के लिए रवाना हुए। रास्ते में सराहाँ, सोलन आदि स्थान मिले। शिमला में तीन दिन रहे, और सरकारी स्रोतों से काफी सामग्री जमा की। मिलना-जुलना भी हुआ। शिमला से बस द्वारा बिलासपुर पहुंच गये, सतलुज के तट पर। मंदिर देखें। वहां के राजा साहब ने स्वागत किया। सुसंस्कृत थे। रात को उन्हीं के महल में रहे। अभी भाखड़ा बांध बनकर तैयार नहीं हुआ था। राहुलजी बिलासपुर में जिस महल में टिके और जिन मंदिरों को उन्होंने देखा वे सारे बाद में भाखड़ा सागर में जलमग्न हो गये!

यह सोचते हुए कि कुछ दिन बाद बिलासपुर को जल-समाधि मिल जाएगी, राहुलजी मंडी के लिए रवाना हुए; रास्ते में सुंदरनगर को भी देखा। मंडी में पूर्व-परिचित सुंदरलालजी और डिप्टी कमिश्नर अंतानीजी से बड़ी मदद मिली। मगर वहां की खनिज नमक की खान के बारे में विवरण नहीं मिल पाया। व्यास के परे जाकर पुरानी राजधानी के मंदिर देखे, त्रिलोकनाथ मंदिर में 1400 ई. के आसपास का एक शिलालेख भी देखा। मंडी में एक साहित्य गोष्ठी और एक सभा में भाषण देने पड़े।

मंडी से राहुलजी और जनकलालजी कुल्लू गये और वहां से मनाली। दोनों स्थानों के और रास्ते के कई मंदिर-स्थान देखे, आंकड़े भी एकत्र किये। मनाली से फिर मंडी वापस लौटना था। जाते-आते कटराई स्थान मिला, तो राहुलजी को 1937 की यात्रा याद आयी, जब वे और आनंदजी यहां से नदी पार करके नगर में रोयरिक-परिवार के निवास 'उरुस्वाती' गये थे। इस बार भी वहां जाने की इच्छा हुई, मगर अब रोयरिक-निवास खाली पड़ा था।

मंडी वापस लौटकर राहुलजी कांगड़ा की ओर आगे बढ़े। रास्ते में बैजनाथ उतरे, जहां के प्राचीन मंदिर में 11वीं सदी के दो शिलालेख लगे देखे। प्राचीन समय में यहां किर (किरात) लोगों का आधिपत्य था, इसीलिए बैजनाथ का पुराना नाम किरग्राम था। राहुलजी का मत था कि यही किर (किरात) आर्यों के लिए दस्यु और दुश्मन थे। ऋग्वेदिक काल में शम्बर किरातों का नेता था और कांगड़ा के क्षेत्र में उसके पास सौ किले (पुर) थे।

राहुलजी जानते थे कि कांगड़ा के पठियार गांव में ईसा पूर्व दूसरी सदी का ब्राह्मी शिलालेख मिला है, इसलिए उसे देखने के लिए वे बस से मलाँ गये और वहां से पठियार। गांव के खेतों की एक चट्टान पर ब्राह्मी और खरोष्ठी में लिखा था- "बाकुलस पुष्करिणि" । पुष्करिणी अब वहां नहीं थी, मगर लेख में जिन

रट्ठी (राष्ट्रिक) लोगों का उल्लेख है वे राठी के नाम से उस गांव में आज भी हैं।

कांगड़ा पहुंचे। शहर का वज्रेश्वरी भवानी मंदिर देखा। अगले दिन पहाड़ पर बने कांगड़ा के पुराने किले को देखने गये। कांगड़ा से ज्वालामुखी की यात्रा करके पुन: कांगड़ा लौटे और आगे धर्मशाला पहुंच गये। वहां कुछ सूचनाएं प्राप्त कीं और भाकसूकुण्ड के तीर्थ को भी देखा। धर्मशाला से नजदीक खजियार स्थान पर पठियार जैसा एक पुराना शिलालेख मिला था। राहुलजी खेतों से होते हुए उसे देखने गये। लेख में जानकारी है कि यहां कृष्णयश ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए आराम (विहार) बनवाया था।

धर्मशाला से राहुलजी पठानकोट पहुंचे। बताते हैं कि पठानकोट से पठानों का कोई संबंध नहीं। मुस्लिम इतिहासकारों ने भी इसका नाम पैठन बताया है, जो प्रतिष्ठान का अपभ्रंश है। यह सबसे उत्तर का प्रतिष्ठानपुर था। दूसरा प्रतिष्ठानपुर इलाहाबाद में गंगापार झूसी में था, और तीसरा महाराष्ट्र में गोदावरी तट पर आज भी पैठन के रूप में प्रसिद्ध है। पठानकोट का 'कोट' शब्द किले का द्योतक है। पहाड़ों में घुसने का रास्ता यहीं से था, इसलिए बहुत प्राचीन काल से पठानकोट के किले का बड़ा महत्व रहा है।

राहुलजी को पठानकोट से चम्बा जाना था। रास्ते में बनीखेत उतरकर बस से डलहौजी चले गये। वहां तीन घंटे घूमने-फिरने के बाद लिखते हैं– "मुझे हिमालय की पुरियों में डलहौजी सबसे सुंदर मालूम हुई।" बनीखेत लौटे और वहां से बस पकड़कर चम्बा पहुंच गये, 27 अप्रैल (54) की रात को। पं. जयवंतराम के घर ठहरने का इंतजाम हुआ। दूसरे दिन डिप्टी-कमिश्नर नेगी ठाकुरसेन ने अपने यहां आकर ठहरने को कहा। राहुलजी को भरमौर भी जाना था। कहा– 'वहां से लौटकर आपके साथ रहेंगे।' उन्होंने राहुलजी को हर तरह से मदद देने का वादा किया।

चम्बा बहुत पुराना, अनेकानेक मंदिरोंवाला और पुरातात्विक सामग्री की दृष्टि से अत्यंत सम्पन्न नगर है। राहुलजी ने वहां के भूरीसिंह संग्रहालय में चित्रों, ताम्रपत्रों, पांडुलिपियों और मूर्तियों का अवलोकन किया। उन्हें चम्बा की पुरानी राजधानी भरमौर को भी देखना था। राख तक बस जाती थी। आगे के लिए नेगी साहब ने दो घोड़ों का इंतजाम कर दिया था।

30 अप्रैल (54) को एकदम सुबह राहुलजी और जनकलालजी चम्बा के बस-अड्डे पर पहुंचकर भरमौर की तरफ राख तक जाने वाली बस में बैठ गए। कामचलाऊ सड़क थी। राहुलजी ड्राइवर के पास बैठे थे। गाड़ी करीब आठ किलोमीटर गयी होगी। तब राहुलजी ने एकाएक महसूस किया कि गाड़ी दाईं ओर गिर रही है, मगर इस बात को कहने का मौका मिलने के पहले ही बस दाईं करवट बैठ गयी! ड्राइवर चक्के (स्टेयरिंग) में फंस गया। बस के बाएं भाग की खिडकियां आसमान ताक रही थीं, कुछ लोग उनमें से बाहर निकले। बाकी को पकड़-पकड़कर निकाला गया, ड्राइवर को भी। करिश्मा ही था कि किसी को गंभीर चोट नहीं आयी। राहुलजी का पैर एक

जगह थोड़ा छील गया। बस यदि दस कदम आगे ऊपर जाकर बाईं ओर गिरती, तो दुर्घटना की जानकारी देने वाला भी कोई बचा नहीं रहता!

उस दिन सचमुच ही बस-यात्रियों के प्राण बाल-बाल बच गये थे। लोग भगवान को बार-बार धन्यवाद दे रहे थे। राहुलजी लिखते हैं- "उस समय ही रामनाम सत् हो जाता, मेरी कितनी ही पुस्तकें लिखने को रह जातीं। जीवन और मरण की चिंता में मरे जाना मेरे लिए घृणा की बात थी। मैं किस भगवान को धन्यवाद देता, जब जानता हूं कि वह कभी न था और न है।"

राहुलजी और जनकलालजी दुर्घटना-स्थल पर न रुककर पैदल ही राख की ओर आगे बढ़ गये, क्योंकि घोड़े वहां इंतजार कर रहे थे। भरमौर पहुंच गये। यह भेड़-बकरियां पालनेवाले गद्दी लोगों का इलाका (गदियान) है। भरमौर, जो ब्रह्मपुर का बिगड़ा रूप है, प्राचीन काल में इस इलाके का राजधानी-नगर रहा। यहां कई मंदिर हैं, जिनमें पीतल की मूर्तियां सुरक्षित बनी रहीं। रास्ते की कठिनाई के कारण मूर्तिभंजक भरमौर तक नहीं पहुंच पाये थे। राहुलजी ने शिव मंदिर के सामने की सांड की विशाल पीतल-मूर्ति पर ईसा की सातवीं सदी के अक्षरों में राजा मेरुवर्मा का एक लेख पढ़ा।

राहुलजी चम्बा लौट आए। अब पठानकोट और अमृतसर होते हुए वापस लौटना था। पठानकोट तक बस की यात्रा करके वहां से रेल पकड़ी और अमृतसर में एक दिन भैया के पास रहे। वहां से देहरादून और फिर मसूरी अपने घर पहुंच गये। 10 अप्रैल को हिमाचल-यात्रा पर निकले थे; 8 मई (54) को वापस लौटे।

मसूरी में सैलानियों का मौसम शुरू हो गया था। इस बार भी मेहमान और मिलने-जुलने वाले बहुत से आये। धूपनाथजी पहले ही आ गये थे। राहुलजी के सबसे छोटे भाई श्रीनाथ पांडे भी दिल्ली से आये हुए थे। स्वामी सत्यस्वरूप, बेनीपुरी, जगदीशचंद्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, चित्रकार कुमारिल स्वामी, बैरिस्टर मुकुंदीलाल, श्रीमती रजनी पणिकर, सरदार पृथ्वीसिंह आदि अनेक परिचितों का आगमन हुआ। हर साल की तरह भैया-भाभी भी मसूरी आये।

5-7 जून (54) को देहरादून में प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का आयोजन था। राहुलजी उसका उद्घाटन करने गये। वृंदावनलाल वर्मा सभापति थे। टंडनजी भी आये थे। इलाहाबाद के उदयनारायण तिवारी, वाचस्पति पाठक आदि भी उपस्थित थे। उसी समय कौरवी भाषा सम्मेलन भी हुआ। हिंदी की मूल बोली के लिए "कौरवी" नाम का प्रचार राहुलजी ने ही किया था।

सम्मेलन के बाद उदयनारायणजी, पाठकजी आदि मित्र मसूरी आकर राहुलजी के पास "हर्न क्लिफ" में दो दिन के लिए ठहरे, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अपने पढ़ने-लिखने का काम बंद रखा।

राहुलजी को आर्थिक कठिनाइयां अब अधिक परेशान कर रही थीं। पिछले साल की कुल रायल्टी का केवल 1700 रु. का हिसाब मिला था। खर्च में कमी करना जरूरी समझा गया। राहुलजी ने अब जया के भविष्य के बारे में भी सोचना शुरू कर दिया

था। कमला ने इस साल बी.ए. की परीक्षा पास कर ली और एम.ए. का फार्म भर दिया, यह संतोष की बात थी।

सितंबर (54) में राहुलजी ने अनुसंधान, संपादन और अनुवाद का एक बहुत ही महत्वपूर्ण काम हाथ में लिया। उसकी पृष्ठभूमि इस प्रकार है: राहुलजी 1934 में दूसरी बार तिब्बत-यात्रा पर गये थे। तालपोथियों की तलाश में वे साक्या (स.स्क्य) पहुंचे। गेशे धर्मवर्धन उनके साथ थे। एक दिन पता चला कि वहां के एक मंदिर के पुजारी के पास तालपत्रों का एक बंडल है। यह भी पता चला कि, तिब्बत में मरणोन्मुख व्यक्ति के मुंह में तालपोथी के धुले जल-बूंद डालने की प्रथा उसी तरह प्रचलित है, जैसी कि हमारे यहां गंगाजल डालने की। चूंकि वहां भारतीय तालपोथियों को बहुत पवित्र माना जाता था, इसलिए पुजारी दक्षिणा के लालच में तालपत्र के टुकड़े अक्सर प्रसाद के रूप में बांट दिया करते थे!

साक्या के ऐसे ही उस पुजारी के पास से गेशे तालपत्रों का वह बंडल उठा लाये। उसमें सिद्ध सरहपाद के 'दोहाकोश' के पन्ने भी थे। देर-सवेर 'प्रसाद' बनने वाले उन महत्वपूर्ण पन्नों को पुजारी को वापस लौटाना अब राहुलजी के बस की बात नहीं थी। पुजारी ने भी आपत्ति नहीं की, क्योंकि उसे कुछ दक्षिणा मिल गयी। साक्या से लाये वे ताड़पत्र राहुलजी के पास पिछले बीस साल से रखे हुए थे।

सरहपाद ईसा की आठवीं सदी में हुए। ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे, मगर बाद में बौद्ध भिक्षु बनकर उन्होंने नालंदा में अध्ययन-अध्यापन किया। तब उनका भिक्षु-नाम राहुलभद्र था। फिर उन्होंने भिक्षु के भेस और पंडिताई के सम्मान को त्यागकर वज्रयान का मार्ग अपनाया, तो सरोजवज्र के नाम से जाने गये। फिर उन्होंने शर बनाने वाले की एक तरुण कन्या को अपनी संगिनी- जिसे सिद्धों की भाषा में 'महामुद्रा' कहते हैं- बनाया और स्वयं भी सरकंडों के शर बनाते हुए मुक्त विचरण करने लगे, जनता की भाषा (अपभ्रंश) में दोहे कहने लगे, तो सरहपा के रूप में मशहूर हो गये। अपभ्रंश ही ब्रज, अवधी, मैथिली, बंगाली आदि आधुनिक भाषाओं की जननी है। लगभग 750 ई. से लेकर 1300 ई. तक सरह जैसे सिद्धों ने और स्वयंभू जैसे महान जैन कवियों ने अपभ्रंश में अपने काव्य की रचना की। उपलब्ध अपभ्रंश काव्य-साहित्य में सरहपाद के दोहे सबसे प्राचीन हैं।

मगर बीच की कई सदियों तक भारत में सरहपाद का कोई नामो-निशान नहीं रहा। तिब्बत ने उनकी रक्षा की और वहां वे खूब सम्मानित बने रहे। वर्तमान सदी के आरंभ में तिब्बती सामग्री के अनुसंधान से सरह पुनः प्रकाश में आये। म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने अपने "बौद्ध मान ओ दोहा" में सरह के 50 के करीब दोहे दिये हैं। सन 1938 में प्रकाशित डा. प्रबोधचंद्र बागची के "दोहकोश" में 112 दोहे हैं।

सितंबर (54) में एक दिन राहुलजी ने साक्या में मिले उन तालपत्रों को यों ही खोलकर देखा और फिर म.म. हरप्रसाद शास्त्री और डा. बागची के दोहों से उनका मिलान करने लगे। तालपत्र 11वीं-12वीं सदी की लिपि में थे। राहुलजी की वह प्रति

सबसे पुरानी और सबसे अधिक महत्व की थी। उसमें सरह के 163 दोहे निकले। तंजूर में तिब्बती अनुवाद में सरह के जो दोहे उपलब्ध हैं, उनकी संख्या 134 है। इस तरह, राहुलजी के तालपत्रों में सरह के दोहों की संख्या सबसे ज्यादा थी।

राहुलजी ने सबसे पहले अपने विस्तृत लेख "वज्रयान और चौरासी सिद्ध" और "हिंदी (अपभ्रंश) के प्राचीनतम कवि और कविताएं" (जो "पुरातत्व निबंधावली" में संकलित हैं) में सरह सहित इस पूरे विषय का खोजपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया था। "चौरासी सिद्ध" लेख अंग्रेजी और फ्रांसीसी में भी छपा था। उसके बाद 1944 ई. में राहुलजी ने "हिन्दी काव्य-धारा" लिखकर सरह, कण्हपा, स्वयंभू आदि अनेक अपभ्रंश कवियों के काव्य का एक अनूठा संकलन प्रस्तुत कर दिया।

अब अपने तालपत्रों की विशेषता स्पष्ट हुई, तो उन्होंने उनसे दोहे उतारना शुरू कर दिया। सोचा, इनका संपादन तथा हिंदी छायानुवाद करके और एक संक्षिप्त भूमिका लिखकर इन्हें प्रकाशित कर देंगे। मगर कार्य गहराता गया। सरह के 14-15 ग्रंथ मूल में नष्ट हो गये हैं, मगर तिब्बती अनुवाद में उपलब्ध हैं। उनको भी हिंदी में कर डाला। बड़ा कठिन काम था। राहुलजी ने अपनी शायद ही किसी अन्य पुस्तक के बारे में लिखा हो कि "काफी परिश्रम का काम था।" जल्दी ही एक विस्तृत (79 पृष्ठ) भूमिका भी लिख डाली, जिसको जनवरी 1955 में बंबई में आयोजित अपने दो भाषणों में प्रस्तुत भी कर दिया। बड़े आकार के करीब 500 पृष्ठों का "दोहाकोश" ग्रंथ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद (पटना) से 1957 में प्रकाशित हुआ।

अक्तूबर (54) के आरंभ में असहयोग के जमाने के बिहार के साथी कार्यानंद शर्मा कुछ दिनों के लिए राहुलजी के पास मसूरी आये। तब राहुलजी प्रकाशकों और मित्रों से मिलने एक पखवाड़े के दौरे पर निकले। प्रयाग पहुंचे। वहां पं. क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय, पं. उदयनारायण तिवारी आदि अनेक मित्रों से मिले। दारागंज जाकर निराला से तो मिलना ही था। राहुलजी सरहपाद पर काम कर ही रहे थे, निराला को अप्रकृतिस्थ देखकर उन्हें सरह याद आ गये। लिखते हैं- "निराला ने सिद्धों का पंथ नहीं पकड़ा, यद्यपि सिद्धों के सभी गुण उनमें थे।.... कभी-कभी मैं ख्याल करता हूं, यदि वह सिद्धों के मार्ग को अपनाकर महामुद्रायुक्त होते, तो अधिक उपकारक होते...।"

प्रयाग से बनारस गये। अपने पुराने स्नेही स्व. बाबू शिवप्रसादजी के "सेवा उपवन" में ठहरे। इस बार भी अपने विद्यार्थी-जीवन के स्थान मोतीराम बाग देखने गये। बगीचा खत्म था, ब्र. चक्रपाणि की कुटिया कायम थी, मगर पुराने निवासियों में से कोई नहीं था। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी के घर गये और पं. रामचंद्र शुक्ल के घर जाकर उनके फोटो का उद्घाटन किया।

काशी-यात्रा के साथ सारनाथ-यात्रा भी अवश्य होती थी। मंदिर और पुराने स्मारकों को पुन: देखने के बाद बर्मी धर्मशाला जाकर पुराने परिचित महास्थविर कित्तिमा से मिले। राहुलजी के भतीजे उदयनारायण पांडे महाबोधि स्कूल में अध्यापक थे और

कित्तिमाजी के पास के स्थान में ही रहते थे।

बनारस लौटकर फिर मिलने-जुलने का व्यस्त कार्यक्रम रहा। राय कृष्णादास का 'कला भवन' अब विश्वविद्यालय में पहुंच गया था। आजमगढ़ जिले के पूर्व-परिचित परमेश्वरीलाल गुप्त अब वहां क्यूरेटर थे। राहुलजी ने संग्रहालय की मूर्तियों, चित्रों और मुद्राओं को देखा।

बनारस से राहुलजी पटना पहुंचे। अपने पुराने मित्र गोरखनाथ त्रिवेदी के दामाद पं. देवेंद्रनाथ शर्मा के घर ठहरे। सम्मेलन भवन जाकर आचार्य शिवपूजन सहाय से मिले। लिखते हैं- ''ऐसा सरल और मधुर स्वभाव साहित्यकार मुश्किल से मिलेगा।'' नागार्जुन पटना में ही थे। उनको साथ लेकर म्यूजियम गये। जायसवाल प्रतिष्ठान से तंजूर के उन भागों को लिया जिनमें सरहपाद की कविताओं के अनुवाद थे। फिर पार्टी आफिस जाकर पुराने साथियों से मिले। नालंदा-यात्रा के लिए भी समय निकाला। वहां भिक्षु जगदीश काश्यप की देखरेख में प्रगति कर रहे पालि प्रतिष्ठान के कार्य को देखा।

पटना से राहुलजी लखनऊ आये और सुविधा के ख्याल से यशपालजी के घर ठहरे। भिक्षु प्रज्ञानंदजी उन्हें बुद्ध विहार भी ले गये। यहां भी रमेश सिन्हा आदि कई साथियों से भेंट हुई। लखनऊ से राहुलजी मसूरी लौटे और सरह की कविताओं का भोट से हिंदी में अनुवाद करने के काम में जोर-शोर से जुट गये।

नवंबर के अंत में भारत-सोवियत मैत्री संघ के सम्मेलन में भाग लेने राहुलजी चार-पांच दिन के लिए दिल्ली गये। वहां से लौटकर दिसंबर (1954) के दूसरे सप्ताह में लिखते हैं- ''अब मैं 62 वर्ष के अंत में था। तीन साल पहले भी शरीर में जितनी शक्ति का अनुभव करते थे, अब उतनी नहीं थी। जरा भी चलने-फिरने में थकावट मालूम होती, छाती भीतर से दुखने लगती।'' उन्होंने अब जाड़े में मसूरी में न रहने का निश्चय किया। 'हर्न क्लिफ' बेचकर किराये के मकान में रहने के बारे में भी सोचने लगे।

फिर उसी दिसंबर महीने में मसूरी से बाहर निकलने का मौका मिला। सरहपाद पर भाषण देने के लिए बंबई से निमंत्रण आया तो राहुलजी ने उसे स्वीकार कर लिया। सोचा, वहां किसी अच्छे हृदय-रोग विशेषज्ञ से जांच भी करवा लेंगे। राहुलजी 30 दिसंबर (54) को बंबई के लिए रवाना हुए।

पुनः पार्टी में

नये साल (1955) का सूर्योदय बंबई में हुआ। मलाबार हिल के पोद्दार-निवास में हर तरह की सुविधा थी, बंबई अस्पताल में डाक्टर से जांच करवाने में भी सेठजी से मदद मिलनेवाली थी। पहले के अनुभव से भी राहुलजी ने जाना था कि पोद्दारजी कुछ भिन्न तरह के सेठ हैं।

पहले ही दिन तीन विद्वानों से भेंट हुई। गये थे म्यूजियम के क्यूरेटर डा. मोतीचंद्र से मिलने, मगर उन्हीं के घर राय कृष्णदास और डा. वासुदेवशरण अग्रवाल भी मिल गये। दो घंटे सत्संग में बीते। 3 और 4 जनवरी को 'ज्ञानसत्र' की ओर से राष्ट्रभाषा समिति में आयोजित सभा में सरहपाद पर राहुलजी ने दो भाषण दिये। 3 जनवरी को ही पं. नाथूराम प्रेमी से मिलने गये तो वहीं पर डा. हीरालाल जैन और प्रो. उपाध्ये से भी भेंट हो गयी। अगले दिन पोद्दारजी के सहयोग से बंबई अस्पताल में राहुलजी की शरीर-प्रकृति की जांच का काम पूरा हुआ, रिपोर्ट बाद में मिलने वाली थी। बंबई-यात्रा के दौरान राहुलजी वहां के पार्टी आफिस भी गये। अब कम्यूनिस्ट पार्टी का केंद्रीय आफिस दिल्ली में स्थानांतरित हो गया था।

राहुलजी 9 जनवरी को मसूरी वापस लौटे। कमला दुबारा मां बननेवाली थीं। जाड़े का समय होने के कारण मसूरी का मेरी अस्पताल बंद था, इसलिए दिल्ली जाने का तय हुआ। 16 जनवरी को सपरिवार दिल्ली पहुंचे। दरियागंज में भैया के घर रहने की व्यवस्था थी ही। प्रसूति के लिए खान मार्केट के एक निजी अस्पताल में इंतज़ाम किया गया। 31 जनवरी (1955) को जया के भाई जेता का जन्म हुआ।

राहुलजी के जीवन में जल्दी ही एक और स्मरणीय दिन आया। वे अक्तूबर 1939 में पहली बार बाकायदा कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य बने थे। फिर दिसंबर 1947 में उन्हें बंबई साहित्य सम्मेलन के अवसर पर पार्टी से पृथक हो जाना पड़ा। अब करीब सात साल बाद पुनः पार्टी-सदस्य बनने का अवसर आया। 5 फरवरी (55) को राहुलजी पार्टी के केन्द्रीय आफिस गये, सेक्रेटरी अजय घोष से बातचीत हुई, पुनः पार्टी सदस्य होने की बात कही। साथी अजय ने कहा- 'स्वागत है'। राहुलजी ने उसी दिन आवेदन-पत्र दे दिया। लिखते हैं- "मुझे उस दिन बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं डरता था, पार्टी मेंबर न रहते कहीं महाप्रयाण न करना पड़े। .... अपने पुराने साथियों से मैं दिल खोलकर मिलता था, लेकिन एक तरह का बिलगाव देखकर तबीयत असंतुष्ट होती थी। मैंने कहा, अब जीवन भर के लिए पार्टी का मेंबर हुआ"।

एक दिन राहुलजी राजकमल प्रकाशन गये तो वहां से "मैला आंचल" की प्रति मिली। उस समय उनके पास समय था, आद्योपांत पढ़ गये। लिखते हैं- "मैं फणीश्वरनाथ रेणु की लेखनी का कायल हो गया। मैं तो समझता हूं, बड़े उपन्यासों में प्रेमचंद के बाद ऐसा सुंदर उपन्यास कोई नहीं लिखा गया।"

11 फरवरी को पार्टी के मुखपत्र "न्यू एज" में छपा कि राहुलजी फिर से कम्यूनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये; और, संयोग से उसी दिन उनका राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू से मिलना तय था। गये; स्वास्थ्य, साहित्य और तिब्बत के बारे में बातचीत हुई। पूछा- 'कोई सहायता की जरूरत है?' राहुलजी ने इतना ही कहा- "यद्यपि मेरा स्वास्थ्य पहले जैसा नहीं है, पर आजकल तिब्बत में पुराने मठों और पुस्तकालयों को खोल देने की जो खबरें मिल रही हैं, उसके कारण मैं तिब्बत जाना चाहता हूं। उसके लिए पासपोर्ट के बारे में आपको सहायता करनी पड़ेगी।" और राजेंद्र बाबू ने उसके लिए कोशिश भी की।

अगले दिन 12 फरवरी (55) को पहली बार एक ऐसी बात उठी जिसने आगे कुछ साल तक राहुलजी की मनस्थिति को काफी प्रभावित किया। उस दिन पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी और डा. राजबली पांडे एक प्रस्ताव लेकर आये। कहा- "काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 'हिंदी विश्वकोश' प्रकाशित करने की एक योजना केंद्रीय शिक्षा विभाग के पास दी है। छ: लाख रुपए के खर्च से पांच साल में इस काम को पूरा करना है।.... प्रधान संपादक और चार सहायक संपादक होंगे। हमारे काम की बड़ी अड़चन दूर हो जाएगी, यदि आप प्रधान संपादक होना स्वीकार करें।"

राहुलजी ने उस समय कोई निश्चय नहीं किया, किंतु कुछ महीने बाद अंत में अपनी स्वीकृति भेज दी।

उसी समय के दिल्ली-निवास में एक साहित्य-गोष्ठी और जेता के जन्म के उपलक्ष्य में आयोजित चाय-पार्टी में कई साहित्यकारों से भेंट-बातचीत हुई। राहुलजी 15 फरवरी को, एक सदस्य की बढ़ोत्तरी के साथ, सपरिवार मसूरी वापस लौटे।

मगर मसूरी से अब राहुलजी का मन भर गया था। उन्होंने "हर्न क्लिफ" को बेचने का निश्चय कर लिया। उसी साल मई में 'स्टेट्समैन' में एक विज्ञापन भी निकाल दिया। मगर आधे दाम पर भी लेने के लिए कोई सामने नहीं आया। राहुलजी ने सोचा था कि मसूरी में आठ महीने किराए पर रहेंगे और चार महीने देरहादून चले जाएंगे। मगर गृहिणी ने अपने और बच्चों के भविष्य का ख्याल करके पीहर कालिंपोङ् को ज्यादा पसंद किया था। राहुलजी ने निर्णय अंतत: उन्हीं पर छोड़ दिया।

इस बार के सीजन में भी कई मेहमान और भेंट करने वाले आये। आनंदजी सीजन के पहले मार्च में ही आकर दो दिन बाद चले गये थे। बहुत साल पहले राहुलजी ने "जातक" के अनुवाद का कार्य उन्हें सौंपा था। इस बार उन्होंने जब बताया कि छह खंडों में जातकों का अनुवाद पूरा हो गया है, तो सुनकर राहुलजी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

"दोहाकोश" का कार्य समाप्त हो गया था। एक नया कार्य भी अचानक सूझ गया। राहुलजी 1927-28 में जब श्रीलंका के विद्यालंकार विहार में संस्कृत के अध्यापक बनकर गये थे, तो वहां के भिक्षुओं को सुगमता से संस्कृत पढ़ाने के उद्देश्य से उन्होंने पांच छोटी पुस्तकें लिखी थीं। "संस्कृत पाठमाला" की वे पुस्तकें सिंहल भाषा और लिपि में उसी समय छप गयी थीं। उनके वहां कई संस्करण छपे।

अब राहुलजी को ख्याल आया कि उन पुस्तकों को हिंदी के साथ नयी तरह से तैयार किया जाए। वे "संस्कृत पाठमाला" की उन पांच पुस्तकों का संशोधित-परिवर्धित संस्करण तैयार करने में जुट गये। वे पुस्तकें चौखंबा, वाराणसी से 1956 में प्रकाशित हुईं।

जब राहुलजी "संस्कृत पाठमाला" का हिंदी संस्करण तैयार कर रहे थे, तो उन्हें लगा कि लगे हाथ "संस्कृत काव्यधारा" को भी पूरा कर डालना चाहिए। बहुत सालों से राहुलजी सोचते आ रहे थे कि हिंदी अनुवाद सहित संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रतिनिधि काव्य संकलन तैयार होने चाहिए। "हिंदी काव्य-धारा" के रूप में "अपभ्रंश काव्य" उन्होंने 1944 ई. में ही तैयार कर दी थी। उन्हें आशा थी कि संस्कृत, पालि और प्राकृत काव्यधाराएं दूसरे अधिकारी विद्वान तैयार कर देंगे। मगर लंबा अरसा गुजर जाने पर भी किसी ने यह काम नहीं किया तो स्वयं राहुलजी ने ही 1955 ई. में "संस्कृत काव्यधारा" (1096 पृष्ठ) को लिख डाला। फिर आगे उन्होंने ही "पालि काव्यधारा को भी पूरा किया, किंतु वह कृति आज भी अप्रकाशित है! "प्राकृत काव्यधारा" को तैयार करना आज तक भी किसी के लिए संभव नहीं हुआ।

"संस्कृत काव्यधारा" में 12वीं सदी के पूर्वार्ध के बंगाल के कवि आचार्य गोवर्धन की एकमात्र कृति "आर्यासप्तशती" के भी कुछ नमूने संकलित हैं। उनमें से एक आर्या को राहुलजी अपने दाम्पत्य जीवन के संदर्भ में अक्सर स्मरण कर लेते थे-

निष्कारणापराधं निष्कारणकलहरोषपरितोषम् ।
सामान्यमरणजीवनसुखदु:ख जयति दाम्पत्यम् ॥

अर्थात्, अकारण अपराध, अकारण कलह-रोष और परितोषवाले, एक साथ मरण-जीवन व सुख-दु:खवाले दांपत्य जीवन की जय हो!

उसी साल राहुलजी ने एक और पुस्तक का अनुवाद किया। शिमला-यात्रा में उन्हें एक कबाड़ी से एक पुरानी पुस्तक मिली थी, जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य के वीरों की जीवनियां, आंकड़ों सहित, बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत की गयी थीं। राहुलजी ने उनका "भारत में अंग्रेजी राज के संस्थापक" शीर्षक से अनुवाद कर डाला।

एक और काम राहुलजी ने उसी साल पूरा कर डाला : चंद्रसिंह गढ़वाली (1891-1979) की जीवनी लिख डाली। वाकया पेशावर का 23 अप्रैल, 1930 का है। खान अब्दुल गफार खान को गिरफ्तार किये जाने के विरोध में उनके अनुयायी (खुदाई खिदमतगार) और बहुत से निहत्थे सत्याग्रही पेशावर के किस्सा खानी बाजार और

सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे थे। ब्रिटिश अफसर और पलटन भी मौजूद थी। गढ़वाली कंपनी जिसके प्रमुख चंद्रसिंह गढ़वाली थे, सत्याग्रहियों को घेरे हुई थी। हुक्म देने पर भी सत्याग्रही नहीं हटे तो कमांडर रिकेट ने गढ़वाली कंपनी को गोली चलाने का आदेश दिया। चंद्रसिंह गढ़वाली फौरन सामने आये, और बोले-"गढ़वाली, गोली नहीं चलेगी।" और, सभी गढ़वाली सिपाहियों ने हथियार जमीन पर रख दिये!

कमांडर ने हुक्म तोड़ने का कारण पूछा तो चंद्रसिंह का उत्तर था- "सत्याग्रही निहत्थे हैं। निहत्थों पर गोली चलाना हमारे धर्म के खिलाफ है। हम देश की रक्षा करने के लिए फौज में भरती हुए हैं, निहत्थे भाइयों पर गोली चलाने के लिए नहीं।" वस्तुत: कुछ दिन पहले ही चंद्रसिंह ने अपने गढ़वाली साथियों से प्रतिज्ञा करवायी थी कि वे निहत्थे सत्याग्रहियों पर गोली चलाने का हुक्म नहीं मानेंगे।

उस कंपनी के अधिकांश गढ़वाली सिपाहियों को बरखास्त कर दिया गया। कइयों को 3 से 20 साल तक की सजा हुई। चंद्रसिंह गढ़वाली को आजन्म कारावास की सजा सुनायी गयी। उतना ही नहीं, उनकी पांच एकड़ जमीन, दो बैल, हल आदि सामान और एक गाय नीलाम कर दी गयी। गढ़वाली की पत्नी और बच्चों को बड़े कष्ट झेलने पड़े।

बैरिस्टर मुकुंदीलाल ने चंद्रसिंह गढ़वाली के मुकदमे की पैरवी की थी। उन्होंने मुकदमे की फाइल राहुलजी को सौंप दी। 1933 ई. तक लिखी गयी उनकी आत्मकथा भी उपलब्ध थी। राहुलजी ने 7 सितंबर (55) को चंद्रसिंह गढ़वाली की जीवनी में हाथ लगा दिया। साथ ही, उन्हें मसूरी आने के लिए पत्र भी लिख दिया। वे 26 सितंबर को आये और 7 अक्तूबर तक राहुलजी के साथ रहे। दोपहर को राहुलजी उनकी जीवनी के नोट लेते और दूसरे दिन उन्हें टाइपरायटर पर डिक्टेट कराते। राहुलजी चंद्रसिंह गढ़वाली को 'बड़े भाई' कहते थे। लिखते हैं- "बुढापे का असर था, यद्यपि उत्साह अब भी उनमें तरुणों जैसा था।... बड़े जीवटवाले पुरुष हैं, कर्मठ और स्वच्छ हृदय भी।...निर्भीकता और निर्लोभन की वह साक्षात् मूर्ति हैं। अपने विचारों पर इतने दृढ़ कि सारे आर्थिक कष्टों की पर्वाह नहीं करते।"

राहुलजी ने सरदार पृथ्वीसिंह की भी जीवनी लिखी। मगर सरदार और गढ़वाली की स्थितियों में जमीन-आसमान का अंतर था। सरदार पृथ्वीसिंह ने अपने व्यक्तिगत साहस के प्रदर्शन का खूब लाभ उठाया, उन्हें भरपूर सरकारी सहायता मिली, कम्यूनिस्ट पार्टी ने भी उन्हें आखिरी दिनों तक अपना कौतुकिया बनाकर रखा। कई गुना अधिक साहस और त्याग का परिचय देने पर भी चंद्रसिंह गढ़वाली ने अपना जीवन कष्टों में ही गुजारा, हालांकि वे भी जीवन के अंतिम क्षणों तक कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रति वफादार बने रहे।

उन्हीं दिनों राहुलजी ने एक और व्यक्ति की जीवनी लिखने का मन बनाया था। अक्तूबर में एक दिन राजा महेन्द्रप्रताप मसूरी आये। महान स्वतंत्रता-सेनानी तो थे ही, मगर राहुलजी के लिए सबसे अधिक आकर्षण की बात थी उनका घुमक्कड़ी का

जीवन। राहुलजी उनके जीवन के विस्तृत नोट लेना चाहते थे, मगर राजा साहब कुछ दिनों तक एक जगह टिके रहने वाले प्राणी नहीं थे। जीवनी लिखने की बात मन में ही रह गयी।

अक्तूबर में कुछ दिन जेता को बुखार रहा। बुखार के हटने पर कई दिन बाद पता चला कि उसका दायां हाथ उठ नहीं रहा है। 'पोलियो' का नाम सुनकर माता-पिता का घबरा जाना स्वाभाविक था। बाद में जाकर हाथ काम करने लायक तो बना, मगर उसमें बायें हाथ जैसी पूरी ताकत नहीं आयी।

"हर्न क्लिफ" की बिक्री के लिए विज्ञापन निकाला, तब भी कोई ग्राहक नहीं मिला। साथी डांगे ट्रेड यूनियन के लिए मसूरी में कोई मकान खरीदना चाहते थे। राहुलजी ने ट्रेड यूनियन के लिए घाटे पर बेचने के लिए तैयार हो गये। बंगला 17 हजार में खरीदा था और करीब तीन हजार फ्लश-मरम्मत आदि पर खर्च हुए थे। साथी डांगे ने दाम पूछे, तो राहुलजी ने दस हजार कह दिये। उन्होंने कहा-मंजूर। मगर, राहुलजी के ही शब्दों में कहें तो, "अभी प्याले और ओंठ में काफी दूरी थी!"

प्रकाशकों का कोई भरोसा नहीं था। राहुलजी को भविष्य की आर्थिक चिंता सता रही थी। राहुलजी चीन या चेकोस्लोवाकिया चलने की बात करते, पर गृहिणी कालिंपोङ् के बारे में पक्का इरादा बना चुकी थी।

पिछले साल दिसंबर के जाड़े में राहुलजी के कलेजे में दर्द हुआ था, इसलिए अब के उन्होंने जाड़े के दिनों में मसूरी से बाहर रहने का कार्यक्रम बनाया। 14 दिसंबर (55) को देहरादून पहुंचे हमेशा की तरह पं. गयाप्रसाद शुक्ल के घर। "हिमाचल प्रदेश" और "जौनसार-देहरादून" लिख चुके थे। इधर दो सालों में देहरादून के नजदीक के एक जंगल में महत्वपूर्ण पुरावशेष मिले थे। अगले दिन शुक्लजी और सर्वे विभाग के मेहताजी को साथ लेकर खुदाई के उस काम को देखने गये। ईसा की पहली-दूसरी सदी में इस क्षेत्र के राजा शीलवर्मा ने चार अश्वमेध यज्ञ किये थे। यहां उनकी चितियां (वेदियां) मिलीं। एक चिति बाज (श्येन) पक्षी के आकार की है। कुछ खंडित ईंटों पर कुषाण-ब्राह्मी में लेख भी मिला है।

राहुलजी लगे हाथ यमुना का पुल पार करके कालसी भी पुन: चले गये। वहां एक शिला पर सम्राट अशोक के शिलालेख उत्कीर्ण हैं।

राहुलजी 17 दिसंबर को दिल्ली पहुंचे। भैया के घर गये। दिल्ली में प्रादेशिक साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था, जिसमें राहुलजी ने सभापति का भाषण दिया। राहुलजी रहीम की समाधि देखने गये। निजामुद्दीन की दरगाह भी पास थी। खुसरो भी पास ही में सो रहे थे, और गालिब का मकबरा भी नजदीक ही था।

दिल्ली से राहुलजी कानपुर पहुंचे। वहां तीन दिन तक समारोहों और साहित्यिक गोष्ठियों का बड़ा व्यस्त कार्यक्रम रहा। वहां से प्रयाग गये। किताबों की छपाई का प्रबंध करना था, इसलिए किताब महल के श्रीनिवास अग्रवाल के घर ठहरे। प्रयाग

आये, तो निराला से मिलना जरूरी था। लिखते हैं-"आजकल वह सिर्फ अंग्रेजी में बात करते थे। कुछ देर बात करके मैं वहां से उठा, तो वह भी बाहर निकल आये। फोटो लिये और नमस्कार करके बिदा हुआ।"

नागार्जुन और भगवतशरण उपाध्याय भी उन दिनों प्रयाग में ही थे। भगवतशरणजी के बारे में राहुलजी लिखते हैं- "यदि हिंदी विश्वकोश का प्रधान संपादक मुझे बनना पड़ा, तो उनकी जरूरत मैं सबसे अधिक समझता। लेकिन अभी तो वह केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के कारण खटाई में पड़ा हुआ था।"

वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से एक बड़े साहित्य सम्मेलन का आयोजन था। वहां बहुत से साहित्यिक मित्रों से भेंट होगी, इस ख्याल से राहुलजी ने भी जाना स्वीकार कर लिया। वर्धा-सम्मेलन में प्रयाग के बहुत से साहित्यकार तो पहुंचे ही थे, अन्य स्थानों के भी साहित्यकार और हिंदी-सेवी आये थे। कालिंपोङ् से आनंदजी भी आये हुए थे। सम्मेलन सफल रहा।

नए साल (1956) का आरंभ वर्धा में ही हुआ।

पुरानी स्मृतियों का लेखा

राहुलजी वर्धा जाते थे तो सेवाग्राम की यात्रा भी आवश्यक हो जाती थी। नये साल के पहले दिन सेवाग्राम जाकर तालीमी संघ और महिला आश्र॰ को भेंट दी, शिक्षार्थियों के सामने भाषण भी दिया।

राहुलजी को वर्धा से वापस मसूरी नहीं, बल्कि प्रयाग लौटकर बनारस, पटना, छपरा और आगे कलकत्ता भी जाना था। मित्रों से मुलाकात के अलावा प्रकाशकों से मिलकर अपनी किताबों के प्रकाशन की भी व्यवस्था करनी थी। राहुलजी की किताबें खूब बिकती थीं, मगर अपने प्रकाशकों से वे संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने लिखा भी है– "प्रकाशक के बारे में लेखकों की शिकायत निर्मूल नहीं होती, और शायद प्रकाशकों की शिकायत को भी सदा निर्मूल नहीं कहा जा सकता। पर, लेखक भिक्षु न होने पर भी अपनी मजूरी पाने के लिए हाथ के नीचे हाथ रखने के लिए मजबूर है, और प्रकाशक हाथ के ऊपर हाथ। इसका वह बहुधा दुरुपयोग भी करता है।"

राहुलजी वर्धा से प्रयाग लौटे तो वहां के अपने प्रमुख प्रकाशक के घर ही ठहरे। किताब महल के साथ तय हुआ कि वे 20 प्रतिशत की बजाए 15 प्रतिशत ही रायल्टी लेंगे, मगर प्रकाशक उन्हें प्रतिमाह 500 रु. भेजता रहेगा। हिसाब होता रहेगा। राहुलजी प्रतिमाह 500 रु. की नियमित व्यवस्था इसलिए चाहते थे कि उससे कम में उनका गुजारा नहीं हो सकता था। गृहस्थ-जीवन के कारण आर्थिक चिंता अब उन्हें काफी परेशान करने लगी थी। लिखते हैं– "आर्थिक चिंता स्वाभिमानी और अनेक मित्रों वाले आदमी के लिए सबसे बड़ी मुश्किल है।"

बनारस में बहुत व्यस्त कार्यक्रम रहा। कई जगह भाषण देने पड़े। साहित्यिक गोष्ठियों में भी भाग लिया। विश्वविद्यालय में 'कला भवन' म्यूज़ियम को देखा। हर बार की तरह इस बार भी अपने विद्यार्थी जीवन के मोतीराम के बगीचे को देखने गये। अब वहां गोयनका पाठशाला थी। लिखते हैं–"पर, मोतीराम के बगीचे का नाम मेरे लिए जितना प्रिय है, उतना यह नाम नहीं।.... अपने समय के निष्कपट संत महाविद्वान मंगनी ब्रह्मचारी का नाम मिटाकर यह विद्यालय खोला गया।... सेठों ने कोई धर्मपूर्वक धन नहीं कमाया है कि उन्हें मनमानी करने के लिए छोड़ दिया जाए।"

बनारस आये थे, तो सारनाथ भी जाना जरूरी था। राहुलजी के भतीजे उदयनारायण पांडे वहां के स्कूल में अध्यापक थे। उनसे कनैला के उनके भाईबंदों के बारे में ताजा जानकारी मिली।

बनारस से राहुलजी पटना गये। यहां भी खूब व्यस्त कार्यक्रम रहा। समय निकालकर वे राजगृह और नालंदा भी गये। नालंदा के पालि इंस्टीट्यूट का नाम अब "नव नालंदा विहार" था, जो राहुलजी को अधिक उपयुक्त लगा। एक समय था जब स्वयं राहुलजी ने नालंदा में एक विद्यापीठ की स्थापना का सपना सजोया था, और उस समय की अपनी पुरानी पुस्तकों पर मुहर भी लगा दी थी : "श्रीनालन्दाऽऽर्य विद्यालयाय सांकृत्यायनस्य"।

नालंदा में राहुलजी काश्यपजी से भी मिले। जानकारी मिली कि पालि त्रिपिटक संपादित होकर देवनागरी लिपि में छपने लगा है। यह उनके लिए बड़ी खुशी की बात थी, क्योंकि राहुलजी ने जब पालि और बौद्ध धर्म का अपना अध्ययन आरंभ किया था, तब देवनागरी (हिंदी) में छोटे से "धम्मपद" को छोड़कर कोई पालि ग्रंथ उपलब्ध नहीं था। राहुलजी ने काश्यपजी को सलाह दी कि वे देवनागरी त्रिपिटक की कम से कम सौ या पचास ही प्रतियां हाथ के कागज पर जरूर छपवाएं। यह सलाह इसलिए थी कि हाथ के कागज पर छपी पुस्तकें कुछ ज्यादा साल तक टिकती हैं। राहुलजी अपने "दोहाकोश" और "मध्य-एशिया का इतिहास" की भी सौ-पचास प्रतियां हाथ के कागज पर छपवाने के लिए बड़े उत्सुक थे।

पटना-निवास के दौरान ही राहुलजी के सोनपुर-छपरा-परसा-अतरसन दौरे का कार्यक्रम बना। यह अच्छा ही रहा। पुराने अनेक संगी-साथियों से भेंट हुई, "मेरे असहयोग के साथी" पुस्तक लिखने के लिए प्रेरणा व सामग्री, दोनों चीजें मिल गयीं। सबसे पहले सोनपुर गये। धूपनाथजी के भतीजे वीरेन्द्रजी साथ थे। सभी जगह पहले से खबर पहुंच गयी थी, इसलिए सभी जगह राहुल बाबा का खूब स्वागत हुआ। सोनपुर के स्वराज्य आश्रम में 'बाबा' का भाषण हुआ। राहुलजी लिखते हैं– "पुराने परिचितों और नई पीढ़ी ने अपने पुराने सुराजी कर्मी का अकृतिम स्वागत किया। मैंने भी अपने को धन्य-धन्य माना।"

नयागांव गये। वहां के स्कूल में भाषण दिया। भिखारी ठाकुर उसी स्कूल में अध्यापक थे। राहुलजी लिखते हैं– "मैं तो इनके जैसे लोगों को असली तपस्वी मानता हूं।" दिसंबर 1947 में गोपालगंज में आयोजित भोजपुरी सम्मेलन के सभापति-पद से भी राहुलजी ने अपने भोजपुरी भाषण में कहा था– "हमनी के बोली में केतन जोर हवे, केतन तेज बा, इ अपने सब भिखारी ठाकुर के नाटक में देखी ले।... भिखारी ठाकुर हमनी के एगो अनगढ़ हीरा हवे।"

छपरा गये, हमेशा की तरह गोरखनाथ त्रिवेदी के घर पहुंचे। शाम को टाउन हाल में भाषण हुआ। पहले परसा जाकर पुनः छपरा लौटना था। 30 साल बाद राहुलजी परसा जा रहे थे। सबसे पहले 1912 में परसा मठ के उत्तराधिकारी बनने वे वहां गये थे। फिर महंतजी के बुलावे पर कई बार परसा जाना हुआ। पिछली बार 30 मार्च, 1927 को वे कौंसिल के चुनाव के दौरान एक कांग्रेसी उम्मीदवार के समर्थन में भाषण देने तब परसा गये थे, जब वे साधु रामोदारदास के नाम से राजनीतिक कार्य कर रहे

थे। परसा की उनकी सभा में विरोधी जमींदार उम्मीदवार के कुछ आदमियों ने विघ्न डाला था, गाली-गलौज की थी। राहुलजी ने उसी रात प्रतिज्ञा की- "जब तक जमींदारी प्रथा रहेगी, मैं फिर परसा में पैर नहीं रखूंगा!"

जमींदारी प्रथा खत्म होने पर अब पहली बार वे परसा जा रहे थे। मठ में जाकर गुरुबंधुओं से मिले; सम्पत्ति की व्यवस्था के बारे में सलाह मांगी, दे दी। गढ़ के पुराने जमींदार परिवारों से भी राहुलजी मिले। राहुलजी जब यहां के मठ में वैष्णव साधु थे तो कुछ भक्तों को उन्होंने मंत्र-दीक्षा दी थी। उनमें से एक बुढ़िया अपने गुरु का सालों बाद दर्शन करके गद्‌गद हो गयी। उसने चरणामृत लिए बिना राहुलजी को नहीं छोड़ा!

राहुलजी ने अपनी पहली पुस्तक "बाईसवीं सदी" में जिस पुराने अच्छे बड़े गांव का दयनीय चित्र खींचा है, वह यही परसा गांव था। आज भी परसा की वही दयनीय स्थिति थी।

लौटते वक्त एकमा में रुके और असहयोग के जमाने के अपने साथियों से मिले। आरंभिक दौर में एकमा राहुलजी के राजनीतिक कार्य का हेडक्वार्टर था। उसी दिन शाम को धूपनाथजी के गांव अतरसन पहुंचे। 1926 से ही राहुलजी के धूपनाथजी के साथ मित्रता के संबंध थे।

छपरा लौटने पर वहां भी बड़ा व्यस्त कार्यक्रम रहा। वहां के राजेंद्र कालेज गये, जिसके विकास में राहुलजी ने भी काफी योग दान दिया था। वहां के कई पुराने मित्रों से मिले। रात का भोजन गोरखनाथ त्रिवेदी के घर पर हुआ।

इस तरह, तीन दिन की सोनपुर, छपरा, परसा और अतरसन की दौड़ती यात्रा करके राहुलजी 19 जनवरी (56) को रात को पटना लौट आये। अगला दिन पटना में बिताकर आगे कलकत्ता के लिए रवाना हुए। कलकत्ता में पहले की ही तरह साहु मणिहर्ष ज्योति के निवास पर ठहरे। राहुलजी सुनीति बाबू से मिले। स्वामी विवेकानंद के अनुज डा. भूपेंद्र दत्त से राहुलजी दो बार मिले। भूपेन दा भी राहुलजी की ही तरह अनीश्वरवादी मार्क्सिस्ट थे।

कलकत्ता जाने पर पं. विधुशेखर भट्टाचार्य से मिलना भी आवश्यक था। राहुलजी तिब्बत की अपनी तीसरी यात्रा (1936) में साक्या से असंग की "योगाचार भूमि" को उतार लाये थे। पं. विधुशेखरजी पिछले दस-बारह साल से उसके संपादन में लगे हुए थे, मगर प्रेस के असहयोग के कारण कार्य पूरा नहीं हो रहा था। राहुलजी से कह रहे थे- "अब आप ही इसकी नैया पार करेंगे।"

राहुलजी ने महाबोधि सोसायटी में बुद्ध-दर्शन पर भाषण दिया। कलकत्ता में ही उनकी "बौद्ध संस्कृति" पुस्तक छप रही थी। उसके ब्लाकों से ही उन्होंने जैसे-तैसे उसकी एक प्रति तैयार करवायी, और 27 जनवरी को कलकत्ता छोड़ा। तीन दिन लखनऊ में रुके, अपनी किताबों की छपाई का काम देखा, मित्रों से मिले। 3 फरवरी को मसूरी वापस लौटे। अपने बच्चों के बीच लौटकर पिता को खुशी होती ही है।

घर लौटने पर लिखने-पढ़ने का नियमपूर्वक जीवन फिर से शुरू हो गया। "संस्कृत काव्यधारा" के शेष भाग को लिखकर उसे भी प्रेस में भेज देना था। फरवरी में ही अगस्त 1947 से आगे की "मेरी जीवन-यात्रा" लिखने में हाथ लगा दिया।

अगले महीने से अखबारों में स्तालिन की कड़ी आलोचना होने की खबरें आने लगीं। जहां दूसरे कई कम्यूनिस्ट इससे परेशान थे, वहां राहुलजी बड़े खुश थे। लिखते भी हैं- "स्तालिन-पूजा का विनाश सोवियत भूमि में बहुत बड़ा काम हुआ है।"

जेता के पोलियो से प्रभावित दाएं हाथ को विशेषज्ञों को दिखाना जरूरी था, इसलिए राहुलजी अप्रैल के आरंभ में एक सप्ताह के लिए सपरिवार दिल्ली गये। वहां के सफदरजंग अस्पताल में जाकर डाक्टर की सलाह ली। पार्टी आफिस जाकर साथियों से मिले। सब जगह स्तालिन की चर्चा थी। राहुलजी का मत था कि "निर्बलता को हटाकर विश्व साम्यवाद और भी मजबूत होगा, और भी फैलेगा।"

राहुलजी बच्चों के साथ मसूरी वापस लौटे। 9 अप्रैल (1956) को उनका जन्मदिन था। उस दिन वे पूरे 63 साल के हुए। इस बार पार्टी-वार्टी न करके घर में ही विशेष भोजन-पानी करने का निश्चय किया। सबेरे नित्य नियम के अनुसार तीन घंटे टाइपरायटर पर लिखवाने का भी काम पूरा किया।

बस, राहुलजी ने अपनी "जीवन-यात्रा" उसी दिन तक लिखी है। अब आगे के सात सालों का मोटा-मोटा विवरण विभिन्न स्रोतों के आधार पर दिया जा रहा है।

राहुलजी ने 1956 के साल में कई किताबें लिखीं। अपने पितृग्राम कनैला से संबंधित दो ऐतिहासिक कहानियां- 'सैयद बाबा' और 'बड़ी रानी'- उन्होंने 1955 में ही लिख डाली थीं। इस साल कुछ और कहानियां लिखी गयीं। फरवरी 1957 में राहुलजी ने आजमगढ़ की पुरातत्व-यात्रा की, कनैला भी गये, और तब जल्दी ही "कनैला की कथा" (कुल 9 कहानियां) भी छप गयीं।

राहुलजी ने "रूस में पच्चीस मास" (1944-47) पुस्तक 1951 में लिखी थी, जो बाद में "मेरी जीवन-यात्रा" का तीसरा खंड बनी। जैसा कि ऊपर बताया गया है, अगस्त 1947 से 9 अप्रैल 1956 तक की अपनी "जीवन-यात्रा" राहुलजी ने 1956 में ही लिख डाली थी, मगर वह "मेरी जीवन-यात्रा" के खंड 4 और 5 के रूप में उनके देहांत के चार साल बाद 1967 ई. में प्रकाशित हुई।

मसूरी आने पर अगस्त 1950 में पहली बार राहुलजी का स्वामी हरिशरणानंद से परिचय हुआ था, जो बाद में घनिष्ट संबंधों में रूपांतरित हो गया। राहुलजी उन्हें भैया कहते थे। भैया और भाभी हर साल मसूरी आते थे। राहुलजी भी कई बार अमृतसर उनके घर गये। दिल्ली में भी उनका एक मकान था। राहुलजी दिल्ली जाने पर प्राय: वहीं ठहरते थे। "घुमक्कड़ स्वामी" के नाम से राहुलजी ने 1956 में उनकी भी जीवनी लिख डाली।

सन 1956 के आरंभ में राहुलजी ने पटना पहुंचकर छपरा, सोनपुर, एकमा, नयागांव, परसा आदि स्थानों की यात्रा की थी और उन्होंने अपने पुराने राजनीतिक

जीवन के संगी-साथियों से भेंट-बातचीत की थी। वह एक प्रकार से पुरानी स्मृतियों को ताजा करनेवाली यात्रा थी। राहुलजी ने मसूरी लौटकर "असहयोग के मेरे साथी" पुस्तक लिख डाली। फिर लगे हाथ उन्होंने उसी साल "जिनका मैं कृतज्ञ" पुस्तक भी लिख डाली। उसमें श्रीलंका के नायकपाद धर्मानंद, भदंत आनंद कौसल्यायन, साथी महमूद, डा. काशीप्रसाद जायसवाल, आचार्य नरेन्द्रदेव आदि विभूतियों का परिचय और उनके साथ राहुलजी के संबंधों के बारे में जानकारी है।

उसी साल राहुलजी ने एक बड़े ही महत्व की पुस्तक लिखी- "ऋग्वेदिक आर्य"। इसमें ऋग्वेद का भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ के मुख्य भाग में हिंदी अनुवाद में ऋचाओं के उद्धरण देकर आर्य जन, ऋग्वेदिक ऋषि, दस्यु, आदिम आर्य राजा, ऋग्वेदिक समाज के देवता, खान-पान, क्रीडा-विनोद, भाषा-काव्य, आर्य नारी आदि के बारे में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट-भाग मूल पुस्तक से बड़ा है, जिसमें विवेचित विषयों से संबंधित मूल ऋचाएं बाईं ओर देकर दाईं ओर उनका अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। हिंदी में यह अपनी तरह की पहली पुस्तक है। इसी गहन अध्ययन का उपयोग करके राहुलजी ने बाद में, 1960 में, "दिवोदास" नामक उपन्यास लिखा।

दिसंबर 1955 की बात है। राहुलजी कालसी की यात्रा करके देहरादून में शुक्लजी के यहां आकर ठहरे थे। फारसी की अच्छी शिक्षा प्राप्त वहां के एक वकील अपनी पत्नी को साथ लेकर उनसे मिलने आये। पत्नी एम.ए. कर चुकी थी। वह चाहती थीं कि राहुलजी उनके पी-एच.डी. के निर्देशक बनें। राहुलजी ने उन्हें रहीम पर अनुसंधान-कार्य करने की सलाह दी। कहा- "रहीम के बारे में फारसी में काफी सामग्री है, आपके पति सहायता करेंगे।"

फिर उसी महीने राहुलजी दिल्ली गये तो एक दिन अब्दुर्रहीम खानखाना की समाधि देखने गये। जनवरी (56) में बनारस की यात्रा पर गये तो वहां विश्वविद्यालय के कला-भवन संग्रहालय में रहीम की एक तस्वीर भी देखी। तात्पर्य यह कि, रहीम के मकबरे और चित्र के दर्शन ने राहुलजी को रहीम की एक छोटी जीवनी लिखने की प्रेरणा दी। रहीम के बाद अकबर के दूसरे रत्नों के बारे में भी कलम उठने लगी। फिर सोचा, अकबर के बारे में हिंदी में एक अच्छी किताब ही लिख डालनी चाहिए। 1956 के सैलानी सीजन में "अकबर" (356 पृष्ठ) ग्रंथ तैयार हो गया।

अकबर के बारे में विंसेंट स्मिथ का अंग्रेजी ग्रंथ उपलब्ध था। अकबर के साथ न्याय करने वाले शम्शुल्‌उल्मा मौलाना मुहम्मद हुसेन "आजाद" की किताब "दरबार-अकबरी" का हिंदी अनुवाद भी उपलब्ध था। मगर राहुलजी ने महसूस किया कि अकबर को एक नये व्यापक नजरिए से समझना जरूरी है। उनके मत में, "अशोक के बाद हमारे देश में दूसरा महान ध्रुवतारा अकबर ही दिखाई पड़ता है। ....अकबर सही अर्थों में देशभक्त, अपने राष्ट्र का परम उन्नायक था। ... अकबर का रास्ता आज

बहुत हद तक हमारा रास्ता बन गया है। अकबर 16 वीं सदी नहीं, बल्कि 20 वीं सदी का हमारे देश का सांस्कृतिक पैगम्बर है।"

राहुलजी की दृष्टि में अकबर की भूमिका इसलिए महान थी कि उसने दो संस्कृतियों के संघर्ष को सुलझाने का एक ऐसा चतुर्दिक प्रयास किया जिसके पीछे कोई दूसरा छिपा उद्देश्य नहीं था। अकबर ने संस्कृतियों के महान समन्वय का बीड़ा उठाया था। राहुलजी ने "अकबर" के परिशिष्ट "संस्कृतियों का समन्वय" में इस पूरे मसले का भाषा, साहित्य, धर्म आदि के पहलुओं से विवेचन किया, और एक उदाहरण के रूप में स्वयं को ही पेश कर दिया–

"संस्कृति और धर्म एक चीज नहीं है, इसका उदाहरण मैं स्वयं हूं। बुद्ध के प्रति बहुत सम्मान रखते हुए भी, उनके दर्शन को बहुत हद तक मानते हुए भी, मैं अपने को बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं कह सकता। अनुयायी होता, तो भी भारतीय संस्कृति को अपनी प्यारी संस्कृति मानता, पूरा नास्तिक होते हुए भी भारतीय संस्कृति के प्रति मेरा वैसा ही आदर और अटूट संबंध है। इसलिए मैं दावे के साथ अपने को उस संस्कृति का उत्तराधिकारी मानता हूं। किसी की मजाल नहीं, कि मुझे इस हक से वंचित कर सके, या उग्र स्वतंत्र विचारों के लिए मुझ से संबंध-विच्छेद कर सके। जायसी ने साहित्य के साथ अपनी अभिन्नता रखी और आज जायसी कट्टर हिंदू के लिए भी शिरोधार्य हैं।"

राहुलजी ने 1956 के साल में खूब लेखन-कार्य किया, और यात्राएं भी कई कीं। साल के आरंभ में उन्होंने वर्धा से लेकर कलकत्ता तक की यात्रा की थी। छपरा जिले का भी दौरा किया था। अप्रैल में कुछ दिन के लिए सपरिवार दिल्ली भी गये थे। फिर दिसंबर (56) में अकेले ही काठमांडू गये।

सन 1956 में बौद्ध धर्म दृष्टि से भारत में एक विशेष घटना हुई। उस साल वैशाख पूर्णिमा के दिन नागपुर में डा. भीमराव आंबेडकर के नेतृत्व में उनके लाखों अनुयायियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। उसी साल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना थी–काठमांडू में विश्व बौद्ध सम्मेलन का आयोजन। उस सम्मेलन में डा. आंबेडकर की उपस्थिति एक बड़ा आकर्षण थी। सम्मेलन में राहुलजी को विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। राहुलजी के लिए काठमांडू, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है, घर-जैसा था। राहुलजी इसलिए भी काठमांडू गये, क्योंकि सम्मेलन में देश-विदेश के अनेक बौद्ध विद्वानों से भेंट होने वाली थी। आनंदजी भी काठमांडू पहुंच गये थे।

सचमुच ही, राहुलजी की यह काठमांडू-यात्रा बड़ी उपयोगी रही। नेपाल के सभी परिचितों से पुनः भेंट हुई, वहां "भारत के ही नहीं, लंका (श्रीलंका) आदि के भी परिचित भिक्षु, गृहस्थ मिले।" चीनी प्रतिनिधि मंडल के अध्यक्ष गेशे शेरब 22 साल बाद बड़े स्नेह से मिले। गेशे शेरब से पहली बार राहुलजी की मुलाकात पहली तिब्बत-यात्रा के समय (1930) ल्हासा के नजदीक के डे-पुङ् महाविहार में हुई थी। फिर दूसरी तिब्बत-यात्रा (1934) में कुन्दे-लिङ् विहार में उनसे भेंट हुई थी। गेशे

शेरब मंगोल भिक्षु थे और भारत की भी यात्रा कर चुके थे। राहुलजी ने उसी समय उनके बारे में लिखा था– "उनके जैसे पंडित सारे तिब्बत में दो ही चार मिलेंगे। भोट-शास्त्र के विद्यासागर, वह चांद्र-व्याकरण भी रटे हुए हैं।"

अब 22 साल बाद काठमांडू में गेशे शेरब से राहुलजी की पुन: भेंट हुई। चीन बौद्ध संघ के उपप्रधान श्री चाउ फू-छू भी मौजूद थे। तीन घंटे बातचीत हुई। उसी समय राहुलजी की 1958 की चीन-यात्रा के भी बीज पड़ गये।

काठमांडू सम्मेलन से राहुलजी लुम्बिनी गये, कुशीनगर भी गये। आनंदजी भी यात्रा में साथ थे। राहुलजी को बनारस और प्रयाग होकर मसूरी वापस लौटना था। हम बता चुके हैं कि हिंदी विश्वकोश का प्रधान संपादक बनने के लिए फरवरी 1955 में ही राहुलजी से अनुरोध किया गया था। मगर अनुरोध करना एक बात थी, और बाकायदा नियुक्ति होना दूसरी बात। हिंदी जगत में यह बात फैल गयी थी कि राहुलजी हिंदी विश्वकोश के प्रधान संपादक की जिम्मेवारी संभालने जा रहे हैं। राहुलजी ने भी अपनी ओर से उसके लिए तैयारी शुरू कर दी थी। मगर अंतिम निर्णय नहीं हो पा रहा था।

काठमांडू-यात्रा से प्रयाग लौटने पर 25 नवंबर, 1956 को राहुलजी अपनी पत्नी को लिखते हैं– "बनारस के काम (हिंदी विश्वकोश का संपादन-कार्य) की उपेक्षा मैं नहीं करता। भगवतशरणजी (डा. भगवतशरण उपाध्याय) की नियुक्ति हो गई। मेरे स्थायी तौर से काम करने के बारे में पूछा गया था। मैंने वैसा पत्र लिखकर बनारस स्टेशन पर आये विनोदजी (बैजनाथसिंह 'विनोद') को दे दिया। अब उसका निर्णय दिसंबर के अंत में होगा। तब तक भगवतशरणजी काम शुरू कर देंगे।"

कैसी विचित्र बात है कि राहुलजी के सामने प्रस्ताव फरवरी 1955 में रखा गया था, मगर नवंबर 1956 तक भी अंतिम फैसला नहीं हो पाया था। कहा गया कि निर्णय अब दिसंबर के अंत में होगा। मगर दिसंबर में भी कोई निर्णय नहीं हुआ!

वस्तुत: डा. भगवतशरण की नियुक्ति के साथ ही एक प्रकार से निर्णय भी हो चुका था। जैसा कि पहले बताया गया है, विश्वकोश के संपादन के लिए राहुलजी डा. भगवतशरण का सहयोग आवश्यक समझते थे। मगर यहां उलटा ही हुआ। भगवतशरणजी की नियुक्ति पहले हो गयी और उन्होंने काम भी शुरू कर दिया था। राहुलजी को आगे भी करीब एक साल तक और लटकाए रखना जघन्य अपराध था।

राहुलजी को अंतत: हिंदी विश्वकोश का प्रधान संपादक क्यों नहीं बनाया गया? कहा जाता है कि उनका कम्यूनिस्ट होना इसमें बाधक हो गया। आनंदजी ने भी लिखा है कि, "राहुलजी को अपने 'कम्यूनिस्ट' होने का मूल्य चुकाना पड़ा।"

मगर यह पूर्ण सत्य नहीं है। डा. भगवतशरण भी जब-तब अपने को कम्यूनिस्टों के खेमे का ही बताते थे। कम्यूनिस्ट पार्टी की प्रकाशन संस्था ने उनकी कई पुस्तकों को पुनर्मुद्रित किया है। वस्तुत: राहुलजी को अपने कम्यूनिस्ट होने का मूल्य चुकाने का उतना दुख नहीं होता, जितना कि हिंदी के अपने स्वजनों द्वारा ही उनके खिलाफ रचे गये षड्यंत्र से उन्हें हुआ।

राहुलजी यदि अप्रैल 1956 के आगे की अपनी "जीवन-यात्रा" लिखते तो वे उस षड्यंत्र का भी उद्घाटन अवश्य कर देते। परंतु अब वस्तुस्थिति जानने के लिए हमें उनकी पत्नी के शब्दों का ही सहारा लेना पड़ता है- "उनके साथ राजनीतिक-चक्र चलाया गया। बहुत बाद में पंडितजी (राहुलजी) को पता चला कि जो विद्वान विश्वकोश के संपादक के पद के लिए लालायित थे, उन्होंने ही यह चक्र चलाया था। इस अभियान में उनकी विजय हुई थी, और वे प्रधान संपादक के पद पर सुशोभित हुए। किंतु उनके अधीन काम करने वाले कुछ विद्वानों के असंतोष के कारण उनको प्राय: दो साल बाद इस पद को छोड़ देना पड़ा।"

राहुलजी प्रयाग में दो-तीन दिन रुककर नवंबर (56) के अंत में मसूरी वापस लौटे। दिसंबर के अंत तक निर्णय होने की बात कही गयी थी, इसलिए साल के अंत तक उनकी मनस्थिति किस तरह की रही होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

चीन-यात्रा

सन 1957 में राहुलजी काफी मानसिक परेशानी में रहे। मुख्य वजह थी— हिंदी विश्वकोश के प्रधान-संपादक-पद का मामला। दिसंबर (56) के अंत तक कोई निर्णय नहीं हुआ। फिर भी, वे आगे कई महीनों तक निर्णय की प्रतीक्षा करते रहे!

उनके सामने दो रास्ते थे -- हिंदी विश्वकोश के संपादन की जिम्मेदारी संभालना या तिब्बत (चीन) जाकर अनुसंधान-कार्य करना। दोनों काम उनके लिए महत्वपूर्ण थे। यदि उन्हें विश्वकोश की जिम्मेदारी सौंपी जाती, तो उनके विदेश (पहले चीन और फिर श्रीलंका) जाने का कोई सवाल ही नहीं था। अक्तूबर 1957 में वाराणसी जाने पर ही उन्हें स्पष्ट पता चला कि विश्वकोश में अब उनके लिए स्थान नहीं है। उसी महीने उन्होंने चीन बौद्ध संघ के उपाध्याक्ष श्री चाउ फू-छू को एक विस्तृत पत्र लिखकर सूचित किया कि वे तिब्बत-संबंधी गवेषणा-कार्य के लिए चीन आना चाहते हैं।

कई तरह के मानसिक तनावों के बावजूद 1957 के साल में राहुलजी ने काफी काम किया, हालांकि उतना नहीं जितना कि 1956 में किया था। यात्राएं भी कीं, जिनमें आजमगढ़ की पुरातत्व-यात्रा विशेष रूपसे महत्व की है।

आजमगढ़ के नये गजेटियर के लिए जो समिति बनी थी, उसमें राहुलजी का भी नाम था। जनवरी 1956 में जब वे पटना में थे, तब भी पांच-छह दिनों में आजमगढ़ के पुरातात्विक स्थानों का दौरा करने का कार्यक्रम बना था, मगर उस समय जाना संभव नहीं हुआ। "कनैला की कथा" की ऐतिहासिक कहानियां एक-एक करके तैयार हो ही रही थीं। राहुलजी फरवरी (57) में पुरातत्व-यात्रा के लिए आजमगढ़ गये।

करीब दस दिन की इस यात्रा में राहुलजी रानीकीसराय, अपने जन्मग्राम पन्दहा और पितृग्राम कनैला भी गये। कनैला के डीहबाबा स्थान पर राहुलजी को महाकाल की खंडित मूर्ति का सिर मिला, तो सुरक्षा की दृष्टि से उसे वे वहां से उठा लाये। लिखते हैं- "वज्रयान का यह महान देवता कैनला में आज से आठ-नौ शताब्दियों पहले परमपूज्य माना जाता था, पर आज मेरे सिवा उसे कोई पहचानने वाला भी नहीं! कितना परिवर्तन?"

कनैला जाने पर रिश्तेदारों और कई परिचितों से भी भेंट हुई। 1943 में, पचास की आयु पूरी होने पर, राहुलजी कनैला गये थे, तो "कपड़ों से ढकी एक मूर्ति" ने उनके पैरों पर गिरकर रोना आरंभ कर दिया था। परंतु तब वे वहां से तुरंत उठ

खड़े हुए थे। मगर इस बार मनस्थिति भिन्न थी। लिखते हैं– "कनैला छोड़ने से पहले अपनी प्रथम परिणीता को देखने का निश्चय कर चुका था। अब वह चारपाई पकड़े थीं। देखकर करुणा उभर आना स्वाभाविक था। आखिर मैं ही कारण था जो इस महिला का आधी शताब्दी का जीवन नीरस और दुर्भर हो गया। मैं प्रायश्चित करके भी उसको क्या लाभ पहुंचा सकता था? एक बार देखा। वह अपने आंसुओं को रोक नहीं सकीं। फिर मैं घर से बाहर चला आया।"

राहुलजी की "कनैला की कथा" का 'समर्पण' है : "उस प्रथम परिणीता को, जिसका सारा जीवन मेरी महत्वकांक्षाओं का शिकार हुआ।" इस तरह, राहुलजी ने अपनी तीनों परिणीताओं को अपनी एक-एक पुस्तक समर्पित करने का काम पूरा किया। उन्होंने "आजमगढ़ की पुराकथा" भी लिख डाली, मगर वह पुस्तकाकार आज तक भी प्रकाशित नहीं हुई।

राहुलजी को हिंदी विश्वकोश संपादित करने का अवसर भले ही न मिला हो, मगर काशी नागरी प्रचारिणी सभी से ही प्रकाशित हिंदी के लोक-साहित्य का विश्वकोश उन्होंने 1957 में ही बड़ी योग्यता से संपादित कर दिया। यह ग्रंथ है– "हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास : भाग 16", जिसमें हिंदी के लोक-साहित्य का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। राहुलजी का लोक-साहित्य के प्रति विशेष लगाव था। उन्होंने अपने "गढ़वाल", "कुमाऊं", "हिमाचल प्रदेश", "आदि हिंदी की कहानियां और गीत" आदि कई ग्रंथों में लोक-गीतों तथा लोक-कथाओं का संकलन किया है। उन्होंने भोजपुरी (मल्लिका) में आठ नाटक भी लिखे।

राहुलजी लोक-गीतकारों और लोक-नाट्यकारों को बड़ा सम्मान देते थे। भोजपुरी के लोककवि बिसराम के बिरहे उन्हें बड़े प्रिय थे। अपने एक भोजपुरी भाषण में उन्होंने कहा भी था– "बिसराम के कबिताई अइसन ओइसन कबिताई नइखे।... इ कहे में हमरा ईचिको भर संकोच नइखे कि बिसराम अइसन कबिताई बहुत कम्मे देखे में आवेले।" वे भिखारी ठाकुर के भी बड़े प्रशंसक थे। लोक-साहित्य पर अनुसंधान-कार्य करने के लिए तरुणों को वे बड़ा उत्साहित करते थे।

इसलिए हिंदी के लोक-साहित्य का बृहत् इतिहास प्रस्तुत करने के लिए राहुलजी सबसे उपयुक्त व्यक्ति थे। ग्रंथ के संपादन में उन्हें डा. कृष्णदेव उपाध्याय का सहयोग मिला। राहुलजी ने इस ग्रंथ के लिए डा. सत्येंद्र, डा. श्याम परमार, श्री देवेंद्र सत्यार्थी आदि से हिंदी की करीब डेढ़ दर्जन बोलियों पर विस्तृत लेख लिखवाए। इस ग्रंथ की करीब 200 पृष्ठों की प्रस्तावना बड़े ही महत्व की है। राहुलजी के लोक-साहित्य संबंधी कुछ लेख "राहुल निबंधावली: साहित्य" (1970) में भी संकलित हैं।

उसी साल राहुलजी ने एक और पुस्तक लिखी– "रामराज्य और मार्क्सवाद।" इसमें स्वामी करपात्री की पुस्तक "मार्क्सवाद और रामराज्य" की समीक्षा है। पुस्तक छोटी है, मगर प्रतिक्रियावादियों और धर्मांधों पर गहरी चोट करती है।

राहुलजी के लिए इस साल की सबसे कष्टप्रद चीज थी— अनिर्णय की स्थिति। वे समयबद्ध रहकर काम करने के आदी थे। एक बार निर्णय कर लेने के बाद निश्चित अवधि में काम को पूरा कर डालते थे। मगर अब वे बड़ी दुविधा में थे। विश्वकोश के मामले का फैसला नहीं हो रहा था, इसलिए चीन (तिब्बत) जाने के बारे में भी अंतिम निर्णय नहीं ले पा रहे थे।

इन सब बातों का पारिवारिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। मसूरी से राहुलजी का मन भर गया था। वे "हर्न क्लिफ" को आधे से भी कम दाम पर बेचने के लिए तैयार थे। फिर कहां रहेंगे? पहले सोचा था, किराए का मकान लेकर गर्मियों के आठ महीने मसूरी में रहेंगे और बाकी चार महीने देहरादून में।

मगर अब स्थिति भिन्न थी। विश्वकोश की जिम्मेदारी स्वीकार कर लेने पर जाड़ों में वाराणसी और गर्मियों में कहीं पहाड़ पर रहते। परंतु चीन (तिब्बत) जाने पर ऐसी व्यवस्था संभव नहीं थी। वे चाहते थे कि उनकी पत्नी और बच्चे भी उनके साथ चीन जाएं। लेकिन पत्नी को यह मंजूर नहीं था। वह कालिंपोङ् को स्थायी निवास बनाने का निश्चय कर चुकी थी। मां और पिता, दोनों ही बच्चों के भविष्य के बारे में चिंतित थे। मां सोचती थी कि कालिंपोङ् में उन्हें और बच्चों को अधिक सुरक्षा मिलेगी। अब वे एम.ए. कर चुकी थी, सोचती थी कि कालिंपोङ् में अध्यापन का काम मिल जाएगा।

राहुलजी को भी चार और ढाई साल के अपने दो बच्चों के भविष्य की बेहद चिंता थी। वे उन्हें विदेश में भी अपने साथ रखना चाहते थे। इसलिए वे चाहते थे कि पत्नी भी उनके साथ विदेश में रहे, कम से कम तजुर्बा करके देख लें। परंतु वे इसके लिए भी तैयार नहीं थीं।

राहुलजी अपनी पारिवारिक जिम्मेदारी को पूरा-पूरा निभाना चाहते थे, निभा ही रहे थे, परंतु उनके लिए सबसे अधिक महत्व रखता था अनुसंधान का कार्य। 1957 के मध्य में उनकी पत्नी बच्चों को लेकर कुछ दिनों के लिए कालिंपोङ् चली गयी तो उन्हें एक पत्र में राहुलजी ने लिखा भी था– "तुम्हें यह ख्याल होना चाहिए कि तिब्बत का अनुसंधान और साम्यवाद की सेवा मेरे जीवन के सबसे बड़े आदर्श रहे हैं। मैंने इनके लिए प्राणों की बाजी लगाने में आनाकानी नहीं की, उनसे विमुख होने की तो आशा ही नहीं हो सकती। पर उसमें भी बच्चों और तुम्हें नहीं छोड़ना चाहता...।"

उसी साल राहुलजी अपने बच्चों को लिवाने कालिंपोङ् गये। लौटते वक्त वाराणसी में ठहरे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा गये। तभी पहली बार स्पष्ट हुआ कि 'विश्वकोश में उनके लिए संभावना नहीं है।'

निश्चय ही, यह उन्हें भारी मार्मिक आघात पहुंचाने वाली सूचना थी। सबसे क्लेशदायक बात यह थी कि उन्हें लंबे समय तक अधर में लटकाये रखकर अंत में उनके खिलाफ निर्णय लिया गया था।

खैर, राहुलजी अपने को संभालने में समर्थ थे। अब उनके सामने चीन जाने का मार्ग खुला था। चीन बौद्ध संघ को वे चीन आने की अपनी इच्छा के बारे में लिख चुके थे, कुछ ही दिन पहले। अब पक्का निश्चय कर लिया और निमंत्रण का इंतजार करने लगे। निमंत्रण करीब आठ महीने इंतजार करने के बाद जून 1958 में मिला।

राहुलजी का लेखन-कार्य जारी रहा, यात्राएं भी। मगर अब वे काफी मानसिक परेशानी में थे, अपनी पारिवारिक स्थिति के कारण भी। जाड़े के दिनों में उन्होंने मसूरी से निकलकर कई स्थानों की यात्रा की। फरवरी (1958) में एक भाषण देने जबलपुर भी गये।

मसूरी के अपने बंगले "हर्न क्लिफ" को बेचने का निर्णय काफी पहले कर चुके थे, मगर ग्राहक ही नहीं मिल रहा था। अंत में, 1958 के मध्य में, 17 हजार में खरीदे हुए उस बंगले को 7 हजार में ही बेच डाला! उस बंगले में राहुल-परिवार का निवास करीब आठ साल तक रहा। बंगला बेचने के बाद मसूरी में ही वहां के कुलड़ी बाजार में किराए के एक मकान में राहुल-परिवार स्थानांतरित हुआ।

उन्हीं दिनों की बात है: राहुलजी को उनके ग्रंथ "मध्य-एशिया का इतिहास" (दो खंड) पर साहित्य अकादेमी का हिंदी का पुरस्कार दिये जाने की घोषणा हुई। पहली बात तो शायद यही है कि यह पुरस्कार "मध्य-एशिया का इतिहास" की बजाए "दोहाकोश" पर दिया जाता तो उन्हें ज्यादा खुशी होती। दूसरी बात यकीन के साथ कही जा सकती है: राहुलजी साहित्य अकादेमी का पुरस्कार ग्रहण करने दिल्ली नहीं जाना चाहते थे। जिनकी उन्होंने अनेक बार कटु आलोचना की थी, उन्हीं के सम्मुख उपस्थित होकर वे पुरस्कार प्राप्त नहीं करना चाहते थे। मगर एक ओर साहित्य अकादेमी के तत्कालीन सचिव डा. प्रभाकर माचवे का जबरदस्त अनुरोध था, तो दूसरी ओर था, पत्नी का जबरदस्त आग्रह। जया ने इसी प्रसंग में लिखा है– "कुछ दिनों से अम्मा और पापा के बीच कुछ मतभेद चल रहा था। अम्मा उनसे दिल्ली जाने के लिए कह रही थी और पापा मान नहीं रहे थे।"

लेकिन अंतत: पापा मान ही गये! राहुलजी पुरस्कार-वितरण समारोह के लिए दिल्ली गये। कुछ दिन बाद जया अपनी सहपाठिनियों के साथ सिनेमा देखने गयी और उसने न्यूज-रील में प्रधानमंत्री के साथ अपने पापा को देखा तो पांच साल से भी कम उम्र की बच्ची के लिए वह एक अविस्मरणीय दृश्य बन गया। घर आकर उसने उस दृश्य के बारे में अम्मा-पापा को बताया, "फिर तो अम्मा खास तौर से सिनेमा देखने गई।" मगर राहुलजी के लिए उस दृश्य में कोई आकर्षण नहीं था, उन्हें नेहरूजी के साथ बात करने या बैठने के पहले कई अवसर मिले थे।

उसी साल (1958) राहुलजी ने पुन: एक बार पन्दहा-कनैला की यात्रा की। मगर इस बार अकेले नहीं गये, पत्नी और बच्चों को भी साथ लेकर गये। फरवरी 1957 में आजमगढ़ की पुरातत्व-यात्रा पर गये थे, तब भी वे अपने परिवार को पन्दहा-कनैला दिखा देने के लिए उत्सुक थे, मगर उस समय पत्नी ने जाने से इनकार कर

दिया था। इस बार जाने का एक विशेष लाभ यह हुआ कि जया-जेता ने अपने पिता के जन्मग्राम और पितृग्राम के दर्शन कर लिये। साथ ही, पिता की प्रथम परिणीता का आशीर्वाद भी प्राप्त कर लिया।

उस साल की गर्मियों में राहुलजी कश्मीर चले गये। वहीं पर उन्हें चीन बौद्ध संघ का निमंत्रण मिला। तैयारी के लिए दिल्ली आये। फिर गर्मी में ही रेलयात्रा करके कलकत्ता पहुंचे। पत्नी और दो छोटे बच्चों को पीछे मसूरी में छोड़कर अकेले विदेश जाना किसी के लिए भी सुखद स्थिति नहीं हो सकती थी। राहुलजी अपने कुछ व्यवहारों में अत्यंत मृदु स्वभाव के थे, तो अपने निश्चयों तथा संकल्पों के मामले में अत्यंत कठोर भी थे।

राहुलजी चीन जा रहे थे, मगर केवल चीन को देखना उनकी यात्रा का उद्देश्य नहीं था। वस्तुतः वे तिब्बत जाना चाहते थे। तिब्बत-संबंधी अनुसंधान उनके जीवन का एक प्रमुख लक्ष्य था। चौथे दशक में जब उन्होंने तिब्बत की चार यात्राएं की थीं तो यही सोचते थे कि हर साल गर्मियों में तिब्बत की यात्रा होगी और सर्दियों में भारत में रहकर लेखन-कार्य करते रहेंगे। मगर उस योजना के लिए आगे अनुकूल परिस्थितियां नहीं रहीं। राहुलजी ने भी अपनी शक्ति को दूसरे कार्यों में लगाया।

लेकिन अब चीन में कम्यूनिस्ट शासन था और तिब्बत पूरी तरह चीन के आधिपत्य में था। राहुलजी का तिब्बत जाने के लिए लालायित होना स्वाभाविक था। तिब्बती अनुसंधान के संदर्भ में उनकी स्थिति हर पहलू से विशिष्ट थी। यह कहना कतई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि तिब्बत में विलुप्त भारतीय ग्रंथों से संबंधित खोजकार्य करने के लिए वे ही सर्वाधिक योग्य व्यक्ति थे। उन्होंने तिब्बत में कई स्थानों से ऐसे भारतीय तालपत्रों की खोज की, जिनकी वहां के पंडितों को भी जानकारी नहीं थी। उन्होंने अपनी तिब्बत-यात्राओं के विवरणों में बार-बार लिखा है कि वहां की मूर्तियों और स्तूपों के भीतर बहुत से भारतीय ग्रंथ छिपे हो सकते हैं, जिनके उद्धार का अनुकूल अवसर आगे मिलेगा।

वह अनुकूल अवसर अब आ गया था। तिब्बत और चीन के बौद्ध पंडित तिब्बत संबंधी अनुसंधान-कार्य में राहुलजी के सहयोग का महत्व भली-भांति समझते थे। मगर हमारे देश के कर्णधार उससे बेखबर थे। उस समय नये चीन के साथ भारत के बड़े अच्छे संबंध थे। तिब्बत में मौजूद भारत की सांस्कृतिक निधियों के उद्धार के लिए हमारा शासन राहुलजी को बड़े मजे से आवश्यक सुविधाएं मुहैया करा सकता था। मगर उतनी दूरदर्शिता किसमें थी? राहुलजी को तो चीन जाने के लिए पासपोर्ट प्राप्त करने में भी काफी दिक्कत हुई थी।

यहां शुरू में ही एक बात स्पष्ट कर देना जरूरी है। राहुलजी का चीन-यात्रा का लक्ष्य था, तिब्बत जाने की कोशिश करना। परंतु चीन बौद्ध संघ ने उन्हें जो निमंत्रण भेजा था, उसमें साफ लिखा था कि अभी उनके तिब्बत जाने का प्रबंध नहीं हो सकता।

सचमुच ही, उस समय तिब्बत में अस्थिरता थी। यह बात बाद की घटनाओं से स्पष्ट हो गयी। फिर भी राहुलजी चीन गये, इस आशा से कि वहां जाने पर तिब्बत जाने की व्यवस्था शायद हो जाएगी।

राहुलजी कलकत्ता से विमान द्वारा रंगून पहुंचे, 15 जून (1958) को। वहां सत्यनारायण गोयनका के यहां पांच दिन अतिथि रहे। राहुलजी की पांच-छह पुस्तकें बर्मी में अनूदित हो चुकी थीं, इसलिए वहां के बहुत से लेखकों-पाठकों के लिए भी वे परिचित थे। उन पांच दिनों में राहुलजी ने वहां के कई बौद्ध स्थान देखे, कई सभाओं में भाषण दिया। गोयनकाजी ने अपने टेप-रिकार्डर पर उन सभी भाषणों को रिकार्ड किया।

रंगून से चीनी विमान द्वारा राहुलजी पहले चीन की भूमि में कुनमिङ् पहुंचे और वहां से आगे 22 जून को पेकिङ् (बेइजिङ्)। अखिल चीन बौद्ध संघ के उपप्रधान श्री चाउ फू-छू, दुभाषिये चेङ् महाशय और दूसरे कई स्वागतकर्ता हवाई अड्डे पर पहुंचे थे। राहुलजी को पेकिङ् के एक भव्य होटल में ठहराया गया। उनकी साढ़े चार महीने की चीन-यात्रा शुरू हो गयी। 23 जून से 1 जुलाई (58) तक राहुलजी पेकिङ् में ही रहे।

23 जून को वे सर्वप्रथम चीन बौद्ध संघ के कार्यालय गये। संघ के अध्यक्ष और राहुलजी के पुराने मित्र गेशे शेरब अपनी जन्मभूमि अम-दो गए हुए थे। उसी दिन राहुलजी मिङ् प्रासाद देखने गये। अगले दिन बौद्ध संस्थान गए। वहां उनका भाषण हुआ। वस्तुतः चीन बौद्ध संघ ने राहुलजी को छह भाषण देने के लिए विशेष रूप से निमंत्रित किया था। मगर स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण वे तीन ही भाषण दे पाये। बौद्ध संस्थान में राहुलजी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि धर्मकीर्ति के महान ग्रंथ "प्रमाणवार्तिक" का तिब्बती से चीनी में आधा अनुवाद हो गया है।

1 जुलाई तक राहुलजी ने पेकिङ् के कई स्थानों को देखा—लामा विहार, पे-हाई सरोवर, कपड़ा कारखाना, ग्रीष्म प्रासाद, अनाथ बाल-गृह, राष्ट्रीय पुस्तकालय आदि। आठ सौ साल पुराने राष्ट्रीय पुस्तकालय में 50 लाख पुस्तकें हैं, जिनमें दो लाख हस्तलिखित हैं। तुङ्-ह्वान की गुफा में मिली आठ हजार पुस्तकें (कुंडलियां) भी यहां रखी हुई हैं।

2 से 10 जुलाई तक राहुलजी ने दुभाषिये चेङ् के साथ चीन के पूर्वोत्तर प्रदेश (मंचूरिया) की यात्रा की। 1935 में जब वे जापान गये थे, तो आगे सोवियत रूस जाने के लिए उन्होंने कोरिया और मंचूरिया की यात्रा की थी। तब राहुलजी बौद्ध भिक्षु के वेश में थे और करीब एक महीने तक मंचूरिया में घूमे थे। उस समय मंचूरिया पर जापान का शासन था।

जून के महीने में पेकिङ् में काफी गर्मी थी, मगर मंचूरिया काफी उत्तर में होने के कारण वहां वैसी गर्मी नहीं थी। राहुलजी ने मुकदन (सैंया), अनशान, फू-शुन तथा छाङ्-छुन् के दर्शनीय स्थानों को देखा, कल-कारखाने देखे, विहार और

विश्वविद्यालय भी देखे। 11 जुलाई को पेकिङ् लौट आये। दो दिन बाद भारतीय दूतावास को दर्शन देने गये।

चीन में हमारे अजंता-ऐलोरा की तरह चार स्थानों—युन-काङ्, तुङ्-ह्वान, लुङ्-मन और छ्युवान्— में पहाड़ खोदकर गुफा-विहार बनाये गये हैं। इनमें से राहुलजी ने आरंभ के तीन स्थानों के गुफा-विहार देखे। युन्-काङ् की गुफाएं पेकिङ् से करीब दो सौ किलोमीटर दूर हैं। वहां पहाड़ में एक किलोमीटर तक 89 प्रमुख गुफाएं हैं, जो 500 ई. के आसपास बनी थीं। यहां की बुद्ध मूर्तियों पर गंधार, भारत तथा कूचा-तुर्फान की कला का प्रभाव है। सबसे बड़ी मूर्ति 17 मीटर ऊंची है!

युन्-काङ् की गुफाएं देखकर राहुलजी पेकिङ् लौटे। 16 जुलाई को बौद्ध संस्थान में उनका भाषण हुआ, जिसका एक पंडित दुभाषिये ने चीनी में अनुवाद प्रस्तुत किया। 23 जुलाई को राहुलजी एक ताउ मठ देखने गये। वे चीनी संस्कृति और चीनी जीवन के हर अंग को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे, अपने को केवल बौद्ध विषयों तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। उन्होंने पेकिङ् का इस्लामिक संस्थान भी देखा।

तुङ्-ह्वान चीन की अजंता है। राहुलजी अपनी पुस्तक "चीन में क्या देखा" में लिखते हैं- "भारतीय संस्कृति और कला का विद्यार्थी अजंता देखे बिना भारत से लौट जाए, तो उसकी यात्रा बिल्कुल अपूर्ण समझी जाएगी। वही बात चीन की संस्कृति और कला के विद्यार्थी के लिए होगी, यदि तुङ्-ह्वान गये बिना वहां से लौट आये। मैं अपने साढ़े चार महीने की चीन-यात्रा को कभी पूर्ण नहीं समझ सकता था, यदि तुङ्-ह्वान को न देख पाता।"

मगर तबीयत बिगड़ जाने के कारण तुङ्-ह्वान जाने का कार्यक्रम कुछ दिनों के लिए स्थगित करना पड़ा। रक्तचाप की शिकायत के लिए 24 जुलाई को उन्हें पेकिङ् के प्रसिद्ध यूनियन अस्पताल में भर्ती किया गया। अगले दिन कार्डियोग्राम से हृदय की परीक्षा हुई तो पता चला कि वह एक जगह क्षत है। राहुलजी को कोई विशेष तकलीफ नहीं हो रही थी, परंतु हार्ट-अटैक का असर जबरदस्त पड़ा था। चीनी मेजबानों का चिंतित होना स्वाभाविक था। अगले दिन से इलाज शुरू हो गया। राहुलजी के लिए चिकित्सा की विशिष्ट सेवाएं उपलब्ध हुईं। उन्हें 15 अगस्त तक, पूरे 22 दिन, अस्पताल में रहना पड़ा। एक दांत में खराबी थी। छह दिन तक दांत में बड़ी पीड़ा रही। उसका भी इलाज हुआ। चश्मा भी बदलना पड़ा। रक्तचाप के लिए प्रिसर्पिना (सर्पगंधा) की गोलियां दी जाने लगीं। भोजन को बिना नमक का कर दिया गया।

भारतीय मित्रों को राहुलजी की बीमारी का पता चला। कई लोग मिलने आये। पेकिङ् विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक पुरुषोत्तम प्रसाद (त्रिपाठी) सपत्नीक मिलने आये। प्रसादजी जाति-व्यवस्था के विरोधी हैं। उन्होंने 'त्रिपाठी' को त्याग दिया था। चीन में चीनी भाषा के अध्ययन के लिए गयी कुमारी लतिका घोष भी मिलने आयी। श्रीलंका के राजदूत श्री गोपल्लवा भी राहुलजी को देखने अस्पताल आये।

राहुलजी को बुखार या कोई दूसरी बीमारी नहीं थी, मगर बहुत कमजोर महसूस कर रहे थे। भारतीय दूतावास के प्रथम सचिव भी मिलने आये।

16 अगस्त को राहुलजी होटल वापस आ गये। 22 दिन बाद पुनः अस्पताल जाना था, इसलिए तब तक पेकिङ् से बाहर जाना नहीं हो सकता था। कमजोरी बहुत थी। होटल में एकाकी महसूस कर रहे थे। प्रसादजी की पत्नी प्रभा त्रिपाठी तथा अन्य कुछ मित्र कभी-कभी आ जाते थे।

अस्पताल में पढ़ने पर पाबंदी नहीं थी। राहुलजी के पास चीन-संबंधी बहुत-सी पुस्तकें थीं। उनमें एक थी- "वेश्या का सिंगारदान" जिसमें चीन की बीस प्राचीन कहानियों का संग्रह था। हजार साल पुरानी वे यथार्थवादी कहानियां राहुलजी को बहुत पसंद आयीं। उन्होंने उनमें से दस कहानियों को हिंदी में प्रस्तुत करने के बारे में सोचा। मगर वह काम नहीं हो सका। हां, बाद में उन्होंने "वेश्या" शीर्षक से एक मौलिक कहानी अवश्य लिखी, परंतु वह शायद प्रकाशन के लिए नहीं थी।

होटल के कमरे में ज्यादा दिन तक बंद रहना राहुलजी के लिए संभव नहीं था। कमजोरी की हालत में ही एक दिन वे विश्वविद्यालय में प्रसादजी के घर गये और वहां भारतीय मित्रों से मिले।

स्वास्थ्य ठीक नहीं था। तिब्बत जाना अब असंभव था। मगर राहुलजी भारत लौटने के पहले तुङ्-ह्वान अवश्य देखना चाहते थे। यात्रा काफी दूर की थी, कष्टदायक भी थी, इसलिए मेजवान उन्हें तुङ्-ह्वान भेजने में हिचकिचा रहे थे। मगर राहुलजी ने चाउ फू-छू से जोर देकर कहा-"मैं जल्दी ही भारत लौटना चाहता हूं। यदि प्रबंध हो सके, तो तुङ्-ह्वान देख लेना चाहता हूं।" तब उन्होंने तुरंत व्यवस्था कर दी। फिर राहुलजी की पत्नी और बच्चों को भी चीन बुलाने का प्रबंध होने लगा। तदनुसार राहुलजी के कार्यक्रम में भी थोड़ा परिवर्तन हुआ।

9 सितंबर (58) को अस्पताल और उसके बाद 16 सितंबर को तङ्-ह्वान की यात्रा के लिए रवाना होने के पहले राहुलजी ने पेकिङ् के अनेक स्थान देखे—मिङ् समाधि, श्मशान-शाला, तुङ्चा राजकीय फार्म, कैथोलिक गिरजा, जन-दैनिक का कार्यालय, शिक्षा मंत्रालय, मेडिकल कालेज, ह्वैफाङ् सहकारी फार्म, जेलखाना, न्यायालय, पेकिङ् की मल-व्यवस्था, जातीय संगीत अनुसंधान संस्थान, प्राइमरी स्कूल। इस सूची से सहज स्पष्ट है कि राहुलजी नये चीन का हर पहलू से निरीक्षण करना चाहते थे। अल्पजातिक प्रकाशन गृह के तिब्बती विभाग में गये तो वहां कई ऐसे तिब्बती पंडित मिले जो ग्यगर (भारतीय) पंडित राहुल के नाम से भली-भांति परिचित थे।

राहुलजी 9 सितंबर को पुनः अस्पताल में भर्ती हुए—15 सितंबर तक के लिए। उन्होंने स्वयं लिखा है कि- "बीमारी शरीर को निर्बल करती है और निर्बल शरीर मन को।" अस्पताल में लेटे-लेटे बच्चों का बार-बार ख्याल आना स्वाभाविक था। लिखते हैं- "66 की आयु में हृदय की बीमारी साधारण बात नहीं होती। मैं अपने

मित्र महमूद जफर को देख चुका हूं। अंतिम आयु में संतान के भविष्य का ख्याल बार-बार आता था। उसी के लिए कमला को पढ़ाया था।" 13 सितंबर को मसूरी से कमला का तार मिला- "पासपोर्ट मिलने पर तुरंत आ रही हूं।" पासपोर्ट की व्यवस्था तेजी से हो रही थी।

अस्पताल से बाहर आकर राहुलजी 16 सितंबर को तुङ्-ह्वान की यात्रा के लिए रवाना हुए। इस यात्रा में दुभाषिये साथी चाउ महाशय थे। रेल से पहले सिआन पहुंचे। इस पुराने राजधानी-नगर में राहुलजी ने पुरातत्व की कई चीजें देखीं। यहीं से 20 किलोमीटर दूर के शिनकाउ-स्स विहार को देखने गये, जहां कितने ही समय तक प्रसिद्ध भारत पर्यटक श्वेन त्साङ (युवान् च्वाङ्) का निवास रहा। राहुलजी ने वह नायन्था (नालंदा) विहार भी देखा, जहां 665 ई. में श्वेन त्साङ का देहांत हुआ था।

सिआन से रेल द्वारा ही राहुलजी लन्चाऊ पहुंचे। शहर देखने के बाद वहां से 20 सितंबर को विमान द्वारा च्यु-छाङ् अड्डे पर उतरे। वहां से महादीवार के अंतिम छोर और अनशी कस्बे आदि को देखते हुए जीप द्वारा तुङ्-ह्वान की गुफाओं के पास पहुंच गये। जीप का यह रास्ता धूल-भरा और काफी कष्टप्रद था। राहुलजी 21 और 22 सितंबर को तुङ्-ह्वान की गुफाओं के नजदीक के आवास-गृह में रहे।

अपनी पुस्तक "चीन में क्या देखा" में राहुलजी ने तुङ्-ह्वान के इतिहास और वहां की कला-सम्पदा के बारे में काफी जानकारी दी है। यहां की गुफाओं और कलाकृतियों का निर्माण ईसा की चौथी-पांचवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक होता रहा। बालू से ढकी रहने के कारण यहां की कई गुफाओं की कलाकृतियां नष्ट होने से बच गयीं। मगर कम्यूनिस्ट शासन की स्थापना के पहले ही चीन की इस अजंता की, न केवल धर्मांधों ने, बल्कि विद्यांधों के हाथों भी काफी बरबादी हुई। पहले धर्मांध तुर्कों ने इसे क्षति पहुंचायी।

फिर आधुनिक काल में विद्यांधों की लूट शुरू हो गयी। यहां रहने वाले एक भिक्षु ने एक बंद कोठरी में सैकड़ों तालपत्रों और कागज पर लिखे ग्रंथों तथा चित्रपटों की खोज की थी। राहुलजी लिखते हैं- (ओरेल) "स्टाइन को पहले खबर मिली और वह तुङ्-ह्वान पहुंचकर बहुत-सी चीजों को हथियाने में सफल हुआ। फिर फ्रेंच विद्वान पेलियो पहुंचे। उन्होंने भी बहती गंगा में हाथ धोया.... स्टाइन कितने ही भित्ती-चित्रों को उखाड़कर ले गये। किसी बड़ी मूर्ति को हटाने में अपने को असमर्थ देख वह मूर्ति के सिर को ही काटकर ले गये!"

तुङ्-ह्वान के संचालक शाङ् महाशय ने, जो स्वयं एक कलाकार और विद्वान थे, राहुलजी को वहां के बारे में विस्तृत जानकारी दी। शाङ् महाशय ने तुङ्-ह्वान की सेवा में अपना सारा जीवन लगा दिया, खूब कष्ट झेले, खूब त्याग किया। राहुलजी ने उनके आदर्शवादी जीवन का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

वापसी यात्रा में राहुलजी ने सिआन और लोयाङ् के दर्शनीय स्थान देखे। लोयाङ् से 13 किलोमीटर दूर के लोङ्-मेन स्थान की गुफाएं भी देखीं। 30 सितंबर को वे पेकिङ् लौट आये।

10 अक्तूबर को जया-जेता और उनकी मां विमान से पेकिङ् पहुंच गये। आगे नौ दिन तक पूरे राहुल-परिवार ने पेकिङ् के विभिन्न स्थानों को देखा। पेकिङ् छोडने के पहले चीन बौद्ध संघ के अध्यक्ष गेशे शेरब से भी राहुल जी की भेंट हो गयी। दोनों पुराने मित्रों के लिए यह मिलन बड़ी ही खुशी की बात थी।

19 अक्तूबर को राहुलजी रेल से सपरिवार नानकिङ् के लिए रवाना हुए। श्री चाउ फू-छू और कई भारतीय मित्र स्टेशन पर विदाई देने आये। आगे करीब एक पखवाड़े तक राहुल-परिवार ने मध्य चीन के नानकिङ्, शाङ् है, क्वानचाउ आदि नगरों की यात्रा की। फिर कुनमिङ् से विमान द्वारा रंगून पहुंचे। वहां केवल तीन घंटे रुककर विमान से ही 9 नवंबर (1958) को कलकत्ता पहुंच गये। कलकत्ता में इस बार राहुलजी दवाएं बनाने वाली प्रसिद्ध डाबर कंपनी के मालिक अशोक कुमार बर्मन के यहां ठहरे। अगले दिन उन्हें बुखार आया जो टाइफाइड निकला। उससे मुक्ति पाने के बाद 28 अक्तूबर को देहरादून एक्सप्रेस में बैठकर 30 नवंबर को राहुलजी परिवार सहित देहरादून पहुंच गये। जाड़े के दिन आ गये थे, इसलिए आगे कुछ महीने उन्हें देहरादून में ही रहना था।

जैसा कि हमने पहले बताया है, राहुलजी ने साढ़े चार महीने की अपनी चीन-यात्रा का विवरण "चीन में क्या देखा" पुस्तक में प्रस्तुत किया है। राहुलजी ने अपनी चीन-यात्रा में वहां के छह कम्यून भी देखे थे। उनकी जानकारी उन्होंने "चीन के कम्यून" पुस्तिका में दी। वे एक और पुस्तक लिखना चाहते थे- "नवीन चीन" मगर उसके लिए उन्हें अवसर नहीं मिला।

तिब्बत जाना भले ही संभव न हुआ हो, मगर राहुलजी की चीन-यात्रा सार्थक रही। तुङ्-ह्वान के दर्शन से उन्हें बड़ी संतुष्टि हुई।

श्रीलंका में दर्शन के महाचार्य

राहुलजी के लिए नया साल (1959) नयी समस्याओं वाला साल था। चीन जाने के पहले वे मसूरी का अपना मकान बेच चुके थे और वहीं पर किराए के मकान में रहने लगे थे। चीन से लौटने के बाद कुछ महीने तक राहुल-परिवार का निवास देहरादून के पुराना डालनवाल में रहा। राहुलजी की पत्नी के लिए, भविष्य की दृष्टि से भी, वह निवास स्मरणीय सिद्ध हुआ। राहुलजी चीन से यह निश्चय करके आये थे कि "कमला की पी.एच.डी. की थीसिस को इस साल अवश्य तैयार कराके भिजवा देना है।"

राहुलजी को सबसे ज्यादा चिंता बच्चों के भविष्य की थी। उनकी पढ़ाई के ख्याल से भी एक पक्के निजी ठौर का होना जरूरी था। चीन-यात्रा के बाद अब पत्नी की बात मानने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं था। चीन में अस्पताल के कमरे में लेटे-लेटे उन्होंने एक बार यह भी सोचा था- "सबसे अनुकूल स्थान उनके (पत्नी के) लिए दार्जिलिङ् है।" इसलिए उधर के बारे में भी सोचा जाने लगा। मगर यह सब वे केवल पत्नी और बच्चों के ख्याल से ही सोच रहे थे, अपने ख्याल से नहीं।

आयु 66 साल थी, हृदय-रोग के मरीज थे, डायबेटीज का महारोग शरीर को दिनोंदिन अधिकाधिक क्षीण बनाये जा रहा था। फिर भी राहुलजी के लिए काम करना अनिवार्य था। देहरादून में ही उन्होंने "चीन में कम्यून" और "चीन में क्या देखा" पुस्तकें लिखीं। मगर इन पुस्तकों से राहुलजी को शायद कोई आर्थिक आय नहीं हुई। ये पुस्तकें कम्यूनिस्ट पार्टी की प्रकाशन संस्था से छपीं।

पारिवारिक जिम्मेदारी को निभाने के लिए आय के स्थायी स्रोत खोजना राहुलजी के लिए अब अत्यावश्यक था। भयंकर स्वाभिमानी थे, किसी की अनुकंपा पर आश्रित नहीं रहना चाहते थे। अक्सर याद कर लेते थे : 'रहिमन वे नर मरि चुके जे कहुँ मांगन जाहिं।' पारिभाषिक शब्दावली का और समिति के साहित्य-निर्माण का कार्य भी उन्होंने बिना वेतन के ही किया था। हिंदी विश्वकोश के संपादन-कार्य के साथ वेतन जुड़ा हुआ था, इसलिए भी आरंभ में राहुलजी उस काम की जिम्मेदारी लेने में हिचकिचा रहे थे। अपने पूरे जीवन में "नौकरी" के नाम पर उन्होंने केवल एक ही काम किया था—लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का कार्य। वैसा काम मिल जाता तो वे भारत में भी शायद कर सकते थे। मगर शासन की और शासन के कर्णधारों की लगातार कटु आलोचना करने वाले एक साम्यवादी के लिए कोई सम्मानजनक पद स्वदेश में उपलब्ध होगा, इसकी अपेक्षा राहुलजी भी नहीं रखते थे।

यह सही है कि राहुलजी हिंदी के लिए प्राणपण से समर्पित थे, परंतु उन्हें केवल 'हिंदीवाला' समझना गलत होगा। उनकी कई किताबों का देश की प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हुआ था, फिर भी उनके व्यक्तित्व को केवल भारत तक सीमित रखना उचित नहीं होगा। राहुलजी अपने कृतित्व के जरिए समूचे एशिया के थे। भारत से भी उनका अधिक सम्मान पड़ोसी देशों में होता था। राणाशाही के आलोचक होने के बावजूद नेपाल उनके लिए घर-जैसा था—पहले भी, और बाद में नये शासन के दौरान भी। तिब्बत की निरंकुश सामंती-व्यवस्था के और दलाई लामा के राहुलजी प्रशंसक नहीं थे, फिर भी वहां के पंडित उनका बड़ा आदर करते थे। बर्मा में भी राहुलजी के बहुत से प्रशंसक और पाठक थे।

श्रीलंका की तो बात ही निराली थी। बौद्ध भिक्षु के वस्त्र त्यागकर जब राहुलजी गृहस्थ बने थे, तो उस समय के भारत के उनके राजनीतिक विरोधियों ने उन्हें 'पतित' कहकर बदनाम करने के प्रयास किये थे। परंतु श्रीलंका के जिस विद्यालंकार विहार में रहकर वे बौद्ध भिक्षु बने थे, वहां के उनके गुरुबंधुओं को राहुलजी के वस्त्र त्यागने का कोई अफसोस नहीं था। उनके लिए महत्व का था— राहुलजी का अगाध पांडित्य और बौद्ध संस्कृति के अन्वेषण से संबंधित उनका महान कार्य। श्रीलंका का बौद्ध समाज, और वहां का शासन भी, राहुलजी के लिए हर संभव सुविधा देने के लिए तैयार था। वे चीन में बीमार पड़े तो वहां के श्रीलंका के राजदूत उन्हें एक से अधिक बार देखने गये थे। मगर ऐसी कोई जानकारी नहीं मिलती कि वहां के हमारे राजदूत भी रोगग्रस्त राहुलजी को देखने गये।

इसलिए श्रीलंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के महाचार्य के पद पर उनकी नियुक्ति हुई, तो उसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। 1927-28 में श्रीलंका के जिस विद्यालंकार विहार में राहुलजी ने अध्यापन-कार्य किया था, वही अब विश्वविद्यालय बन गया था। विश्वविद्यालय को योग्य प्राध्यापकों की आवश्यकता थी। विहार के तीन पुराने भारतीय शिष्यों को विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त किया गया— राहुलजी को दर्शन का, आनंदजी को हिंदी का और शांति भिक्षु शास्त्री को संस्कृत का। राहुलजी को काफी पहले ही निमंत्रण मिल गया था। मगर वे विश्वविद्यालय आरंभ होने के तीन महीने बाद सितंबर 1959 में श्रीलंका पहुंचे।

श्रीलंका में बौद्ध शिक्षा के दो बड़े केंद्र थे— विद्योदय विहार और विद्यालंकार विहार। 1959 में इन दोनों महाविहारों को सरकारी विश्वविद्यालय बना दिया गया। जून 1959 में भारत के राष्ट्रपति डा. राजेंद्र प्रसाद ने विद्यालंकार विश्वविद्यालय का उद्घाटन किया। विश्वविद्यालय जून 1959 में ही आरंभ हो गया था। आनंदजी पहले ही पहुंच गये थे। राहुलजी सितंबर (59) में पहुंचे। शांति भिक्षु एक महीने बाद अक्तूबर 1959 में विद्यालंकार पहुंचे-सपरिवार।

मगर राहुलजी, चाहने पर भी, अपना परिवार साथ नहीं ले जा सके। जब शांति भिक्षु अपना परिवार साथ रख सकते थे, तो राहुलजी के लिए भी कोई दिक्कत नहीं

थी। वहां मसूरी या दार्जिलिङ् जैसी ठंडी नहीं थी, मगर इलाहाबाद या वाराणसी जैसी गर्मी भी श्रीलंका में कहीं नहीं पड़ती। हरा-भरा देश है, वहां की जलवायु को असह्य नहीं ही कहा जा सकता। परिवार साथ रहता तो उनके लिए एक अच्छे बंगले की सहज व्यवस्था हो जाती। बच्चे साथ रहते तो राहुलजी अधिक सुखी और प्रसन्न रहते। उनके अनुकूल उन्हें घर का भोजन मिलता। बच्चे पास में रहने से उनके लिए भी उन्हें समय निकालना पड़ता, अपने को लगातार काम में जोते रखने की मजबूरी नहीं होती। वहां भी बच्चों की पढ़ाई की व्यवस्था हो ही सकती थी। बच्चे पिता के साथ रहते तो हिंदी और संस्कृत के प्रति उनका अधिक लगाव होता, वे अपने पिता के महान कृतित्व को अधिक अच्छी तरह समझ पाते। "संस्कृत काव्यधारा" का 'समर्पण' है- "जया और जेता को, जो कभी अपने पिता की इस कृति को पढ़ेंगे।"

मगर परिवार के मामले में राहुलजी अब विवश थे। मसूरी का मकान उन्होंने अपने नाम से खरीदा था, मगर बाद में उसे पत्नी के नाम कर दिया था। उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया था कि आगे नया मकान पत्नी की मर्जी से ही खरीदा जाएगा। पत्नी को पति के साथ श्रीलंका जाना नहीं था, इसलिए वे दार्जिलिङ् में एक मकान खरीदने की व्यवस्था में जुट गयीं और राहुलजी श्रीलंका पहुंचने की तैयारी में लग गये।

राहुलजी (उस समय स्वामी रामोदार साधु) पहली बार 1927 में विद्यालंकार महाविद्यालय आये थे और वहां 19 मास रहकर उन्होंने अध्यापन-अध्ययन का काम किया था। उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ भी उसी समय हुआ था। उस समय विद्यालंकार विहार ने रामोदार साधु को 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि प्रदान की थी। तिब्बत की पहली यात्रा (1929-30) से विद्यालंकार विहार लौटकर वे बौद्ध भिक्षु बने थे— भिक्षु राहुल सांकृत्यायन बने थे। इंग्लैंड और यूरोप की यात्रा (1932) से लौटने के बाद जनवरी 1933 में करीब पंद्रह दिन वे विद्यालंकार में रहे थे।

अब सितंबर 1959 में, पूरे 26 साल और आठ महीने बाद, राहुलजी पुनः विद्यालंकार में पहुंचे थे। इस दौरान काफी कुछ बदल गया था। श्रीलंका अब एक स्वतंत्र देश था। विहार अब विश्वविद्यालय बन गया था। विश्वविद्यालय की इमारत कुछ दूर थी, परंतु विहार के परिसर में भी अब कुछ नये भवन खड़े हो गये थे। गुरुवर महास्थविर धर्मानंदजी अब इस संसार में नहीं थे, मगर राहुलजी के कई गुरुबंधु थे, पुराने विद्यार्थी थे, जिनसे उन्हें भरपूर स्नेह व आदर मिलने वाला था। विहार के मुख्य भवन में, जिसमें विहाराध्यक्ष भी रहते थे, राहुलजी के निवास की व्यवस्था हुई। आनंदजी का निवास भी उसी भवन में था।

राहुलजी विद्यालंकार विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष (डीन और प्रोफेसर) नियुक्त हुए थे। वे सिंहल भाषा थोड़ी-बहुत शायद समझ लेते थे, मगर सिंहल में बोलने का उन्होंने कभी अभ्यास नहीं किया। विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम सिंहल भाषा थी। इसलिए राहुलजी के लेक्चरों को सिंहल में प्रस्तुत करने की व्यवस्था हुई। राहुलजी दर्शन और न्यायशास्त्र विषयक अपने भाषण संस्कृत में

देते थे और सिंहल विभाग के महाचार्य महास्थविर प्रज्ञाकीर्ति उनके अनुवादक बनकर बैठते और जो कुछ राहुलजी संस्कृत में कहते उसे वे सिंहल में उल्था करके विद्यार्थियों को समझाते चलते। महास्थविर प्रज्ञाकीर्ति 1928-29 में राहुलजी के विद्यार्थी रहे थे।

राहुलजी के न्यायशास्त्र संबंधी भाषणों के प्रज्ञाकीर्तिजी ने सिंहल में जो 'नोट' तैयार किये थे, वे वहां बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए।

उन दिनों की राहुलजी की जीवन-चर्या के बारे में आनंदजी बताते हैं- "यहां रहते समय राहुलजी का साहित्य-रचना का कार्य बराबर जारी था। राहुलजी को अपने 'व्याख्यान' की तैयारी करते कभी किसी ने नहीं देखा। वे बैठे-बैठे पुस्तक लिखते रहते। विश्वविद्यालय की घंटी बजती। वे उठकर पढ़ाने चले जाते। लौटकर आते, तो फिर कलम हाथ में ले लेते!"

डा. शांति भिक्षु शास्त्री ने लिखा है- "उस वय (67 साल) में भी राहुलजी की कार्यक्षमता देखकर हमें आश्चर्य होता था। वह पंजीयक महोदय के साथ परिवेण का निरीक्षण करने जाते, भदंत श्री प्रज्ञाकीर्ति को दुभाषिया बनाकर दार्शनिक विषयों पर भाषण देते, सामाजिक उत्सवों में भाग लेते और ग्रंथ-लेखन के कार्य में व्यस्त रहते।... रात को 2 बजे से पहले न सोते। अपने रहने के दोनों कमरों को उन्होंने काल-कोठरी का रूप दे रखा था। रात को मच्छर तथा कीड़े-मकौड़े भीतर न आ जाएं, इसलिए सभी झरोखे कांच से बंद करवा डाले थे तथा संध्या होते ही उनका सेवक आकर शीशेदार खिड़कियां बंद कर जाता था।"

राहुलजी को अब नियमित रूप से अच्छा वेतन मिल रहा था। हर महीने एक निश्चित रकम दार्जिलिङ् में पत्नी के पास पहुंच रही थी। फिर क्या वजह थी कि डायबेटीज और हृदय-रोग के मरीज होने पर भी, वे घोर परिश्रम कर रहे थे?

पहली बात तो यही थी कि लगातार लिखने-पढ़ने का काम करते रहने की उनकी आदत-सी हो गयी थी। दूसरे, स्वास्थ्य के मामले में वे बड़े बेपरवाह थे, पूरे दार्शनिक थे। अप्रैल 1961 के अपने एक पत्र में दार्जिलिङ् से आनंदजी को लिखते हैं "किड्नी (गुरदे) का खतरा डाक्टर बतलाते हैं, पर जीवन ही खतरे की बात ठहरा!" तीसरे, उन्होंने कुछ किताबों के बारे में पहले से योजनाएं बना रखी थीं, जिन्हें वे अपने जीवनकाल में पूरा कर डालना चाहते थे। 'तिब्बती-हिंदी कोश' और 'पालि-काव्यधारा' ऐसे ही ग्रंथ थे। "तिब्बती-हिंदी कोश" के लिए अपनी चीन-यात्रा से वे काफी नयी सामग्री लाये थे। "संस्कृत-काव्यधारा" लिखने के बाद ही नवंबर 1955 में उन्होंने "पालि काव्यधारा" लिख डालने का निश्चय किया था और ग्रंथ की एक विस्तृत विषय-सूची भी तैयार कर ली थी, जिसके बारे में उन्होंने आनंदजी के भी सुझाव मांगे थे । उसी तरह "दिवोदास" उपन्यास के लिए उनके 'नोट" पहले से तैयार थे।

राहुलजी ने श्रीलंका में सचमुच ही खूब लेखन-कार्य किया। "तिब्बती-हिंदी कोश" तैयार करने में उन्होंने बहुत परिश्रम किया। मगर यह कोश उनके जीवनकाल में नहीं छप सका। साहित्य एकादेमी द्वारा इस कोश का प्रथम खंड 1972 में छपा। दूसरा खंड आज भी अप्रकाशित पड़ा है! पहले खंड की भूमिका में राहुलजी लिखते हैं- "तिब्बती-हिंदी कोश" की बहुत जरूरत थी। तिब्बत हमारा पड़ोसी देश है, उससे हमारा 13 सौ वर्षों का घनिष्ठ संबंध है। हमारे पांच हजार ग्रंथों का अनुवाद कर तिब्बत ने सुरक्षित रक्खा है, जिनमें अधिकांश अब मूलभाषा संस्कृत या अपभ्रंश में नहीं मिलते। हमारे सांस्कृतिक इतिहास को उनकी आवश्यकता है। उनमें से कुछ को फिर से संस्कृत या हिंदी में करना होगा। इस काम में यह कोश भी सहायक होगा, क्योंकि यहां तत्सम शब्दों का भी प्रयोग है।" मगर इस कोश का दूसरा खंड कब प्रकाशित होगा?

"पालि काव्यधारा" के लिए विद्यालंकार में स्रोत-ग्रंथ सहज उपलब्ध थे, इसलिए राहुलजी ने उसे वहीं पर लिख डालना ठीक समझा। लगे हाथ व्यापक दृष्टि से "पालि साहित्य का इतिहास" भी लिख डाला। "पालि साहित्य का इतिहास" उत्तर प्रदेश की हिंदी समिति से राहुलजी के देहांत के कुछ समय बाद प्रकाशित हुआ।

मगर "पालि काव्यधारा"? इसे साहित्य एकादेमी ने प्रकाशन के लिए स्वीकार किया था, परंतु यह ग्रंथ अंततः वहां से नहीं छप सका, और अब तक अप्रकाशित है।

श्रीलंका के निवास-काल में ही राहुलजी ने एक और पुस्तक लिखी- "सिंहल के वीर पुरुष"।

जाड़े की छुट्टियों में जया-जेता और उनकी मां दो बार श्रीलंका गये तो राहुलजी भी विश्वविद्यालय की 1960 की गर्मियों की छुट्टियों में कुछ महीने दार्जिलिङ् आकर रहे। दार्जिलिङ्-निवास के दौरान घुमक्कड़ जयवर्धन से राहुलजी की भेंट हुई। उनके जीवन-चरित्र के नोट लेकर राहुलजी ने "घुमक्कड़ जयवर्धन" पुस्तक लिख डाली।

दार्जिलिङ् के "राहुल निवास" के नजदीक ही कप्तान लाल का निवास था। राहुलजी से उनकी प्रायः रोज ही भेंट होती थी। उनकी जीवन-गाथा राहुलजी को बड़ी दिलचस्प लगी। उन्होंने "कप्तान लाल" पुस्तक लिख डाली। यही शायद उनकी अंतिम पुस्तक है।

राहुलजी श्रीलंका से प्रायः रोज ही जया-जेता को एक पत्र लिखते थे, जिसमें मानव-विकास की कहानी रहती थी। वे पत्र मानव-जाति के विकास की सिलसिलेवार रोचक कथा बन गये, और बाद में "मानव की कहानी" शीर्षक से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुये।

सन 1960 के उत्तरार्ध से, लगता है कि, राहुलजी की स्मृति कुछ क्षीण होने लगी थी। उस साल गर्मियों की छुट्टियों में दार्जिलिङ् जाने पर एक पत्र में वे आनंदजी को लिखते हैं- "... स्मृति में कुछ ही सुधार हुआ है।" फिर 2.11.60

के पत्र में विद्यालंकार से इलाहाबाद में आनंदजी को लिखते हैं– "मेरा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है। स्मरण-शक्ति में कुछ सुधार हुआ है, जिससे क्लास को पढ़ा सकता हूं।" स्मृति क्षीण होने की शिकायत वे आगे भी कुछ पत्रों में करते हैं। इससे पता चलता है कि "स्मृतिलोप" के अंतिम आघात के लिए पृष्ठभूमि पहले से ही बन रही थी।

सन 1961 के आरंभिक महीनों के जाड़ों में जया-जेता और उनकी मां पुन: श्रीलंका में थे। राहुलजी चाहते थे कि वे सब उनके साथ श्रीलंका में रहें, लेकिन बच्चों की मां ने साफ इनकार कर दिया। फरवरी 61 में बच्चे भारत वापस चले आये, तो राहुलजी ने पुन: जोर-शोर से काम शुरू कर दिया। मगर अब उनका स्वास्थ्य काफी बिगड़ चुका था। शरीर ही नहीं, स्मृति भी ठीक से साथ नहीं दे रही थी। उनका जया-जेता के पास ही लौटना उचित समझा गया। किसी तरह कलकत्ता पहुंच गये, वहां के "डाबर हाउस" में ठहरे। वहां डाक्टरी परीक्षा हुई। 31 मार्च (61) को वे दार्जिलिङ् पहुंच गये।

आगे जुलाई (61) के आरंभ तक, पूरे तीन महीने, राहुलजी दार्जिलिङ् में ही रहे। उस दौरान राहुलजी ने प्राय: हर तीसरे-चौथे दिन अपने हाथ से आनंदजी को चिट्ठियां लिखीं।

दार्जिलिङ् पहुंचने पर राहुलजी एक नयी जिम्मेदारी स्वीकार करने के बारे में सोचने लगे थे। हिंदी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) 'धर्माचार विश्वकोश' के निर्माण का कार्य, शासन द्वारा मिलने वाले अनुदान से, आरंभ करने जा रहा था और उसकी जिम्मेदारी राहुलजी को सौंपनें की बात चलाई गई थी। राहुलजी ने उसके लिए अपने को तैयार भी कर लिया था। मगर करीब एक महीने बाद उन्हें स्पष्ट हुआ कि "सम्मेलन की योजना ख्याली पुलाव ही है। सरकार ने अनुदान अभी तक नहीं दिया, न देने की आशा है।"

राहुलजी 7 अप्रैल के पत्र में लिखते हैं– "किड्नी का खतरा डाक्टर बतलाते हैं, पर जीवन ही खतरे की बात ठहरा।" उसी पत्र में सूचना है कि राष्ट्रपति की ओर से कोई व्यक्ति स्वास्थ्य-समाचार पूछने आया था। 14 अप्रैल के अगले पत्र में आनंदजी को सूचना देते हैं– "यहां कल एक प्रसिद्ध अंग्रेज महिला डाक्टर ने देखा। हाई ब्लड-प्रेशर है। किड्नी भी डैमेज्ड है। चीनी को नियंत्रित करना है। कल उनके अस्पताल में जा रहा हूं।"

डाक्टर मिसेज पेटर्सन के नर्सिंग होम में आठ दिन रहकर लौटने के बाद लिखा गया पत्र काफी निराशाजनक हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। कई परीक्षण हुए थे। दवाइयों की सूची बनी थी। कालानुसार भोजन की सूची भी बनी थी। डा. पेटर्सन ने यह भी कहा कि राहुलजी यदि उनकी हिदायतों के अनुसार चलते हैं, तो उनके "20 वर्ष और जीने की गारंटी है।" राहुलजी के लिए उस गारंटी का कोई अर्थ नहीं था।

उसी पत्र में राहुलजी आगे लिखते हैं- "यहां तो केवल ... विश्वकोश का काम था। न हुआ तो शायद भस्मांत सिंहल में ही हो। कमला न आयी, तो दवाइयों के इंजेक्शन तथा बिना मसाले के भोजन तैयार करने के लिए किसी अर्धवृद्धा का सहारा मिल गया, तो मैं आ जाऊंगा।" फिर अगले पत्र में लिखते हैं कि बच्चों के भविष्य और चिकित्सा की ज्यादा चिंता है...। जो किताबें, पांडुलिपियां, कापियां और अन्य सामान राहुलजी विद्यालंकार में छोड़ आये थे, उनकी उन्हें बड़ी चिंता थी। उनके बारे में वे आनंदजी को बार-बार लिख रहे थे, और महत्त्व की चीजें दार्जिलिङ् मंगवा रहे थे।

इसमें कोई शक नहीं कि राहुलजी को सबसे ज्यादा चिंता बच्चों के भविष्य की थी। वे अच्छी तरह जानते थे कि उनके देहांत के बाद प्रयाग का उनका प्रमुख प्रकाशक उनके बच्चों को एक दमड़ी भी नहीं देगा। अत: वे किसी स्थायी बंदोबस्त की फिक्र में थे। विद्यालंकार में प्राध्यापकी करने से उनके पास कुछ हजार रुपए जमा हो गये थे। दार्जिलिङ् में एक मकान बिक रहा था, मगर उसकी कीमत बहुत ज्यादा थी। सोचते थे, बाकी रुपया तीन साल की तीन किस्तों में चुकाने की व्यवस्था हो जाए या कर्ज मिल जाए, तो मकान खरीद लें और उसे किराए पर उठा दें- "जया-जेता का भविष्य निश्चिंत हो जाएगा....।"

जुलाई (61) के दूसरे सप्ताह राहुलजी पुन: अकेले ही श्रीलंका गये। वहां वे करीब एक महीना ही रह पाये। उन दिनों के बारे में आनंदजी लिखते हैं- "न वे पढ़ा सकते थे, न उन्हें किसी ने पढ़ाने के लिए कहा। उनके खाने-पीने की सुविधा-असुविधा का ख्याल करके उन्हें उनके एक परम मित्र श्री एम.के. कापडिया के यहां ही रखा गया। इस बार सिंहल-निवास उन्हें बिल्कुल नहीं पोसाया। राहुलजी अगस्त (61) में श्रीलंका से रवाना हुए—फिर न लौट आने के लिए। मैं कलकत्ता तक उनके साथ गया, जहां से वे अकेले हवाई जहाज से बागडोगरा (दार्जिलिङ्) गये।"

राहुलजी अपने बच्चों के पास पहुंच गये थे, मगर वे दार्जिलिङ् में नहीं रहना चाहते थे- कारण जो भी रहे हों। दार्जिलिङ् पहुंचने के कुछ दिन बाद ही आनंदजी को वे प्रयाग के पते पर लिखते हैं- "अनिश्चित अवस्था से मन चिंतित है। लंका जाने का मन करता है।" फिर 23 सितंबर (61) को लिखते हैं- "यद्यपि आज यहां आये 23 ही दिन हुए हैं, पर मालूम होता है छ: मास हो गये। इन सारे दिनों को बड़ी चिंता में बिता रहा हूं। बच्चों का भविष्य सामने है। सम्मेलन का विश्वकोश का काम अभी अनिश्चित है। डा. उदयनारायण तिवारी से पूछिए, यदि निश्चित न हो, तो सीलोन आपके साथ ही चला चलूंगा, कम से कम जीवनभर बच्चों के लिए 750 रु. मासिक तो भेजता रहूंगा। फिर चिंता नहीं रहेगी, "मुंद गई जब अंखडियां तब सोज़ सब आनंद है'। कमलाजी अपनी जिद पर रहें, लंका न जायें, पर मैं तो जीवनभर के लिए चला चलूंगा। प्रयाग या लंका में एक जगह जाने का निश्चय ही मेरी चिंता को हटा सकता है। .... मेरा स्वास्थ्य वैसा ही है।

आप यहां आएं, तो साथ ही चलने का प्रोग्राम बनाएं।" आनंदजी तब छुट्टियों में भारत चले आये थे।

फिर 11 नवंबर (61) का, यानी "स्मृतिलोप" के ठीक एक माह पहले का, हाथ का ही लिखा पत्र है– "प्रिय आनंदजी, मैंने वहां रजिस्ट्रार को अप्रैल 1962 तक की छुट्टी लिख दी है। फरवरी तक प्रतीक्षा करके प्रयाग की आशा छोड़कर लंका सदा के लिए चला जाऊंगा। बच्चे वहीं कभी-कभी देखने चले आएंगे, मैं जीवनभर वहीं बना रहूंगा।... यहां के डाक्टर ने 20 वर्ष तक और जिंदा रहने की बात की है। मुझे कोई हर्ष-शोक नहीं। चाहता हूं, बच्चों को साल में 9 हजार भेज सकूं।....."

आनंदजी को वे अपने हाथ से ही पत्र लिखते थे। इधर राहुलजी के हस्ताक्षर इतने बिगड़ गये थे कि सहज में पढ़े ही नहीं जाते थे। इसलिए आनंदजी ने उन्हें लिखा भी था– "न हो चिट्ठी टाइप करके ही भेज दिया करें।" दार्जिलिङ् से 4.4.61 का राहुलजी का उत्तर था– "जब तक आप मेरी चिट्ठी पढ़ लेते रहेंगे, अपने हाथ ही लिखता रहूंगा।"

राहुलजी का दार्जिलिङ् से 18.11.61 को आनंदजी को लिखा जो अंतिम पत्र मेरे पास है, वह उनके हस्ताक्षरों में नहीं है, टाइप किया हुआ है– "प्रिय आनंदजी, आपका पत्र मिल गया। मैं अभी कोई निश्चय (नहीं) कर पा रहा हूं, स्मरण में दिक्कत हो रही है। समय अब निश्चित ही मालूम होता है, और क्या कहूं।...."

स्मृतिलोप

राहुलजी सोने से पहले नियमित रूप से अपनी डायरी लिखते थे। आनंदजी लिखते हैं कि राहुलजी ने 1927 से नियमित रूप से डायरी लिखी है। परंतु पता चलता है कि 1922 से ही उन्होंने डायरी लिखना शुरू कर दिया था। मगर उनकी सारी डायरियां आज "राहुल संग्रहालय" में उपलब्ध नहीं हैं। उनकी कुछ सालों की डायरियां पं. उदयनारायण तिवारी के पास रहीं।

जिन थोड़े आत्मीय व्यक्तियों के साथ राहुलजी के घनिष्ठ संबंध थे, जिनसे वे अपने मन की बात काफी खुलकर कह सकते थे, उनमें एक थे- पं. उदयनारायण तिवारी। तिवारीजी ने भी लिखा है- "उनके गुण-दोषों को मैंने अति निकट से देखा था, किंतु वे सदैव मेरी श्रद्धा के पात्र बने रहे।... चाहे जहां भी रहते थे, मुझे बराबर लिखते थे। सौभाग्य से ये पत्र आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं।"

मगर, मेरी ताजा जानकारी के अनुसार, तिवारीजी को लिखे राहुलजी के वे तमाम महत्वपूर्ण पत्र आज सुरक्षित नहीं हैं! राहुलजी द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को लिखे गये हजारों पत्रों की सुरक्षा का, समय रहते, इंतजाम करना जरूरी है। वे स्वयं पत्रों के महत्व को समझते थे। अत्यंत व्यस्त और घुमक्कड़ी के अपने जीवन के बावजूद उन्होंने अपने मित्रों के महत्वपूर्ण पत्र अंतिम समय तक अपने पास सुरक्षित रखे थे।

जैसा कि आनंदजी को लिखे 18 नवंबर (1961) के अंतिम पत्र से पता चलता है, राहुलजी को इस बात का आभास हो गया था कि उनकी स्मरण-शक्ति अब उनका साथ छोड़ने जा रही है। फिर भी उन्होंने सपरिवार कलकत्ता जाने का कार्यक्रम बनाया। वहां पं. किशोरीदास वाजपेयी के सम्मान में कोई समारोह था। आनंदजी लिखते हैं- "दिसंबर के महीने जब वह दार्जिलिङ् से कलकत्ता जाने लगे, तो उन्होंने 8 दिसंबर 1961 के दिन अपनी डायरी का अंतिम पृष्ठ लिखा- 'आज पांच बजे सबेरे घर से जा रहे हैं। दोपहर तक विमान के अड्डे पर। डायरी लिखना छोड़ रहा हूं।'

फिर भी, उन्होंने 1962 की डायरी ली और उसमें 10 दिसंबर 1961 के दिन अपने हस्ताक्षर किये। अगले दिन 11 दिसंबर, 1961 को उन्हें कलकत्ता में ही 'स्मृतिलोप' का आघात हुआ। घटना की साक्षी उनकी बेटी जया बताती है- "इसी गोष्ठी के दिनों की बात है। एक रोज पापा के मित्र उन्हें घेरकर बैठे हुए थे। काफी रात बीतने पर

ही सारे लोग गये। अगले सबेरे जब हमारी नींद खुली, तो पाया कि अम्मा जोर-जोर से पापा से बोल रही हैं, उन्हें पकड़कर बाथरूम ले गयी हैं और पापा कुछ समझ ही नहीं पा रहे हैं!''

अब राहुलजी का 'स्मृतिलोप' का शेष जीवन उनके असाध्य रोग की करुण कहानी मात्र है। उन्हें कलकत्ता के एक अस्पताल में भर्ती किया गया, वहां कई महीने तक इलाज चला। उनकी अच्छी से अच्छी चिकित्सा की व्यवस्था की गयी, किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। जया-जेता का स्कूल खुलने का समय आया, तो वे दार्जिलिङ् चले गये। उनकी मां राहुलजी के पास लौट आयी और सतत उनके साथ रहीं।

राहुलजी अब किसी को पहचानने में असमर्थ थे। सब को ''भैया'' कहते थे— अपनी पत्नी को भी! कोई भी उनसे मिलने जाता तो उसे चाय पिलाने को कहते! यह भी पता चलता है कि वे अपने अधिक पुराने मित्रों और परिचितों को काफी-कुछ पहचान लेते थे।

'स्मृतिलोप' के दिनों में ही श्रीलंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय ने राहुलजी को साहित्य-चक्रवर्ती (डी.लिट्.) की उपाधि प्रदान की। उसी दौरान भारत सरकार ने राहुलजी को 'पद्म-भूषण' से सम्मानित किया। मगर अब इन सम्मानों और उपाधियों का राहुलजी के लिए कोई मतलब नहीं था।

सोचा गया कि शायद सोवियत रूस में राहुलजी का बेहतर इलाज हो सकता है। इसलिए उनको मास्को ले जाया गया। उनकी पत्नी भी उनके साथ गयीं। वहां के एक अस्पताल में लगभग सात महीने तक उनका उपचार हुआ। मगर उसका भी कोई लाभ नहीं हुआ। आनंदजी लिखते हैं– ''दुनिया में सभी रोगों की दवा है। सभी 'रोगियों' की कहां है?''

राहुलजी जब मास्को के अस्पताल में थे, तो उनकी रूसी पत्नी और पुत्र ईगोर उनसे मिलने आये थे।

रूस में भी कोई विशेष स्वास्थ्यलाभ नहीं हुआ, तो राहुलजी भारत लौटे और 23 मार्च, 1963 को दार्जिलिङ् पहुंच गये। जया बताती है कि ''दूर से देखने में लगता कि वह पहले की तरह बिल्कुल स्वस्थ हैं, मगर पास आने पर उनकी दिमागी हालत का पता चलता।''

9 अप्रैल, 1963 को राहुलजी का जन्म-दिवस था। उस दिन वे पूरे 70 साल के हुए थे। जन्म-दिवस पर कई लोग बधाई देने आये। उसी रात उनकी तबीयत ज्यादा बिगड़ गयी। अगले दिन उन्हें अस्पताल ले जाया गया। बेहोश थे। बीच में कुछ समय के लिए ही उन्होंने आंखें खोलीं। पत्नी पास में थी। राहुलजी के पूर्व-परिचित नेवार भिक्षु महानामजी भी मौजूद थे। उनकी मौजूदगी में ही 14 अप्रैल, 1963 को प्रातःकाल महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अंतिम सांस ली।

राहुलजी के भाई को उनके गांव सूचना भेज दी गयी थी। वे आये। उन्होंने शरीर को काशी ले जाना चाहा। मगर वह संभव नहीं था, उचित भी नहीं था। भिक्षु

महानामजी की उपस्थिति में बौद्ध पद्धति से राहुलजी का अंतिम संस्कार हुआ, दार्जिलिङ् की श्मशान-भूमि में उनका दाह-संस्कार सम्पन्न हुआ।

जिस स्थान पर राहुलजी का दाह-संस्कार हुआ, उसी स्थान पर उनकी स्मृति में बाद में एक छोटा 'राहुल चैत्य' बना।

उपसंहार

जनवरी 1935 की बात है। राहुलजी अपनी दूसरी तिब्बत-यात्रा से वापस लौटे थे, प्रयाग पहुंचे थे और जापान-यात्रा की तैयारी कर रहे थे। एक दिन कलकत्ता की 'पहली उड़ान' (1907 ई.) के दिनों के पुराने मित्र महादेवप्रसाद मिल गये। लिखते हैं- "अब उनके चेहरे पर बुढ़ापे का असर था। तरुणाई ने उन्हें भी एक बार कलकत्ता तक छलांग मारने के लिए मजबूर किया था, लेकिन फिर वे हिम्मत हारकर बैठ गये। नून, तेल, लकड़ी की फिकर ने सारे जीवन को ले लिया। मैं छलांगों पर छलांगें मारता रहा, और अब भी नई छलांगों के लिए उतना ही उत्साह है। मैं मरूंगा भी तो छलांगें मारता ही।"

राहुलजी तब 42 साल के थे, और महादेवप्रसाद उनसे एक-दो साल ही बड़े रहे होंगे। फिर भी दोनों के जीवन में कितना बड़ा अंतर! कुछ ही दिन बाद राहुलजी जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत रूस और ईरान की यात्रा पर निकल पड़ते हैं, सचमुच ही छलांगों पर छलांगें मारते जाते हैं। आगे जाकर तिब्बत की दो और यात्राएं करते हैं, जान भी जोखिम में डालते हैं।

नून, तेल, लकड़ी की फिक्र से राहुलजी भी नहीं बच पाये, मगर छलांगें मारना उन्होंने नहीं छोड़ा। राहुलजी 1944 में सिर्फ प्राध्यापकी करने के लिए लेनिनग्राद नहीं गये थे। उस रूस-यात्रा का मुख्य उद्देश्य था—महायुद्ध के संकट के दिनों में पत्नी लोला और बेटे ईगोर के साथ रहना। उनके साथ कुछ दिन रहने के बाद वे मध्य-एशिया पहुंचने के लिए छटपटाते रहे। वह संभव नहीं हुआ, तो लेनिनग्राद का सुख-सुविधा का जीवन छोड़कर भारत लौट आये।

भारत में नई गृहस्थी बसाने के बाद भी उन्होंने जब-तब छलांगें लगाना नहीं छोड़ा। पैंसठ साल की आयु में अकेले ही चीन-यात्रा पर गये थे— तिब्बत जाकर खोजकार्य करने के इरादे से। तिब्बत जाना संभव नहीं हुआ, मगर, प्रतिकूल स्वास्थ्य के बावजूद, तुङ्-ह्वान तक छलांग लगाकर ही लौटे!

राहुलजी के "स्मृतिलोप" को क्या समझा जाए? क्या वह भी एक लंबी छलांग ही थी—जागृतावस्था से विस्मृतावस्था में? स्मृतिलोप के जो भी कारण बताए जाते हों, मगर राहुलजी को अंतिम दिनों में स्पष्ट आभास हो गया था कि उनकी स्मृति क्षीण होती जा रही है। आनंदजी को लिखे अपने पत्रों में वे इस बात का जिक्र भी करते हैं।

डायबेटीज के मरीज थे, हार्ट-अटैक हो चुका था, बीमार होकर ही चीन से लौटे थे, मगर श्रीलंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त होने पर अब आर्थिक चिंता की कोई विशेष बात नहीं थी। फिर क्या वजह थी कि राहुलजी ने वहां रहते घोर परिश्रम किया, स्वास्थ्य की परवाह नहीं की?

समझना कठिन नहीं है। पहली बात तो यही है कि उन्हें मृत्यु का कभी भय नहीं रहा। पुनर्जन्म में बिलकुल विश्वास नहीं था। अक्सर कहते भी थे- "मुझे जो कुछ करना है, इसी जन्म में करना है।" इसलिए सोचते थे कि, जिन पुस्तकों को लिखने के बारे में सालों से सोचता आ रहा हूं, जिनके लिए स्रोत-सामग्री जोड़ी है, उन्हें पूरा कर डालूं— जल्दी से जल्दी।

अपनी पहली तिब्बत-यात्रा (1929-30) के दौरान राहुलजी ने ल्हासा में 'तिब्बती-संस्कृत कोश' के करीब 16 हजार शब्द तैयार किये थे। वह कार्य अधूरा रह गया था। उस कार्य को पूरा कर डालने के लिए अपनी चीन-यात्रा (1958) में उन्होंने काफी नई सामग्री जुटाई थी। इसलिए चीन से श्रीलंका पहुंचने पर वे 'तिब्बती-हिंदी कोष' को पूरा कर डालने में जोर-शोर से जुट गये।

"पालि काव्यधारा" तैयार करने का राहुलजी का संकल्प काफी पुराना था । विद्यालंकार में पालि साहित्य सुविधा से उपलब्ध था । उन्होंने "पालि काव्यधारा " लिख डाली। "पालि काव्यधारा" तैयार करने के साथ-साथ "पालि साहित्य का इतिहास" भी लिख डाला। "ऋग्वेदिक आर्य" लिख चुके थे। "दिवोदास" के नोट तैयार थे, जल्दी में एक छोटा उपन्यास भी लिख डाला।

राहुलजी के जीवन में आलस्य के लिए कोई स्थान नहीं था । वे कठोर परिश्रम के आदी थे। जीवन के अंतिम वर्षों (1959-61) के विद्यालंकार-निवास के दौरान उन्हें विद्यालंकार में ही बिताए वे उन्नीस माह (1927-28) अवश्य ही बार-बार स्मरण आते होंगे जब उन्होंने वहां कठोर परिश्रम करके विद्यार्जन किया था, जब वे अपने हर मिनट का हिसाब देने में समर्थ थे, और 1930 में जब उन्होंने वहीं पर "बुद्धचर्या" जैसा ग्रंथ (बड़े आकार के 612 पृष्ठ) कुल 68 दिनों में लिख डाला था!

राहुलजी हर परिस्थिति में लेखन-कार्य करने में समर्थ थे। उन्होंने 'बाईसवीं सदी', 'सिंह सेनापति', 'वोल्गा से गंगा', 'मानव-समाज', 'विश्व की रूपरेखा', 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' और 'दर्शन-दिग्दर्शन' जैसी अपनी कई पुस्तकें जेल में लिखीं। मजे की बात यह है कि उनकी यही पुस्तकें ज्यादा लोकप्रिय हुईं, और प्रमुखत: यही पुस्तकें अधिक भाषाओं में अनूदित भी हुईं। इसी तरह की राहुलजी की एक और लोकप्रिय पुस्तक है- "साम्यवाद ही क्यों ?", जिसे उन्होंने दूसरी तिब्बत-यात्रा के दौरान (1934) धार्मिक सामंतशाही के गढ़ ल्हासा में बैठकर लिखा था। उसी समय ल्हासा में ही उन्होंने "विनय पिटक" का हिंदी में अनुवाद कर डाला। "मज्झिम निकाय" का अनुवाद उन्होंने दूसरी लदाख-यात्रा के दौरान किया था।

राहुलजी ने बहुत लिखा – अनेक विधाओं में और अनेक विषयों पर लिखा। बहुतों को ताज्जुब होता है कि इतनी सारी यात्राएं करते हुए वे इतना अधिक लेखन कैसे कर पाये।

वास्तविकता यह है कि अपनी अनेकानेक यात्राओं के कारण ही वे इतना अधिक लिख पाये। पढ़ते भी खूब थे, मगर यात्राओं में अर्जित ज्ञान और अनुभव उनके लेखन के लिए ज्यादा उपयोगी साबित हुए। उनकी करीब बीस पुस्तकों (हिमालय-परिचय माला और यात्रा-विवरण) का सीधा संबंध उनकी यात्राओं से है। उन्होंने देश-विदेश के ऐतिहासिक स्थानों की बार-बार यात्राएं कीं, एक पुराविद की गहरी पैठ रखते थे, इसलिए वे 'सिंह सेनापति' 'मधुर स्वप्न', 'विस्मृत यात्री' और 'जय यौधेय' जैसे ऐतिहासिक उपन्यास सफलतापूर्वक लिख पाये। तिब्बत की चार यात्राएं करके प्राचीन भारतीय वाङ्मय के जिन विलुप्त रत्नों की उन्होंने खोज की वह भारतीय संस्कृति को उनकी महान देन है।

यात्राओं से उन्हें बल मिलता था, स्फूर्ति मिलती थी। वे शौकिया यायावर नहीं थे। उनकी यात्राएं सोद्देश्य होती थीं। बीसवीं सदी में शायद ही किसी अन्य भारतीय ने इतनी विस्तृत यात्राएं की हों और इतना अधिक यात्रा-साहित्य लिखा हो। घुमक्कड़ी उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी, उनके जीवन का अभिन्न अंग थी। प्रमुखत: घुमक्कड़ी के कारण ही वे छलांगें लगाते हुए जीवन में तेजी से आगे बढ़ते गये। घुमक्कड़ी ने ही उनके विचारों को व्यापक बनाया, उन्हें महापंडित बनाया। राहुलजी को घुमक्कड़ी का जीवन इतना अधिक प्रिय था कि उन्होंने एक नया "घुक्कड़-शास्त्र" ही रच डाला।

राहुलजी ने लगभग समूचे एशिया को पादाक्रांत किया। इंग्लैंड और यूरोप के कुछ देशों की भी यात्रा की। मगर अमरीका जाने की उनकी कभी इच्छा नहीं हुई, हालांकि 1932 में जब वे इंग्लैंड में थे तो उनसे अमरीका जाने का अनुरोध भी किया गया था।

इतनी सारी यात्राएं करने पर भी एक महत्वपूर्ण यात्रा का राहुलजी का सपना पूरा नहीं हुआ। वह सपना था—मुख्य मध्य-एशिया की यात्रा। तिब्बत की प्रथम यात्रा के भी काफी पहले 1926 में राहुलजी जब लदाख पहुंचे थे, तो चीनी तुर्किस्तान के काशगर, यारकंद, खोतन आदि स्थानों की यात्रा करने की उनकी बड़ी इच्छा हुई थी। यात्रा का प्रबंध भी हो गया था, परंतु पासपोर्ट मिलना संभव नहीं था।

राहुलजी जब लेनिनग्राद में थे, 1945-47 में, तब भी उन्होंने सोवियत मध्य-एशिया की यात्रा के लिए खूब कोशिश की थी, किंतु सोवियत शासन ने अनुमति नहीं दी। राहुलजी 1958 में चीन की यात्रा पर गये, तभी वे बड़ी मुश्किल से तुङ्-ह्वान तक जा पाये, और इस प्रकार चीनी तुर्किस्तान के पूर्वी छोर के दर्शन करके आये।

राहुलजी ने दो बड़ी जिल्दों में मध्य-एशिया का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत कर दिया, मगर मध्य-एशिया की मर्मस्थली को वे प्रत्यक्ष नहीं देख पाये, इसका उन्हें निश्चय ही बहुत अफसोस रहा होगा।

राहुलजी की यात्राएं पैसों के बल पर नहीं होती थीं। वस्तुत: 1948 तक रुपयों-पैसों की उन्होंने कोई विशेष चिंता भी नहीं की। श्रीलंका के विद्यालंकार विहार में अध्यापक बनकर गये (1927), तो बोले मुझे कोई वेतन नहीं चाहिए। भोजन, निवास, पढ़ाई और पुस्तकों की व्यवस्था होनी चाहिए। बस।

राहुलजी तिब्बत से हस्तलिपियों, चित्रपटों आदि के रूप में ऐसी चीजें लाये थे जिन्हें बेचकर वे लाखों रुपए कमा सकते थे। नालंदा में एक विद्यापीठ की स्थापना के लिए कुछ चित्रपट बेच देने का उन्होंने निश्चय भी किया था। परंतु जब उन्हें उन चित्रपटों का वास्तविक महत्व स्पष्ट हो गया, तो उन्होंने उन्हें पटना संग्रहालय को सौंप दिया। राहुलजी ने पुरातात्विक महत्व की वस्तुएं अपने पास न रखकर विभिन्न संग्रहालयों को सौंप दीं।

राहुलजी धन या सुख-सुविधाओं के मोह में कभी नहीं फंसे। परसा और तिरुमिशी के मठों का सुख-सुविधाओं का जीवन उन्हें एक खूंटे से बांधकर नहीं रख सका। जब वे लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे (1945-47), तो आखिरी दिनों में पैसों की बाढ़-सी आ गयी थी, मगर राहुलजी उसमें बहने के लिए वहां नहीं रुके, स्वदेश वापस लौटे।

राहुलजी पैसों के मामले में बड़े स्वाभिमानी थे। उन्होंने सम्मेलन का परिभाषा-निर्माण का काम किया, समिति की साहित्य-योजना का काम किया, किंतु इन दोनों संस्थाओं से कोई वेतन नहीं लिया।

राहुलजी ने कोई पाठ्य-पुस्तक नहीं लिखी। महज पैसों के लिए, अपनी पुस्तकों में कोई परिवर्तन करना या पुरस्कार के लिए अपनी पुस्तक कहीं भेजना उन्हें कतई पसंद नहीं था। उनकी पहली प्रमुख पुस्तक "बुद्धचर्या" जब प्रेस में दी गयी तो उसके लिए पैसों की जरूरत पड़ी। आचार्य नरेंद्रदेव ने बाबू शिवप्रसाद गुप्त से सिफारिश की। शिवप्रसादजी ने डा. भगवानदास को राय देने के लिए कहा। भगवानदासजी की राय रही कि ग्रंथ को शब्दानुवाद के रूप में न रखकर पुराणों की तरह स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाए। राहुलजी लिखते हैं- "ऐतिहासिक दृष्टि और ईमानदारी मुझ में अब काफी थी, इसलिए उनकी बात का मुझ पर असर क्या पड़ता? मैंने 'बुद्धचर्या' के रूप में बुद्ध और बुद्धकालीन भारत के इतिहास की सामग्री मौलिक रूप में रखनी चाही थी, बाबू भगवानदास की बात मानने से उस पुस्तक को आग में डाल देना मैं पसंद करता।"

इसी तरह के एक अन्य प्रसंग की जानकारी आनंदजी ने दी है। जेल (1942) में लिखे गये "दर्शन-दिग्दर्शन" ग्रंथ की पांडुलिपि आनंदजी के पास थी। वे उसके प्रकाशन की कोशिश में जुटे हुए थे। बंगाल की एक हिंदी प्रेमी संस्था ने पांडुलिपियों पर पुरस्कार देने की एक योजना बनायी थी। आनंदजी ने सोचा कि यदि पुरस्कार मिल जाता है तो पुस्तक को छपवाने में सुविधा होगी। उन्होंने इस संबंध में राहुलजी को लिखा। उत्तर मिला :

''प्रिय आनंदजी,

रुपए के मूल्य को मैं भी समझता हूं। किंतु मेरी पांडुलिपि कहीं पुरस्कृत होने के लिए न भेजना।''

आनंदजी की टिप्पणी है- ''राहुलजी ने अपनी किसी कृति को उसी तराजू पर न चढ़ने दिया, जिसके दूसरे पलड़े में कोई छोटी या बड़ी थैली रखी हो।''

राहुलजी ने रूस से लौटने के बाद दो साल के अंदर ही नयी ''गृहस्थी'' बसायी, तब से उन्हें आर्थिक चिंता सताने लगी। तब से अपनी आर्थिक चिंता का वे बार-बार जिक्र करते हैं। बेटी व बेटे के जन्म के बाद तो वे और भी ज्यादा चिंतित रहने लगे। इसमें संदेह नहीं कि उनके जीवन के अंतिम करीब दस साल परिवार के आर्थिक भविष्य की सुरक्षा की चिंता में गुजरे।

राहुलजी ने राजनीति में भी जमकर भाग लिया, 1921 से 1944 तक, बीच के कुछ सालों के अंतराल को छोड़कर। लेखन और अनुसंधान-कार्य को अपनाने के पहले ही वे राजनीति में प्रवेश कर चुके थे। राजनीतिक कार्य करने में, किसानों-मजदूरों के लिए संघर्ष करने में उन्हें बड़ा सुख मिलता था। 1930 की बात है। राहुलजी अपनी प्रथम तिब्बत-यात्रा से श्रीलंका लौटकर भिक्षु बन गये थे। भारत में चल रहे सत्याग्रह के आंदोलन से अलग रहना उन्हें असह्य लग रहा था। आनंदजी के कमरे में पहुंचकर बोले- 'भारत में यज्ञ हो रहा है। उसमें समिधाओं की कमी न रहनी चाहिए।' दोनों ने भारत लौटने की योजना बनायी।

राहुलजी तीसरे दशक के मध्य में ही बिहार के एक चोटी के नेता के रूप में उभर चुके थे, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी चुने गये थे। अनुसंधान-कार्य में जुट जाने पर भी राजनीतिक कार्य करने की लालसा उनमें बराबर बनी रही। अपनी पहली तिब्बत-यात्रा से कलकत्ता वापस लौटे, तो लिखते हैं- ''बड़ा बाजार में सत्याग्रहियों पर लाठी पड़ते देखी। मेरा दिल बहुत ललचाने लगा, लेकिन मैं इक्कीस खच्चरों पर ग्रंथराशि तिब्बत से जमा करके लाया था। जब तक उन्हें सीलोन नहीं पहुंचा देता, तब तक मैंने अपने लालच को दबाना ही पसंद किया।'' राहुलजी छह महीने बाद भारत लौटे और आंदोलन में कूद पड़े।

डा. काशीप्रसाद जायसवाल ने भी लिखा है- ''राहुलजी अपने सामाजिक और राजनीतिक कार्य को सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं।.... राहुल सांकृत्यायन वस्तुत: जनता के आदमी हैं...।'' जायसवालजी ने उन्हें राजनीति से पृथक रखने का भी प्रयास किया था, मगर अपनी चौथी तिब्बत-यात्रा के बाद राहुलजी पुन: जोर-शोर से राजनीति में कूद पड़े। गंतोक से कलकत्ता पहुंचने पर पहले ही दिन घोषण कर दी- ''मैं अब क्रियात्मक राजनीति में भाग लेने जा रहा हूं।'' आगे लिखते हैं- ''मैं पहले भी राजनीति में अपने हृदय की पीड़ा दूर करने आया था, गरीबी और अपमान को मैं भारी अभिशाप समझता था।''

राहुलजी कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य बने, उन्होंने किसान-सत्याग्रह आयोजित किये, जेल गये, जेल में खूब लेखन-कार्य किया, राजनीति से संबंधित भी काफी साहित्य लिखा। अगस्त 1947 में स्वतंत्र भारत में वापस लौटने के बाद भी राजनीतिक कार्य करने की उनकी लालसा बरकरार थी। मगर सम्मेलन का सभापति चुने जाने पर और फिर पार्टी से पृथक होने पर उनके जीवन का मार्ग ही बदल गया। फिर भी उन्होंने स्तालिन, लेनिन, कार्ल मार्क्स तथा माओ की जीवनियां लिखीं, 'कम्यूनिस्ट क्या चाहते हैं?' जैसे अनेक पम्फ्लेट लिखने-छापने की योजना बनायी थी।

राहुलजी ने बंबई सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गये अपने भाषण में 'इस्लाम के भारतीयकरण' के बारे में जो बातें कहीं थीं उन्हें उस समय पार्टी के नेता ठीक से समझ नहीं पाये थे। राहुलजी की भारतीयता 'हिंदू भारतीयता' नहीं थी। राहुलजी समग्र भारतीय संस्कृति को अपनी प्यारी संस्कृति मानते थे, अपने को उसी भारतीय संस्कृति का एक प्रतिनिधि मानते थे, उत्तराधिकारी मानते थे, बावजूद इसके कि वे अनीश्वरवादी थे, बुद्ध के प्रति बहुत सम्मान रखते थे, साम्यवादी थे और धर्म तथा जात-पांत की संकीर्णता से कोसों दूर थे। राहुलजी ने देश के विभिन्न प्रदेशों की तो बार-बार यात्राएं की ही थीं, उन्होंने अन्य अनेक देशों की भी यात्राएं कीं और उनकी संस्कृतियों को निकट से देखा-परखा था, इसीलिए वे भारतीयता को या भारतीय संस्कृति को इसके सही व्यापक अर्थ में समझने में समर्थ थे।

राहुलजी को भारतीय संस्कृति से प्रेम था, उन्हें जनता की भाषा में बोलना और लिखना पसंद था। लेकिन उनके समूचे लेखन पर और उनकी सारी यात्राओं पर विचार किया जाए तो वे केवल भारत के ही नहीं, बल्कि समूचे एशिया के एक घुमक्कड़-राज महापंडित के रूप में उभरते हैं।

राहुलजी सचमुच ही जीवनभर छलांगों पर छलांगें मारते रहे। छलांगें लगाते उनके नाम बदले, चोले बदले, धार्मिक मान्यताएं बदलीं, यहां तक कि विचार भी बदलते रहे। बहुतों को इससे भले ही आश्चर्य होता रहा हो, परंतु राहुलजी के लिए, उनकी यह सतत गतिशीलता, यह परिवर्तनशीलता, एक सहज स्वाभाविक चीज थी। उनका आदर्श रहा, बुद्ध का यह वचन --

''बेड़े की तरह पार उतरने के लिए मैंने विचारों को स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाए-उठाए फिरने के लिए।''

राहुलजी द्वारा बार-बार दोहराये गये उनके इस आदर्श-वाक्य को स्मरण रखा जाये, तो फिर उनके बुद्धिवैभव को और उनके विराट व्यक्तित्व को समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए!

परिशिष्ट 1

संक्षिप्त जीवन-क्रम

1893-	:	09 अप्रैल 1893 (वैशाख कृष्ण अष्टमी रविवार संवत् 1950 विक्रमी) को ननिहाल-ग्राम पन्दहा (जिला : आजमगढ़, उत्तर प्रदेश) में जन्म। बचपन का नाम : केदारनाथ। नाना : रामशरण पाठक (1844-1913) माता : कुलवंती देवी। पिता : कनैला (आजमगढ़) ग्रामवासी गोवर्धन पांडे (1875-1920), सांकृत्य-गोत्री सरयूपारीण ब्राह्मण, उनके चार पुत्रों और एक पुत्री में केदार सबसे बड़े।
1899-1905	:	रानीकीसराय में प्रारंभिक पढ़ाई। वाराणसी की पहली यात्रा (1902)। ग्यारह साल की आयु मे ब्याह (1904)।
1906-09	:	निजामाबाद के मिडल स्कूल में। उसी दौरान कलकत्ता तक 'पहली उड़ान' 1907 में और 'दूसरी उड़ान' 1909 में।
1910	:	वैराग्य का भूत : अयोध्या, हरिद्वार, गंगोत्री-जमुनोत्री और केदारनाथ-बद्रीनाथ की यात्रा। काशी आकर पढ़ाई आरंभ। प्रयाग की यात्रा।
1911-12	:	काशी में पढ़ाई।
1912-13	:	परसा मठ (बिहार) में साधु और महंत के उत्तराधिकारी। नया नाम : रामउदारदास।
1913	:	परसा से पलायन, दक्षिण भारत की ओर। तिरुमिशी का उत्तराधिकार। रामेश्वरम्, बेंगलूर, विजयनगर, पुणे-बंबई-नासिक, अहमदाबाद आदि की यात्रा।
1914	:	परसा वापस। अयोध्या में तीन मास।
1915	:	आर्य मुसाफिर विद्यालय, आगरा में। पहले लेख का प्रकाशन।
1916	:	लाहौर में विद्याध्ययन और आर्यसमाज के प्रचारक। लखनऊ में। काशी में पिता के अंतिम दर्शन। प्रतिज्ञा : "पचास की उम्र पूरी होने तक आजमगढ़ जिले की सीमा में कदम नहीं रखूंगा।"
1917-20	:	पंजाब से बंगाल तक घुमक्कड़ी। साथ ही लाहौर, चित्रकूट व काशी में अध्ययन। बौद्धधर्म की ओर झुकाव। लुम्बिनी, बोधगया आदि की यात्रा।
1920-21	:	दुबारा तिरुमिशी में। कुर्ग में चार मास।
1921	:	असहयोग आंदोलन के दौरान राजनीति में प्रवेश। छपरा में सत्याग्रह का आयोजन। बाढ़-पीड़ितों की सेवा।
1922	:	गिरफ्तार : बक्सर जेल में छह मास, "बाईसवीं सदी" और "कुरान-सार" का लेखन (संस्कृत में)। छूटने पर छपरा जिला-कांग्रेस के मंत्री। गया-कांग्रेस में सक्रिय योग।

1923-25	:	नेपाल में डेढ़ मास। लौटने पर गिरफ्तार : हजारीबाग जेल में करीब दो साल। खूब अध्ययन और लेखन किया। कानपुर-कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि।
1926	:	मेरठ में हरिनामदास (बाद के भदंत आनंद कौसल्यायन) से पहली बार भेंट। कश्मीर, लदाख, पश्चिमी तिब्बत और कनौर की यात्रा। छपरा में राजनीतिक कार्य। गोहाटी-कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि।
1927-28	:	श्रीलंका में उन्नीस मास अध्यापन-कार्य और बौद्ध साहित्य का गहन अध्ययन। आनंदजी भी श्रीलंका पहुंचे, बौद्धभिक्षु बने।
1929-30	:	भारत वापस। नेपाल में अज्ञातवास। प्रथम तिब्बत-यात्रा। ल्हासा में नौ माह। श्रीलंका वापस पहुंचे। बौद्धभिक्षु बने। नया नाम : राहुल सांकृत्यायन। "बुद्धचर्या" लिखी।
1930-31	:	सत्याग्रह के लिए भारत में। कराची-कांग्रेस में भाग लेने के बाद देश-यात्रा। श्रीलंका वापस।
1932-33	:	आनंदजी के साथ यूरोप-यात्रा। पहले श्रीलंका और फिर भारत वापस। दूसरी लदाख-यात्रा।
1934	:	बिहार के भूकंप-क्षेत्र में सेवाकार्य। दूसरी तिब्बत-यात्रा।
1935	:	जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत भूमि और ईरान की यात्रा। टाइफाइड से बाल-बाल जान बची।
1936	:	नेपाल में। तीसरी तिब्बत-यात्रा। साक्या में महत्वपूर्ण तालपोथियों की खोज।
1937	:	प्रयाग व पटना में। डा. जायसवाल का देहांत। ईरान और सोवियत भूमि में दूसरी बार। लोला से घनिष्टता।
1938	:	अफगानिस्तान में। भारत में। चौथी तिब्बत-यात्रा।
1939	:	किसानों-मजदूरों के लिए संघर्ष। अमवारी किसान सत्याग्रह, सिर पर लाठी लगी। छपरा और हजारीबाग जेलों में। लोला को पुत्र (ईगोर) होने की सूचना मिली। भिक्षु के वस्त्र त्यागे। जेल से छूटे। दूसरे महायुद्ध का आरंभ। बिहार की कम्यूनिस्ट पार्टी के संस्थापक-सदस्य।
1940-42	:	प्रांतीय किसान सम्मेलन (मोतीहारी) के सभापति। अखिल भारतीय किसान सम्मेलन और सभा (पलाशा) के सभापति चुने गये। गिरफ्तार हुए। हजारीबाग जेल और देवली कैम्प में 29 मास। 'विश्व की रूपरेखा, 'मानव-समाज', 'दर्शन-दिग्दर्शन' 'वैज्ञानिक भौतिकवाद', 'वोल्गा से गंगा' आदि पुस्तकों का लेखन।
1943	:	पचास की आयु पूरी होने पर 34 साल बाद अपने आजमगढ़ जिले की नागार्जुन के साथ यात्रा। उत्तराखंड की यात्रा। "नए भारत के नए नेता" का लेखन।

1944 : सोवियत-यात्रा की तैयारी। आंध्र प्रदेश व केरल की यात्रा। 'हिंदी काव्यधारा', 'जय यौधेय' आदि ग्रंथों का लेखन। रूस के लिए प्रस्थान। ईरान में।

1945-47 : ईरान में। रूस में पच्चीस मास: लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्राध्यापक, लोला व पुत्र ईगोर के साथ गृहस्थी। 'मध्य-एशिया के इतिहास' की सामग्री जुटाई। इंग्लैंड के रास्ते 17 अगस्त, 1947 को स्वदेश लौटे। देश की यात्रा। बंबई हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति।

1948 : साहित्य-यात्रा। सम्मेलन का कार्य। परिभाषा-निर्माण का कार्य। किन्नर देश की यात्रा।

1949 : "बौद्ध संस्कृति" का लेखन। कालिंपोङ् में परिभाषा-कार्य। हैदराबाद सम्मेलन में।

1950 : नयी गृहस्थी। नीड़ की खोज : पहले नैनीताल में, फिर मसूरी के अपने बंगले में स्थायी निवास। कमला से विवाह।

1951 : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की साहित्य योजना का कार्य। गढ़वाल-यात्रा।

1952 : मसूरी मजदूर संघ के मंत्री। 'गढ़वाल', 'मध्य-एशिया का इतिहास' (दो खंड) आदि का लेखन।

1953 : नेपाल-यात्रा। 'नेपाल,' 'स्तालिन,' 'लेनिन,' 'कार्ल मार्क्स,' 'बहुरंगी मधुपुरी' आदि का लेखन। बेटी जया का जन्म।

1954 : हिमाचल प्रदेश की यात्रा। सरहपाद के 'दोहाकोश' का संपादन व छायानुवाद।

1955 : पुत्र जेता का जन्म। मसूरी से विरक्ति। प्रयाग व वर्धा की यात्रा। 'संस्कृत काव्यधारा,' 'चंद्रसिंह गढवाली' आदि का लेखन।

1956 : प्रयाग, पटना, छपरा, कलकत्ता की यात्रा। तीस साल बाद परसा की यात्रा। 'मेरी जीवन-यात्रा' (4, 5), 'ऋग्वेदिक आर्य', 'अकबर,' 'जिनका मैं कृतज्ञ' आदि का लेखन। साल के अंत में नेपाल-यात्रा। हिंदी विश्वकोश के संपादक पद की अनिर्णित स्थिति के कारण मानसिक क्लेश।

1957 : आजमगढ़-यात्रा।

1958 : मसूरी का अपना बंगला बेचकर वहीं पर किराए के मकान में। साहित्य अकादमी का पुरस्कार। पन्दहा-कनैला की यात्रा। कश्मीर-यात्रा। चीन-यात्रा। वापस देहरादून में।

1959 : देहरादून में। 'चीन में क्या देखा' का लेखन। श्रीलंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय में दर्शन के महाचार्य। पत्नी और बच्चों का निवास दार्जिलिङ् में।

1960 : श्रीलंका में अध्यापन-कार्य। 'तिब्बती-हिंदी कोश', 'पालि काव्यधारा' आदि का लेखन। व्याधिग्रस्त।

1961 : दार्जिलिङ् यात्रा। फिर एक बार श्रीलंका में। अगस्त में पुन: दार्जिलिङ् वापस। उपचार। कलकत्ता में दिसंबर में स्मृतिलोप।

1962 : कलकत्ता के अस्पताल में इलाज। मास्को में सात महीने इलाज।

1963 : 23 मार्च को दार्जिलिङ् वापस लौटे। 14 अप्रैल को महाप्रयाण!

परिशिष्ट 2

राहुल वाङ्मय
हिंदी

		पुस्तक	लेखन-काल	अनुवाद
		उपन्यास, कहानी		
		मौलिक		
1.	(1)	बाईसवीं सदी	1923	गुजराती, मराठी, मलयालम, बर्मी, उर्दू,
2.	(2)	जीने के लिए	1939	बंगाली
3.	(3)	सिंह सेनापति	1942	मराठी, गुजराती, बर्मी, तेलुगु, बंगाली, उर्दू
4.	(4)	जय यौधेय	1944	मराठी, गुजराती, बंगाली, तेलुगु
5.	(5)	मधुर स्वप्न	1949-50	गुजराती, बंगाली
6.	(6)	राजस्थानी रनिवास	1952	तमिल
7.	(7)	विस्मृत यात्री	1953	बंगाली
8.	(8)	दिवोदास	1960	बंगाली
9.	(9)	सतमी के बच्चे (कहानी)	1935	बंगाली
10.	(10)	वोल्गा से गंगा (कहानी)	1942	मराठी, गुजराती, मलयालम, तेलुगु, उड़िया, कन्नड, तमिल, उर्दू, बर्मी, अंग्रेजी, रूसी, नेपाली, बंगाली, सिंधी, असमिया
11.	(11)	कनैला की कथा (कहानी)	1955-56	बंगाली
12.	(12)	बहुरंगी मधुपुरी (कहानी)	1953	
		अनुवाद		
13.	(1)	शैतान की आंख	1923	
14.	(2)	विस्मृति के गर्भ में	1923	गुजराती, तेलुगु, रूसी, बंगाली
15.	(3)	जादू का मुल्क	1923	गुजराती, मलयालम
16.	(4)	सोने की ढाल	1923	
17.	(5)	दाखुंदा	1947	मलयालम
18.	(6)	जो दास थे	1947	
19.	(7)	अनाथ	1948	
20.	(8)	अदीना	1951	
21.	(9)	सूदखोर की मौत	1951	
22.	(10)	शादी	1952	

नाटक (भोजपुरी) : दो जिल्दों में

23. (1) जपनिया राछछ 1942
24. (2) देश-रच्छक 1942
25. (3) जरमनवां के हार निहिचय 1942 ...(पांच नाटक)
26. (4) ई हमार लड़ाई 1942
27. (5) दुनमुन नेता 1942
28. (6) नइकी दुनिया 1942
29. (7) जोंक 1942 ...(तीन नाटक)
30. (8) मेहरारुन की दुरदसा 1942

आत्मकथा, जीवनियां

31. (1) मेरी जीवन-यात्रा, भाग-1 1940
32. (2) मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2 1944
33. (3) मेरी जीवन-यात्रा, भाग-3 1951
(रूस में पच्चीस मास)
34. (4) मेरी जीवन-यात्रा, भाग-4 1956
35. (5) मेरी जीवन-यात्रा, भाग-5 1956
36. (6) नए भारत के नए नेता 1942-43
37. (7) बचपन की स्मृतियां 1953
38. (8) अतीत से वर्तमान 1953
39. (9) स्तालिन 1953
40. (10) लेनिन 1953
41. (11) कार्ल मार्क्स 1953
42. (12) माओ त्से तुंग 1953
43. (13) सरदार पृथ्वीसिंह 1944 मराठी, गुजराती
44. (14) घुमक्कड़ स्वामी 1956
45. (15) मेरे असहयोग के साथी 1956
46. (16) जिनका मैं कृतज्ञ 1956
47. (17) चंद्रसिंह गढ़वाली 1955
48. (18) सिंहल घुमक्कड़ जयवर्धन 1960
49. (19) सिंहल के वीर पुरुष 1960
50. (20) कप्तान लाल 1961

हिमालय-दर्शन, यात्रा-विवरण

51. (1) दोर्जेलिङ्-परिचय 1949-50
52. (2) कुमाऊं 1950
53. (3) किन्नर देश में 1948 बंगाली
54. (4) गढ़वाल 1950-52

55.	(5)	नेपाल (अप्रकाशित)	1952-53	
56.	(6)	जौनसार-देहरादून	1953	
57.	(7)	हिमाचल प्रदेश (अप्रकाशित)	1954	
58.	(8)	मेरी लदाख-यात्रा	1926	
59.	(9)	लंका	1927-28	
60.	(10)	तिब्बत में सवा वर्ष (प्रथम यात्रा)	1931	बंगाली
61.	(11)	मेरी यूरोप-यात्रा	1932	
62.	(12)	मेरी तिब्बत-यात्रा (तीसरी यात्रा)	1934	
63.	(13)	जापान	1935	
64.	(14)	ईरान	1935-36	
65.	(15)	रूस में पच्चीस मास (मेरी जीवन-यात्रा: 3)	1951	
66.	(16)	यात्रा के पन्ने	1951	
67.	(17)	एशिया के दुर्गम भूखंडों में	1956	
68.	(18)	चीन में कम्यून	1959	
69.	(19)	चीन में क्या देखा ?	1959	
70.	(20)	सोवियत भूमि	1938	
71.	(21)	सोवियत मध्य-एशिया	1947	
72.	(22)	घुमक्कड़-शास्त्र	1949	

राजनीति, साम्यवाद

73.	(1)	साम्यवाद ही क्यों?	1934	मराठी, तमिल, बर्मी, उर्दू
74.	(2)	दिमागी गुलामी	1937	
75.	(3)	क्या करें ?	1937	
76.	(4)	तुम्हारी क्षय	1939	
77.	(5)	आज की समस्याएं	1944	
78.	(6)	आज की राजनीति	1949	
79.	(7)	भागो नहीं दुनिया को बदलो	1944	गुजराती
80.	(8)	कम्यूनिस्ट क्या चाहते हैं ? (पंफ्लेट)	1954	
81.	(9)	रामराज्य और मार्क्सवाद	1957	

विज्ञान, दर्शन

82.	(1)	विश्व की रूपरेखा	1941	मलयालम
83.	(2)	मानव-समाज	1941	बंगाली, गुजराती, मलयालम
84.	(3)	मानव की कहानी (जया-जेता को पत्र)	1959-61	

85. (4) दर्शन-दिग्दर्शन 1941-42 बंगाली, मलयालम, बर्मी
86. (5) वैज्ञानिक भौतिकवाद 1942 बंगाली, मलयालम

पुरातत्व

87. (1) पुरातत्व निबंधावली प्रकाशन : 1936
88. (2) आजमगढ़ की पुराकथा 1957
(अप्रकाशित)

बौद्ध धर्म व संस्कृति तथा इस्लाम धर्म

89. (1) बुद्धचर्या 1930
90. (2) धम्मपद (पालि-संस्कृत-हिंदी) 1933
91. (3) मज्झिम निकाय (अनुवाद) 1933
92. (4) विनय पिटक (अनुवाद) 1934
93. (5) दीर्घ निकाय (अनुवाद) 1935
94. (6) बौद्ध संस्कृति 1949
95. (7) बौद्ध दर्शन 1942
96. (8) महामानव बुद्ध 1956
97. (9) तिब्बत में बौद्ध धर्म 1933
98. (10) इस्लाम धर्म की रूपरेखा 1923

इतिहास

99. (1) मध्य-एसिया का इतिहास, भाग-1 1951-52 अंग्रेजी
100. (2) मध्य-एसिया का इतिहास, भाग-2 1951-52
101. (3) भारत में अंग्रेजी राज के संस्थापक (अनुवाद) 1955
102. (4) ऋग्वेदिक आर्य 1956
103. (5) अकबर 1956

साहित्य

104. (1) साहित्य निबंधावलि प्रकाशन : 1949
105. (2) राहुल निबंधावली (साहित्य) प्रकाशन : 1970
106. (3) हिन्दी काव्यधारा (अपभ्रंश काव्यधारा) 1944
107. (4) आदि-हिंदी की कहानियां और गीतें 1950
108. (5) दक्खिनी हिंदी काव्यधारा 1951

109. (6) सरहपाद : दोहा-कोश
(हिंदी छायानुवाद सहित) 1954
110. (7) हिंदी साहित्य का बृहद
इतिहास, भाग-16 (संपादन) 1957
111. (8) पालि साहित्य का इतिहास 1961
112. (9) तुलसी रामायण (संक्षेप) 1957

कोश

113. (1) शासन शब्दकोश 1948
114. (2) राष्ट्रभाषा कोश 1951
115. (3) तिब्बती-हिंदी कोश 1960
भाग-1 (प्रकाशित) 1972
भाग-2 (अप्रकाशित)

तिब्बती शिक्षा

116. (1) तिब्बती बालशिक्षा 1933
117. (2) पाठ्यवलि, भाग - 1, 2, 3 1933
118. (3) तिब्बती व्याकरण 1933

संस्कृत, पालि, प्राकृत

(संकलन, अनुवाद, संपादन)

119. (1) संस्कृत पाठमाला 1928 (संस्कृत-सिंहल)
(पांच भाग) 1955 (संस्कृत-हिंदी)
120. (2) संस्कृत काव्यधारा 1955-56
121. (3) पालि काव्यधारा (अप्रकाशित) 1960
122. (4) अभिधर्मकोश (वसुबंधु) 1928
टीका (शांतरक्षित)
123. (5) वादन्याय (धर्मकीर्ति) 1936
124. (6) प्रमाणवार्तिकम् (धर्मकीर्ति) 1938
125. (7) अध्यर्द्धशतक (मातृचेट) 1937
126. (8) विग्रहव्यावर्त्तनी (नागार्जुन)
127. (9) वार्तिकालंकार: (प्रज्ञाकरगुप्त) 1953
128. (10) प्रमाणवार्तिक भाष्य
129. (11) प्रमाणवार्तिक वृत्ति:
130. (12) प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका
131. (13) हेतुबिंदु (धर्मकीर्ति) 1949
132. (14) विज्ञप्तिमातृता सिद्धि: 1934
133. (15) विनयसूत्र (गुणप्रभ)
134. (16) संबंध-परीक्षा (धर्मकीर्ति)

135. (17) निदान-परीक्षा

136. (18) सूत्र-कृतांग

137. (19) महापरिनिर्वाण सूत्र

अंग्रेजी

138. Selected Essays of Rahul Sankrityayan

(प्रकाशन : 1984)

अनुक्रमणिका

तरंग प्रिंटर्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली द्वारा मुद्रित